

सहजानंद शास्त्रमाला

सुख यहाँ

भाग 2

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

सुख यहाँ (पूर्वार्द्ध)

(विपत्ति में हमारा सच्चा मित्र)

प्रवक्ता

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री न्यायतीर्थ
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
'सहजानन्द महाराज'

प्रकाशक

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, राजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)
पिन-२५०००९

पंचम संस्करण
(१५०० प्रतियाँ)

1996

आगत मूल्य ६०.००

प्रकाशकीय

प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दुःख से छूटना चाहता है। उसका प्रत्येक प्रयत्न सुख प्राप्ति के लिए ही होता है परन्तु दुःख के सिवाय उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता। संसारी प्राणियों पर इतना विकट भ्रम का पहाड़ लदा है कि इसे चैन नहीं है। कर्तृत्व का भ्रम, स्वामित्व का भ्रम व आत्मीय भ्रम, को समाप्त करके हम अपने ज्ञानबल को दृढ़ बनाएँ तो सुख प्राप्त कर सकते हैं।

हमारी यह धारणा भ्रम मात्र है कि हमें अमुक पदार्थ सुखी करता है और अमुक दुखी करता है। सब पदार्थ अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से परिणमते हैं, एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ नहीं कर सकता। इस जीव के अन्दर ही विकल्पों की चक्की चल रही है। उस चक्की में यह आत्म भगवान् पिसता जा रहा है, कोई दूसरा इसे दुखी करने वाला नहीं है।

जो संयोग में सुख मानते हैं वे वियोग में नियम से दुखी होंगे। अतः शरीर या अन्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट कल्पना को त्यागकर, तथा उनसे मोह छोड़कर ही हम सुखी-हो सकते हैं।

पूज्य गुरुवर्य श्री सहजानन्द वर्णी जी महाराज ने “सहजानन्द गीता” की संस्कृत में ७ अध्यायों में अद्वितीय रचना की है। ‘सुख, यहाँ (पूर्वाद्धी)’ में इस गीता के प्रथम ३ अधिकारों में वर्णित श्लोकों पर पूज्य महाराज श्री द्वारा दिये गये विस्तृत प्रवचन हैं। जिस समय हम दुःख से व्याकुल होते हैं, पाप कर्म का उदय होता है तो ये प्रवचन अमृत का कार्य करते हैं। वस्तु स्वरूप का ज्ञान होने पर घोर विपत्ति में भी हम आकुलित नहीं होते हुए संकटों को सहन कर सकते हैं।

सहजानन्द गीता के सभी श्लोकों का अन्तिम चरण है—

‘स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्।’ इस पुनरावर्त्य चरण में कहा गया है कि मैं अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ। अर्थात् सुख कहीं बाह्य पदार्थों में न होकर स्व में ही विद्यमान है।

पूज्य अध्यात्मयोगी श्री मनोहर जी वर्णी ‘सहजानन्द’ महाराज जी ने अत्यंत सरल एवं सुबोध शैली में रोचक दृष्टान्तों द्वारा प्रवचन कर दुःखों से संतप्त मानवों को सुखी होने का उपाय बताया है।

वास्तव में प्रस्तुत ग्रंथ विपत्ति में हमारा सच्चा मित्र है। ‘सुख यहाँ’ के प्रवचन कल्पवृक्ष व चिन्तामणि रत्न के समान हैं जिनके अभ्यास व चिन्तन से सांसारिक सुखों से परे पारलौकिक शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। ये प्रवचन हमारे अज्ञानांधकार को दूर कर अध्यात्म साधना का मार्ग प्रशस्त करेंगे।

ग्रन्थ की लोकप्रियता एवं बढ़ती हुई मांग को ध्यान में रखकर इस ग्रंथ का पंचम संस्करण आपके हाथों में देते हुए अत्यंत हर्ष हो रहा है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ पूज्य महाराज श्री के प्रवचनों के प्रकाशन में सतत प्रयत्नशील है। आशा है पाठकगण लाभ उठाकर आनन्दरस का पान करेंगे।

मंत्री,

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उ.प्र.)

पिन-२५०००९

आई.एस.टी.-चित्रा कम्प्यूटर्स, सामने कोतवाली, मेरठ। फोन : २५०९६, ७७७३४

आत्मकीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
“श्रीमत्सहजानन्द” महाराज द्वारा विरचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आत्म राम ।। टेक ।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान । जो मैं हूँ वह हैं भगवान ।।

अन्तर यही ऊपरी जान । वे विराग यहाँ रागबितान ।। 9 ।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान । अमितशक्तिसुखज्ञाननिधान ।।

किन्तु आश्वश खोया ज्ञान । बना भिखारी निपट अजान ।। 12 ।।

सुख-दुख दाता कोइ न आन । मोह राग रुष दुख की खान ।।

निजको निज परको पर जान । फिर दुखका नहीं लेश निदान ।। 13 ।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम । विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।।

राग त्यागि पहुँचूँ निजधाम । आकुलता का फिर क्या काम ।। 18 ।।

होता स्वयं जगत परिणाम । मैं जगका करता क्या काम ।।

दूर हटो परकृत परिणाम । ‘सहजानन्द’ रहूँ अभिराम ।। 15 ।।

आत्मभक्ति

मेरे शाश्वत शरण, सत्य तारणतरण ब्रह्म प्यारे ।

तेरी भक्ति में क्षण जायं सारे ।। टेक ।।

ज्ञान से ज्ञान में ज्ञान ही हो, कल्पनाओं का इकदम विलय हो ।

भ्रान्ति का नाश हो, शान्ति का वास हो, ब्रह्म प्यारे ।। 9 ।।

सर्व गतियों में रह गति से न्यारे, सर्व भावों में रह उनसे न्यारे ।

सर्वगत आत्मगत, रत न नाहीं विरत, ब्रह्म प्यारे ।। 12 ।।

सिद्धि जिनने भी अबतक है पाई, तेरा आश्रय हो उसमें सहाई ।

मेरे संकटहरण, ज्ञान दर्शन चरण, ब्रह्म प्यारे ।। 13 ।।

देह कर्मादि सब जगसे न्यारे, गुण व पर्यय के भेदों से पारे ।

नित्य अन्तःअचल, गुप्त ज्ञायक अमल, ब्रह्म प्यारे ।। 18 ।।

आपका आप ही प्रेय तू है, सर्व श्रेयों में नित श्रेय तू है ।

सहजानन्दी प्रभो, अन्तर्यामी विभो, ब्रह्म प्यारे ।। 15 ।।

॥ ॐ ॥

सुख यहाँ द्वितीय भाग

(सहजानन्द गीता प्रवचन)

(अध्यात्म सूत्र द्वितीय अध्याय पर प्रवचन)

रचयिता व प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

॥ अध्याय २ ॥

यः संयोगजया दृष्ट्या भाति संयोगजः क्लिप्त ।

तौ नाहं मे न तौ हित्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१॥

अर्थ— संयोग से होने वाली दृष्टि के द्वारा जो संयोगज पदार्थ प्रतिभासित होता है निश्चय से वह दोनों अर्थात् संयोगज दृष्टि व संयोगज पदार्थ मैं नहीं हूँ । मेरे वे दोनों नहीं हैं, इसलिये उनसे लक्ष्य हटाने रूप उपाय से उन दोनों को त्यागकर अपने में अपने लिये स्वयम् सुखी होऊँ ।

इस लोक में इस संयोगजन्य दृष्टि के द्वारा जो जो कुछ संयोगजन्य पदार्थ मालूम हो रहे हैं सो न तो यह संयोगजन्य मैं हूँ और न संयोगजन्य पदार्थ मैं हूँ । मैं देख रहा हूँ किन को देख रहा हूँ ? इन संयोगजन्य पदार्थों अर्थात् परमाणुओं के संयोग से बने हुए इन ढांचों को देख रहा हूँ । कमण्डलु है यह भी संयोगजन्य पदार्थ है, अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखने वाला पदार्थ नहीं है क्योंकि यदि यह अपनी स्वतन्त्र सत्ता वाला हो तो यह मिट नहीं सकता । जो सत् है वह त्रिकाल है वह मिटा नहीं करता है । दरी है, चौकी है, शरीर है ये सारे के सारे संयोगजन्य पदार्थ हैं स्वयं सारभूत नहीं हैं इसीलिए ये माया रूप हैं, परमार्थ नहीं हैं । जो कुछ भी देख रहे हैं वे कुछ परमार्थ नहीं हैं, ये सब संयोगजन्य हैं, माया रूप हैं मिट जाने वाली चीजें हैं । वास्तविक रूप तो कुछ और हो परन्तु रूप कुछ और बन गया हो, तो वे सब बनावटें हैं, माया है, इन्द्रजाल हैं । यदि कहा जाय कि यह ईश्वर की लीला है तो विचार करने पर निर्णय पावोगे कि खाली जीव या खाली ईश्वर से यह लीला नहीं बनती, यह कर्म उपाधि से बनती है, यह प्रकृति के निमित्त से बनती है, प्रकृति की चीज है । किसी भी तरफ देख लो ये सब मायामय वस्तु हैं, संयोगजन्य पदार्थ हैं, सहजरूप नहीं हैं । तो मोह में मैं क्या बन रहा हूँ, यही सब मैं हूँ मैं और कुछ नहीं हूँ ऐसा अज्ञानी बन रहा हूँ, अरे भैया, ये असारभूत मायामय पदार्थ माया की वस्तुयें हैं प्राकृतिक

हैं याने प्रकृति के विकार हैं । किन्हीं भी शब्दों में कहें जो कुछ माया दिख रही है इसको देखने वाला कौन है ? किसके द्वारा हम देख रहे हैं, इस एक के द्वारा नहीं, जिस दृष्टि के द्वारा यह दिखता है वह दृष्टि ही संयोग जन्य होती है, जिसकी ओर देख रहे हैं वह भी मायामय वस्तु है, केवल के द्वारा होने वाली बात नहीं है । यही दृष्टि भी केवल पुद्गल नहीं है केवल जीव भी नहीं है जो देखने का काम करती है । दिखने वाले तो ये पुद्गल हैं, वे कुछ नहीं देखते हैं । पुद्गल देखे तो मुर्दा शरीर भी देखे, जीव देखे तो ऐसी संयोग दृष्टि सिद्ध की भी हो जाय, ऐसा देखना केवल न आत्मा का काम है, न केवल पुद्गलों का काम है और दोनों का मिल करके भी काम नहीं, और काम होता रहता है । देखो तो यह दृष्टि भी गजब की माया है । मायामय चीजें हैं । मायामय ही दिखाई पड़ती हैं । तो न मायामय चीजें मेरी हैं और न मायामय दृष्टि मेरी है और न ये दोनों मेरे हैं । इस कारण उन दोनों को समाप्त करके त्याग करके अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ ।

भैया ! त्याग कहते किसे हैं ? यथार्थ ज्ञान कर लेना इसी के मायने त्याग है जैसे विरोध में मित्रता का त्याग है । इसी तरह यह धन वैभव बना हुआ है वह भी भिन्न पदार्थ है, उसका लेना देना आत्मा में नहीं है ।

यदि यह कल्पना बनी कि मेरे पास धन है तो मैं धनी बन गया और यदि यह मैंने मान लिया कि मेरे पास धन नहीं है तो मैं गरीब बन गया । एक कल्पना ही तो है । यह अपने को जैसा माने तैसा हो जायगा । जो जो कुछ दिखते हैं वे संयोगजन्य पदार्थ हैं । यथार्थतया परमार्थ में कुछ भी तत्व नहीं दिखता । जिस जीव में प्रीति होती है मोह होता है वह परमार्थ से अत्यन्त भिन्न है, किसी पदार्थ में प्रीति करें तो वह कुछ अपना नहीं हो जाता । जैसा देखा होगा कि बहुत से मनुष्य हैं जिनसे बोलने का भी प्रसंग नहीं होता और आपको उनके प्रति मोह और प्रीति उत्पन्न हो जाती है । तो मोह और प्रीति का कारण तो तुम्हीं हो याने तुम्हारी कल्पना है । केवल अपने अन्दर मोह और प्रीति की कल्पनायें भर ली हैं । अब तुम्हीं दुःखी रहो, वह तो जो है सो है । सो जो खोटे भाव करेगा वह स्वयं मिट जायगा । इस नश्वर मायामय वस्तुओं का संग्रह करने के उद्देश्य से अपने आपकी रुचि छोड़कर छल, धोखा आदि करे तो यह अपने आप पर बहुत बड़ा अत्याचार है । और यदि अपने ईमान और सच्चाई पर दृढ़ हों और फिर अपने बल से, धर्म से स्वलित न होकर शान्त रहें तो आत्मा में एक आनन्द का चमत्कारसा उत्पन्न होगा । मन्दिर में भगवान की मूर्ति के सामने ध्यान करते हैं तो किस बात से करते हैं इस प्रभु की मूर्ति की मुद्रा ऐसी है कि मानो वह कह रही है कि तू समस्त जंजालों को छोड़ । हे आत्मन् ! कुटुम्ब परिवार इत्यादि को त्यागकर मुझ जैसा विश्राम पा । तेरा किसी से प्रयोजन नहीं है । तू अपना प्रयोजन किसी से न रख तू अपने आप में ध्यान करके शांत हो जा । और अपने आप के स्वरूप में आनन्दमग्न हो जा । केवल तू शुद्ध अपने आप रहेगा और आनन्दमग्न हो जायगा ।” हे भगवान आप तो शुद्ध हो गये, अपने आप में आनन्दमय हो गये । धन्य है तुम्हें भगवन् ! यही आपकी महत्ता है ।

सो भैया, किसी से तेरा प्रयोजन न रहे और स्वयं में विचार करके आनन्दमग्न हो तो तेरी स्थिति

सुख यहाँ द्वितीय भाग

उस भगवान सरीखी हो सकती है । तू मन्दिर में मूर्ति को देखकर इस प्रकार से ध्यान कर कि उस मूर्ति के देखने से तुझे शांति की शिक्षा मिले, त्याग की शिक्षा मिले । यही वास्तविक मूर्ति की पूजा है और यदि मूर्ति को खूब सजायें, ऊंचा आसन बनायें, सिंहासन बनायें और उस मूर्ति को बैठायें और यदि उस मूर्ति से शिक्षा न हो सके तो वास्तविक पूजा नहीं कही जायेगी । जिस मूर्ति से तुम्हें त्याग की शिक्षा प्राप्त हो तथा शांति एवं धैर्य की शिक्षा प्राप्त हो वही तो प्रभु की मूर्ति है ।

हे आत्मन् ! त्याग ही सार है । तू त्याग को ही अपनाकर यदि ध्यान को बनाता है तो आत्मा को क्लेश नहीं है, और यदि त्याग से विमुख होकर इस प्रकार के दूषित वातावरण में पड़ें तो आजीवन क्लेश रहेंगे । मूर्ति जो कि मन्दिर के अन्दर होती है उसकी मुद्रा त्यागमय है, उसके दर्शन से त्याग की शिक्षा मिलती है ।

हे जगत के प्राणियों ! यदि परिग्रह का त्याग नहीं, स्त्री पुरुषों से वैराग्य नहीं और ऊटपटांग बैठने का ही काम रहा तो आजीवन क्लेश होंगे । अरे अपने में विराजमान साक्षात् परमात्मतत्त्व को देखो और अपने समस्त माया, मोह को त्यागो । यदि यह भाव उत्पन्न होता है तो तुझे सुख है । तेरे सुखी बनने का अमोघ उपाय है । जैसी प्रभु की शांत मूर्ति है वैसा शांत बनने की कोशिश करो । उस मूर्ति के दर्शन से जो शिक्षा मिलेगी वह तेरे लिये कल्याणकारी है । देखो जिनमें फंसे हुए हो वे सब मायामय पदार्थ हैं, उन समस्त मायावी पदार्थों से प्रीति मत करो, सावधान ! ये सब खतरनाक हैं । तू परसे प्रीति मत कर । यदि पर की प्रीति में फंस गया तो तुझे क्लेश है । प्रीति करते समय तो वह सब अच्छा लगता है । स्त्री बड़ी उत्तम है, बड़ी गुणवान है, बड़ी रूपवान है, पुत्र बड़े अच्छे हैं, मित्र बड़े अच्छे हैं, परन्तु भैया ! ये तेरे नहीं हो सकते हैं, ये सब तेरे लिये जंजाल हैं । उनसे तेरा हित कुछ नहीं, अहित ही रहेगा । यह गृहस्थी बसाई गयी है । गृहस्थ धर्म बताया गया है, पर स्त्री पुरुषों से आनन्द प्राप्त करना ही नहीं बताया गया है । इसलिए यह गृहस्थ धर्म नहीं है । हे भाई ! तेरा काम तो यह है अपने सारे आरम्भ परिग्रह का त्याग करके अपने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, आकिञ्चन्य में आ करके आत्मयोगी बन मोक्ष में पधारो । किन्तु जो कोई कायर हैं, कमजोर हैं, कुछ करते नहीं हैं तो उसे बताया है कि इस प्रकार की गृहस्थचर्या को धारण करके तुम धर्म के कामों में लगो । यदि धर्म के कामों में लगोगे तो तुम्हारा कल्याण है । यह गृहस्थी इसलिए बसाई है कि तुमसे महाव्रत नहीं पल सकता तो एक स्त्री व छोटी गृहस्थी में संतोष करके बाकी सब पापों से दूर रहो ।

हे आत्मन् ! आकुलतायें बनाये रखना और झंझटों में पड़ा रहना यह गृहस्थी का धर्म नहीं है । इसलिए तू इन समस्त झंझटों एवं आकुलताओं से विलग होकर अपने आप में रमो । जब अपने आप में रमोगे तभी गुजारा होगा अन्यथा नहीं, जो बच्चा अच्छी तरह से नहीं चल सकता है उसके लिए माता अंगुली का सहारा देती है । इसी प्रकार जो सकल संन्यास नहीं कर सकते हैं । उन्हें गृहस्थ धर्म का सहारा दिया गया है, भाव तो वहां भी शेष समस्त पापों से दूर होने का है । ज्ञानी के प्रतीति है कि यह मैं नहीं हूँ, यह मेरा नहीं है इसलिए मैं इन सबको त्याग देता हूँ । त्यागना क्या है, यह मान लो

कि ये भिन्न हैं, मेरा इनसे कुछ सम्बन्ध नहीं है । मैं तो एक ज्ञानानन्द भावात्मक वस्तु हूँ । स्वयं आनन्दस्वरूप हूँ, परिपूर्ण हूँ, अधूरा नहीं हूँ । मुझमें कमी नहीं है हमें बनना नहीं है हम बने बनाये हैं । मेरे में सब वैभव भरा है, सब तैयार है । केवल ऊपर की ढकी हुई अज्ञान की चादर को उठाने की जरूरत है । जैसे भोजन भीतर सब तैयार है, किन्तु उस थाली पर छन्ना ढका है तो सिर्फ छन्ना उठाने की जरूरत है । आत्मा में ज्ञान, आनन्द, दर्शन, चारित्र इत्यादि समस्त चेतन गुण भरे पड़े हैं । केवल जानने भर की जरूरत है । अज्ञान का छन्ना पड़ा हुआ है उसे हटा लो । पूरी सावधानी करके अपने जौहर को देखो और उसका आनन्द लूटो इन त्यागे जाने योग्य पदार्थों में पड़ने से अपना कभी कुछ पूरा नहीं पड़ेगा, अतः यह साहस करो कि मैं इन संयोगजन्य पदार्थों का त्याग करूँ और अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ ।

अब यहां यह जिज्ञासा होती है कि जब मैं यह दृष्टि नहीं हूँ तो क्या हूँ या कुछ भी नहीं हूँ और हूँ तो कहां देखूँ ? इसके समाधान में कहा जाता है—

नाहमन्यत्र नान्यस्य न नष्टो न वहिर्गतः ।

किन्तु ज्ञायकभावोऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२-२॥

अर्थ— मैं अन्य जगह नहीं हूँ, अन्य का नहीं हूँ न नष्ट हुआ हूँ न बाहर गया हूँ किन्तु ज्ञायक भाव स्वरूप मैं यह मैं अपने में अपने लिये स्वयम् सुखी होऊँ ।

यह मैं आत्मा अन्य किसी जगह नहीं हूँ, मुझमें ही हूँ । यह मैं आत्मा किसी अन्य का नहीं हूँ, मैं मेरा ही हूँ । यह मैं आत्मा कभी नष्ट नहीं हुआ और न नष्ट हूँगा, मैं ध्रुव हूँ । यह मैं आत्मा अपने से बाहर कभी नहीं गया जो मुझको अपने को ढूँढने की हैरानी करनी पड़े, क्योंकि यह ज्ञान स्वरूप आत्मा यहीं का यहीं विराजमान है । यह तो ज्ञान के चमत्कार के कारण त्रैलोक्याधिपति है । तीन लोक के अधिपति बनने का उपाय अकिंचन स्वरूप आत्मा का दर्शन है । एक जगह गुणभद्र स्वामीने कहा है कि—‘अकिंचिनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः । योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ।’

गुरुजी अपने शिष्यों से कहते हैं कि आज मैं तुम्हें परमात्मा बनने का रहस्य बतलाऊँ तो शिष्यों ने कहा कि हां हां गुरुजी बतलाओ । गुरुजी ने कहा कि देखो मैं अकिंचन हूँ, मेरा कहीं कुछ नहीं है, मेरा मैं ही हूँ, मेरे से बाहर मेरा न तो गुण है, न पर्याय है, न असर है, न लगाव है और कुछ भी नहीं है, ऐसा मानकर टन्नाकर बैठ जाओ, ऐसा अपने मन में जिद्द बनाकर ठहर जाओ, तो तू तीन लोक का अधिपति हो जायगा । देखो भैया, यह परम औषधिमय उपदेश है । सर्व क्लेश मिटने की सबसे उत्कृष्ट परम औषधि है तो है अकिंचन की भावना । जैसे कोई रोग हो जाय तो कहीं उस डाक्टर से इलाज करवाया कहीं इस डाक्टर से इलाज करवाया परन्तु किसी से भी आराम न हुआ तो जिसको वह ज्यादा समझदार समझता है उससे आखिरी में इलाज करवाने के लिए कहता है और उसी से इलाज करवायेगा । अरे अब आखिरी एक इलाज तो करवालो । इसी तरह संसार के दुःख दूर करने का इलाज

बहुत तरह का करवाया । धन वैभव हो जाये, कुटुम्ब परिवार हो जाए, लड़कें बच्चे हो जायें इस भाव से बहुत यत्न किए, इलाज किए, किन्तु इन उपायों को करके भी कष्ट से दूर नहीं हुए । कितने ही विपरीत उपाय कर डालो पर दुःख दूर नहीं होंगे । बस दुःख दूर करने का तो इलाज यह है कि अपने को अकिंचन मानो, बस संसार की सारी चिन्तायें सारे क्लेश समाप्त हो जावेंगे । अपने को मानो कि मैं अकिंचन हूँ, मेरा तो मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं है । यही सबसे अच्छा इलाज है । सों भैया अपने को अकिंचन मानकर अपने आप में विश्राम तो कर लो । यदि अपने को अकिंचन मान लिया और अपने आप में ही विश्राम पाया तो त्रिलोक के अधिपति हो जाओगे । मैं यहाँ अपने आप में हूँ, अपने ही स्वरूप को लिए हूँ, मेरे में अनन्त आनन्द भरा हुआ है, मैं कैसा विलक्षण, सबसे निराला, ज्ञानानन्दमय, परमपवित्र पदार्थ हूँ, कहीं-बाहर नहीं हूँ, अन्यत्र नहीं गया हुआ हूँ । भैया, अपने आपको न निरखकर यह जीव शून्य बन जाता है, अपना पता ही नहीं रखता है, बाह्य में दृष्टि रखता है, अपने को सकिंचन भाव में लगाता है । इसी से उसे क्लेश हुआ करते हैं । हम अपने आपको समझें कि मैं अकिंचन हूँ, मेरे से बाहर मेरा कुछ नहीं है और जो कुछ मुझमें है वह बाहर से नहीं आता है । मेरे में तो मेरा स्वरूप चतुष्टय विद्यमान है । यह मैं ज्योतिस्वरूप पदार्थ हूँ । देखो लोक-व्यवहार में भी उस मनुष्य की इज्जत बढ़ती है जो मनुष्य यह कहता है कि मैं कुछ नहीं हूँ, जीवन भर बड़े बड़े दान के काम भी कर लिए, देश और समाज की सेवाओं का भी काम कर लिया, उनकी प्रतिष्ठा भी बढ़ गयी, उनकी शोभा भी बढ़ गयी, यश भी चारों ओर छा गया, उनका सम्मान भी होता है पर यह तब तक है जब तक वह अपने को 'ना कुछ' कहता है । उसने परमार्थ से भी देख लिया कि मैं ओरों के लिए कोई चीज नहीं हूँ, मेरा जगत् में कुछ नहीं है । मैं केवल अपना स्वरूप मात्र हूँ यदि मैं अपने को इस तरह से समझूँ तो अन्तर में पारमार्थिक इज्जत हो जायेगी । आनन्द चाहते हो तो आनन्द का उपाय इस अमूर्ततत्त्व को ही उपयोग में लेना है । मैं अकिंचन हूँ । मेरा कुछ नहीं है, अन्यत्र ।

एक साधु था । उसकी लंगोटी को चूहे काट जाया करते थे, अब साधु को यह बहुत बड़ी हैरानी हुई । साधु ने चूहे से रक्षा के लिए एक बिल्ली पाली । बिल्ली दूध पीती थी अब उस बिल्ली को दूध पिलाने के लिए एक गाय पाली । उस गाय को चराने वाला कोई नौकर या नौकरानी होना चाहिये सो गाय को चराने के लिए एक नौकरानी रखी । कुछ समय बाद उस दासी के कुसंग होने से लड़का पैदा हुआ । उस साधु ने देखा कि पहले बिल्ली थी, फिर गाय हुई, फिर गाय का बच्चा हुआ, फिर नौकरानी हुई, फिर लड़का हुआ, इस तरह से मेरा घर तो भर गया । अब उन्हें किसी गांव जाने की जरूरत पड़ी क्योंकि घर तो भर गया था उसका, गुजारा सबका करना था । रास्ते में एक नदी मिली, उस नदी से सब निकलने लगे । अचानक ही नदी में एक छोटी सी बाढ़ आयी जिससे सबके पैर उखड़ गये, सब बहने लगे । दासी ने झट साधु को पकड़ा, क्योंकि रक्षा करने वाले तो वही थे । इस तरह से सब उस साधु की शरण में गये । बिल्ली भी गई, गाय, गाय का बच्चा तथा लड़का इत्यादि भी उस साधु की शरण में गये । अब तो साधु सोचता है कि अरे ये सारी बला तो केवल लंगोट के कारण आई है । लंगोट

के ही कारण गाय, गाय का बच्चा, बिल्ली, दासी, दासी का लड़का इत्यादि से विडम्बना हो गई है। अब उस साधु ने लंगोट को झटके से निकालकर फेंक दिया और सत्य विचारने लगा कि ये जीव मेरे कुछ नहीं हैं। इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, उसे ज्ञान हो गया। देखो भैया, उस साधु ने पर से सम्बन्ध स्थापित कर लिया था तो उसे अब क्या-क्या तकलीफें उठानी पड़ीं? जो अपने को पर से मिला हुआ समझता है वह डूब जायगा और जो अपने को कुछ नहीं समझता है वह तर जायगा।

यह जीव अकेला रहकर बड़े आराम से बना रहता है। पुद्गल भी मांसादि रहित पवित्र बने रहते हैं। इस जीव की गड़बड़ाहट से पुद्गल की यह दशा हो गई। इसी से जीव की यह दशा हो गई। अच्छी नुक्ती का बढ़िया लड्डू खूब बढ़िया बना है, खूब मजेदार है, तबियत भी ठीक है, स्वास्थ्य भी अच्छा है, यह आदमी अच्छा है, बस अब लड्डू खाये तो लड्डू खाने से लड्डू की क्या हालत हुई सो मुंह बाकर आईना में देख लो। खाने वाले की तो तबियत खराब हो जाती है और लड्डू बेकार हो जाता है, यह तो हुई लड्डू की दशा। लड्डू अपनी जगह पर अच्छा था, आदमी अपनी जगह पर अच्छा था अपनी जगह पर रहते तो दोनों मजे में थे।

ये दुनिया के सारे वैभव, मित्र जन, कुटुम्ब, परिवार इत्यादि भी हों तो इन किन्हीं से भी हमारा पूरा न पड़ेगा, खराबी ही रहेगी। जो पदार्थ जहां जिसमें जिस स्वरूप में है, बना रहने दो। उनमें यदि पड़े तो उनमें भी खराबी है। खुद में भी खराबी है। यह अकिंचन भाव संकट रोग की अमोघ औषधि है। कितने ही कष्ट हों, जरा अपने को ज्ञान में अकिंचन बना लो तो सब क्लेश मिट जायेंगे। अरे भाई अपने को सबसे निराला समझो कि मैं अकिंचन हूँ, मेरा कहीं कुछ नहीं है मैं तो आनन्दमग्न ही हूँ। यह अकिंचन भाव अच्छा है। यदि अकिंचन भाव अपने में न आया तो बड़ी-बड़ी झंझटें पड़ जायेंगी। जैसे कि लौकिक झंझटें बहुत पड़ गई हों, बड़ी चिन्तायें हो गई हों उसमें २० हजार लगे, इसमें ५ हजार लगे, टोटल किया तो २५ हजार का नुकसान आया। अरे यह नुकसान मेरा कुछ नहीं है, हो जाने दो। उससे मुझे कुछ नुकसान नहीं पहुंच सकता है, इस प्रकार का यदि विचार बन जावे तो लो दुःख मिट गया और यदि इसके विपरीत विचार बने तो क्लेश बढ़ते ही चले जावेंगे। जैसे सट्टा खेलते हैं तो मिलता कुछ नहीं है, केवल कहते हैं कि इतने पैसे लगे हैं, यह खरीदा वह खरीदा। खरीदना कुछ नहीं पड़ा, पैसे कुछ नहीं लगाने पड़े, सट्टा खेलते हैं। इसका फल केवल यह हुआ कि पूरे रात-दिन जगे इसी तरह इन पदार्थों से हमें लेना देना कुछ नहीं इनसे अपना सम्बन्ध कर लेने से नुकसान ही है, जैसे सट्टा खेलने का फल केवल पूरी रात का जागरण है उसी प्रकार से पर पदार्थों से सम्बन्ध स्थापित करना, उनको अपना इष्ट अनिष्ट मानना इसका फल केवल क्लेश है, यह सब धोखा है, परन्तु यदि अपने को अकिंचन मान लें तो तीन लोक के अधिपति हो जावें। देखो—घर में बच्चों में कोई चीज का झगड़ा हो जाय, किसी चीज के वितरण में कोई बच्चा यह कहे कि हम यह चीज नहीं लेंगे हमें कुछ नहीं चाहिए, मां बाप कहते जाते हैं कि नहीं बेटा और ले लो, बेटा नहीं कर देता है। अब उस नहीं कर देने के बदले में और और मिलता है, जो शान्तिरूप हैं, जिन्होंने नहीं, नहीं कहा। जो यह कह देते हैं कि हमें चाहिए तो उनके लिए

सुख यहाँ द्वितीय भाग

मां बाप कहेंगे कि अब नहीं मिलेगा। इसी प्रकार आत्मन् ! ज्यों-ज्यों पर पदार्थों से बाहर होते जाओगे, उनके लिए यह कहोगे कि मुझे कुछ नहीं चाहिए तो पावन होता जायगा और त्रिलोक के अधिपति हो जाओगे। यदि कुछ मांगोगे तो कुछ नहीं मिलेगा। आचार्यदेव के वचनों से हमें यह शिक्षा मिलती है कि हे जगत के प्राणियों ! परपदार्थों में न पड़ो ये सब गोरखधंधा है।

भैया ! तुम कहां अपना विश्वास कर रहे हो ? ये सब परपदार्थ तुम्हारे लिए हितकर नहीं है। कौन सी ऐसी चीज है जिससे पूरा पड़ जायगा। अरे पूरा पड़ने वाली कोई चीज नहीं है, यदि तू इनमें पड़ा तो तेरी दशा खराब हो जायेगी। तू अपने को अकिंचन मान। अपने आप में विश्वास कर कि मैं अपने आप में हूँ, अन्यत्र नहीं हूँ, परिपूर्ण हूँ, नष्ट नहीं हूँ, मैं बाहर नहीं गया हूँ। इस तरह सबकी ओर उपेक्षा करके रहे तो आत्मवैभव वृद्धिगत होता है, और जिसके केवल पर्यायबुद्धि के कारण भीतर में लगाव होता है कि मैं यह इन्सान हूँ, मैं अमुक हूँ, उसके पर्यायबुद्धि के हो जाने से खोटे अभिप्राय बढ़ जाते हैं।

देखो भैया ! एक अपने आपसे परिचित न होकर जिन्दगी बेकार चली जा रही है। आपको भावो, चाहें अकिंचन भावना हो, चाहे ज्ञानमात्र भावना हो, प्रयोजन दोनों का एक है, मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ। जानन एक विलक्षण भाव है जिसका उपाय दुनिया में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है, किसी को स्पष्ट नहीं दिखता है, उस जानन के पेट नहीं है, पैर नहीं है, शक्ल नहीं है। रूप, रस, गंध इत्यादि उस जानन में नहीं है। यदि हम अपने को ज्ञानमात्र मानते हैं तो आनन्द है और यदि इसके विपरीत अपने को समझते हैं तो हमें क्लेश हैं।

हम अब तो अपने घर में रहते ही नहीं। कितने कष्ट की बात है? अरे बाहर भी रहते हो तो घर में दो-चार घण्टे को तो घुसा ही करते हो। अनन्तकाल व्यतीत हो गए। बाहर ही बाहर दृष्टि रही, विपदाओं के साधनों की ओर ही दृष्टि रही। अरे ज्ञानघन आत्मा को तो देखो। सोने चांदी के ढेरों में क्या रखा है? दौलत से, धन-वैभव से तुम्हारा क्या विकास, क्या उत्थान हो जायगा? व्यर्थ ही क्यों हे जगत के प्राणी! तू अपने में ही संकल्प विकल्प करके दुःखी होता है। तेरी आत्मा तो दुःख रूप है ही नहीं। वह तो आनन्दघन है फिर तू क्यों दुःखी हो रहा है? अरे इन संकल्प विकल्पों को टाल दो तो आनन्द उत्पन्न हो जायगा। मेरा सुधार करने वाला, मेरा बिगाड़ करने वाला मैं ही हूँ, मुझे अपने को ज्ञानस्वरूप, ज्ञानानन्दमात्र निरखकर आनन्दमय होना चाहिए। यह प्रभु तो यहीं विराजमान है, अति निकट क्या, यही मैं हूँ। परमात्मतत्त्व कुछ अन्य वस्तु नहीं है, चेतनत्व ही परमात्मा होता है। केवल पदार्थ समझ लेने व न समझ पाने का ही सारा अन्तर हो जाता है। जिन्होंने अपना यथार्थ स्वरूप समझा और इसी कारण द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय व उनके विषयभूत वस्तु में अपना प्रयोजन नहीं समझा और इन तीनों से उपेक्षा की और उपेक्षा करके अपने ज्ञानस्वभाव में रत हुए तो परमात्मत्वं प्रकट हो जाता है, ऐसा ही स्वरूप मेरा है। उसका ध्यान कर सर्व क्लेशों से मुक्त हो जाने का उपाय कर लेना ही परम विवेक है।

विष वद्विषयास्त्यक्त्वा पृथक्कृत्य वपुर्धिया ।

स्वात्मानमेव पश्यानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२-३॥

अर्थ- विष की तरह, विषयों को छोड़कर शरीर को बुद्धि के द्वारा पृथक् करके अपने स्वात्मा को ही देखूं और अपने में अपने लिए स्वयं सुखी होऊं।

देखो भाई ! ये विषय जिनमें संसार के प्राणी अंधे हो जाते हैं, विष से भी भयंकर हैं विष तो एक ही भव में प्राण का हरण करता है, परन्तु विषयों की आसक्ति भव-भव में मूल प्राण का, चैतन्य प्राण का हरण करता है अर्थात् ज्ञान दर्शन का विकास नहीं होने देता। संसार के विभिन्न तिर्यज्यों को तो देखो, ये तो देखने में आ ही रहे हैं। हाथी हथिनी के सम्पर्क की धुन में जंगल में बनावटी हथिनी के समीप दौड़कर जाता है और उस स्थल पर जाते ही गड़ढे में गिर जाता है, दुःखी होता है और पराधीन हो जाता है। मछलियों को देखो—जरा से मांस खंड के खाने के लोलुपी होकर धीमर के जाल में फंस जाती है। धीमर लोग फिर उनको पकड़कर अलग रख देते हैं वे मर जाती हैं या कहीं-कहीं पर मछलियों को जिन्दा ही आग में भून डालते हैं। भ्रमर गंध के वशीभूत होकर पुष्प के भीतर ही निःस्वास हो जाते हैं। पतंगे रोशनी की ज्वाला पर पड़कर मर जाया करते हैं, यह तो प्रायः देखते ही रहते होंगे। सांप, हिरण आदि तो शब्दराग के विषय में मस्त करके पकड़ लिए जाते हैं सपेरे व शिकारियों के द्वारा, जब इन जीवों की एक-एक इन्द्रिय के विषय के वश में ही ऐसी दुर्गति हो जाती है तो हाय यह मनुष्य रूपी कीट जो पांचों इन्द्रियों के विषयों का दास है इसका क्या हाल होगा।

अतः भैया ! पुण्य के उदय से पाया तो सब कुछ समागम है, परन्तु उसके भोगने से पहिले कुछ विवेक का भी आदर कर लो, अन्यथा पछतावा करना ही हाथ रहेगा। विषयों को विष की तरह अहितकारी समझकर और कषायों के साधनभूत शरीर को आत्मा से पृथक् मानकर उन सबसे उपेक्षा करना, बस यही धर्म मार्ग है। ये विषय भोग संसार में परिभ्रमण कराते हैं, जन्म परम्परा बढ़ाते हैं तब कर्तव्य क्या है कि इन विषयों को छोड़कर और इन विषयों के साधनभूत शरीर को भी आत्मा से पृथक् देखकर सबसे उपेक्षा कर दो। मैं अपने आप में उपयोगी होऊं। इन्द्रिय विषयों को जीतने के लिये मुख्य उपाय ज्ञान ही है। घर छोड़ अथवा किसी के नाम पर धर्म की उपासना कर लें, बड़े बड़े कार्य कर लें सब ठीक हैं, परन्तु निर्विषय आत्मतत्त्व का जब तक दर्शन नहीं तब तक इन्द्रियों को जीता नहीं जा सकता है और जब तक इन्द्रियों पर विजय नहीं होगी तब तक मोक्षमार्ग नहीं प्राप्त हो सकता है। इन्द्रियविषयों को जीतने के लिये कैसा उपयोग बनाना है, इस सम्बन्ध में समयसार में श्री पूज्यपाद अमृतचंद सूरि जी कहते हैं कि विषयभोग का सम्बन्ध तीन बातों से हुआ करता है—१. द्रव्य इन्द्रिय २. भाव इन्द्रिय और ३. उनके विषयभूत पदार्थ। विषयभोग का सम्बन्ध इनसे रहा करता है। द्रव्य इन्द्रिय के निमित्त से उनके विषयभूत पदार्थों से इन्द्रियज्ञान करके रमण होता है। इस तरह से भोग भोगने के लिए तीन से वास्ता पड़ता है—द्रव्य इन्द्रिय, भाव इन्द्रिय और विषयभूत पदार्थ। द्रव्येन्द्रिय तो शरीर में दिखने वाले ये हैं ही। इन्द्रिय के निमित्त से जानकारी होती है, वह जानकारी भावेन्द्रिय है। और विषयभूत पदार्थ जगत के ये पुद्गल पदार्थ हैं।

ये विषय पांच प्रकार के होते हैं—स्पर्श तो स्पर्शनका विषय है, रस रसना का विषय है, गन्ध घ्राण का विषय है, रूप चक्षुका का विषय है, शब्द श्रोत्र का विषय है, चक्षु इन्द्रिय और रसना इन्द्रिय तो दुनिया में कमाल कर रहे हैं। हम इन इन्द्रियों के प्रति कैसा ज्ञान बनावें कि विषयों से हटकर अपने स्वभाव में लग जायें। कहते हैं कि इन्द्रिय क्या हैं? इन्द्रिय पुद्गल हैं, जानने वाली नहीं हैं। यह मैं आत्मा ही चैतन्यस्वरूप हूँ जो जानता हूँ, ज्ञानमय तत्व हूँ, सबसे निराला हूँ। मुझमें और इस पौद्गलिक इन्द्रियों में कितना अन्तर है? ये इन्द्रियां तो मैं हूँ नहीं, ये तो मेरे से भिन्न हैं।

विशिष्ट ज्ञान करके ही हम इन इन्द्रियों के वशीभूत हो जाते हैं, और इन्द्रियों के वशीभूत होकर दुःख उठाते हैं। हमें इनको विजय करने के लिये इनकी उपेक्षा कर देनी चाहिए, लोग इन इन्द्रियों को दण्ड दे देते। इन्द्रियों को विजय करने के लिए जीभ काट डालो, कान काट डालो, नाक कतर डालो, आंखें फोड़ दो। क्या यह इन्द्रिय विजय का उपाय है? नहीं, इन्द्रिय-विजय का उपाय है उपेक्षा। क्या करो कि किसी दूसरे की ओर मुड़कर भी न देखो, अरे यह तो जग है, उससे तू विलग है, तू तो एक चैतन्य पदार्थ है, तू इन्द्रियों में क्यों फंसा है? भैया ! इन इन्द्रियों में वशीभूत होकर तेरा ज्ञान दब रहा है। इन इन्द्रियों के कारण ही तो स्पष्ट बात समझ में नहीं आती है। तू तो अपने आपको सोच कि मैं इन्द्रियों से अपना सम्बन्ध नहीं रखता, तू अपने को जान कि मैं आत्मा स्वतंत्र हूँ, यदि तू अपने को इस प्रकार का बना ले तो यही हुआ इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना। इन इन्द्रियों के द्वारा ही नाना कषाय बढ़ते हैं, इन्द्रियों के निमित्त से जो ज्ञान होता है उसे कहते हैं भाव इन्द्रिय। इन्द्रियों के निमित्त से हमारा जो ज्ञान होता है वह अपूर्ण ज्ञान है, पराधीन ज्ञान है। किन्तु मैं आत्मा तो अपूर्ण नहीं हूँ। यह आत्मा तो पूर्ण ज्ञानमय है। इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है वह अपूर्ण ज्ञान होता है। अतः परस्पर इन दोनों ज्ञानों में अन्तर है। मैं अपूर्ण ज्ञानवान नहीं हूँ, मैं तो अपने को इन्द्रियज्ञान से भिन्न सहज ज्ञानमय देखता हूँ। मुझे तो चाहिए कि इन इन्द्रियों से, खंड खंड ज्ञान से पृथक् अखण्ड ज्ञानमय अपने आपको अनुभवूँ और इन्द्रिय ज्ञान से विलग होऊँ। इन इन्द्रिय विषयों में से स्पर्शन इन्द्रिय का विषय तो उन्मत्ततापूर्ण है। इसके विषय का रोगी पुरुष ब्रह्मविद्या की आराधना का पात्र नहीं है।

रसना इन्द्रिय को देखो इसका विषय भावेन्द्रिय द्वारा ही जान पाया है। खण्ड खण्ड ज्ञान है वह। जैसे कोई अंधेरे में बैठा हुआ आम चूस रहा है। उसको पता नहीं कि आम कलमी है कि दशहरी है कि देशी है। केवल उस आम के रस को जिह्वापर रखता है तब उसे आम का पता चलता है, उसे यह पता नहीं चलता कि आम किस रंग का है, किस रूप का है, देखो यह अपूर्ण ज्ञान हुआ ना। आम के विषय में पूर्ण जानकारी नहीं हो पायी, ऐसे ही सब इन्द्रियज्ञान है। सो भैया ! अपने को इन इन्द्रियों के उपयोगों से हटाओ। अब विषयभूत पदार्थों को देखो—ये बाह्यपदार्थ जड़ हैं, संग हैं, परिग्रह हैं, पर यह मैं आत्मा चैतन्यस्वरूप हूँ, केवल हूँ, असंग हूँ, किसी अन्य पदार्थों से मेरा सम्बन्ध नहीं है। मैं सब अपनी-अपनी स्वरूपसत्ता मात्र में हूँ, मैं अपनी सत्तामात्र हूँ। ऐसा भेद करके उन बाह्य पदार्थों से अपना सम्बन्ध न स्थापित करो, उनमें दृष्टि न डालो, केवल अपने आपको निरखो। अपने इन विषयों को जीतने

का क्या कोई और उपाय है? कुर्यें में डाल दो अथवा तोड़ फोड़ दो, इन इन्द्रियों को बरबाद कर दो, कान कतर दो, आंखें फोड़ दो, विषयों पर विजय प्राप्त करने का क्या यही उपाय है। अरे ! इन इन्द्रियों का बहिष्कार कर दो, दिल से उतार दो। इसी प्रकार से विषयों को दिल से उतार दो, मोह को भुला दो, जो भिन्न-भिन्न रूपों में जन्म मरण के चक्र में डालने वाले हैं। इन विषय कषायों को त्याग दो। इन विषयों को, मन को, इस शरीर को अपने स्वरूप से पृथक् देखो तथा अपने को ज्ञानमात्र, सबसे निराला समझो और अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ।

इस जगत में जितने भी लोग पराधीन बने रहते हैं वे विषयों के कारण ही पराधीन बने रहते हैं। इसलिए विषयों से छुटकारा प्राप्त करो। कोई किसी से बंधा है क्या? कोई किसी से बंधा हुआ नहीं है। केवल खुद में ही वस्तुस्वरूप से विपरीत कल्पनायें बना लेने से बन्धन बना लिया है।

सुकौशल राजकुमार अपनी कुमारी अवस्था में विरक्त हो गये। वह घर छोड़कर चल दिये। तब राजकुमार की अवस्था छोटी थी। वे अपनी मां और अपने साम्राज्य सुख से विलग हो गए। देखो, मंत्रीजनों ने उन्हें बहुत समझाया, पर वह न माने, कैसे मानते उन्हें ज्ञान हो गया था। वे अपनी आत्मा में ही लीन होना चाहते थे। तब फिर उनको रोकने वाला कौन था? उनमें यथार्थ ज्ञान हो गया था। तब फिर दूसरों का असर उन पर किस प्रकार से हो सकता था। यदि खुद में अज्ञानभाव होता तो दूसरों के समझाने पर यह अपने में अपनी उत्सुकता के कारण उस तरह का असर कर लेता। मंत्रियों ने राजकुमार को बहुत समझाया कि आपकी स्त्री के गर्भ है, बच्चा तो हो जाने दो। फिर चाहे चले जाना। मां ने कहा, बेटा ! उस बच्चे को तो राजतिलक दिए जाओ। दुनिया को तो यह बता जाओ कि मैं अपने बच्चे को राजतिलक दे रहा हूँ इस लिए हे महाराज ! अभी इतनी जल्दी न जाओ। दो तीन माह बाद फिर चाहे चले जाना। राजकुमार सुकौशल कहते हैं कि अच्छा गर्भ में जो संतान है उसे मैं तिलक किए देता हूँ। जो गर्भ में संतान है उसे मैं राजा बनाए देता हूँ। ऐसा कहकर सुकौशल राजकुमार विरक्त हो गये।

ज्ञान ही सुख, आनन्द व शान्ति देता है। और यदि ज्ञान नहीं है तो आजीवन क्लेश हैं। अतः मैं इन विकारों को, विषय कषायों को त्यागकर अपने में ज्ञान उत्पन्न करूँ, अपने आपके ज्ञान से आनन्द लूँ और सारे संकल्पों से मुक्त होऊँ।

शान्ति के मार्ग में बढ़ने के लिए सबसे पहला कदम है इन्द्रिय विजय अर्थात् इन्द्रियों के विषयों पर विजय प्राप्त करना। यह इस उपाय से संभव है कि इन विषयों से पृथक्, विषयों के ग्रहण के साधनभूत द्रव्येन्द्रियों से पृथक् और विषय ग्रहण विकल्प रूप भावेन्द्रिय से पृथक् ज्ञानमात्र अपने आत्मतत्त्व का संवेदन करूँ। इसके लिए हम प्रारम्भ में सीधा इतना ही काम लें कि विषय के निमित्तों को दूर करें तथा विषयों के कारण भूत इस शरीर को आत्मा से अलग समझें। फिर इन विकल्पों के दूर होने पर आत्मा में परम विश्राम होगा जिससे शान्ति के मार्ग का साक्षात्कार होगा। सुख इस ही स्वरूप में है अन्य विषयों में सुख खोजना महामूढ़ता है।

सुख यहाँ द्वितीय भाग

न मे वर्णो न मे जाति न मे देशो न विग्रहः ।

नैषामहं न्वहं त्वेकः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२-४॥

अर्थ— मेरे वर्ण नहीं मेरे जाति नहीं मेरे देश नहीं मेरे शरीर नहीं और निश्चय से इनका मैं नहीं हूँ परन्तु मैं एक हूँ उस एक अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

जो आत्मा में हो उसकी तो हां करना और जो आत्मा में नहीं है उसे ना करना। आत्मा में ज्ञान है सो ज्ञान की हां करना और आत्मा में वर्ण नहीं, देश नहीं, शरीर नहीं, कर्म नहीं तो उसकी ना करना, ना को ही हां कर दे और हां को ना कर दे उसी का नाम मिथ्यात्व है। आत्मा में ज्ञान है, पर उसे ना कहने वाले बहुत हैं, कुछ दार्शनिक भी ऐसे हैं जो आत्मा का स्वरूप ज्ञान नहीं मानते बहुत-बहुत बातें हैं, यहां कौन अपने को ज्ञानस्वरूप मानता है ? अरे विशुद्ध व्यवस्था नहीं है तो मैं हूँ क्या ? जैसा भी जिसने कह दिया वैसा ही मान लिया और बहक गए। यह तो हाल है संस्कार का परिणाम में, जैसा जिसने समझ लिया, जैसा संग जिसको मिल गया तैसा ही असर बना लिया ऐसी की संख्या ज्यादा है। जिनको हां का पता नहीं है और जिनको ना ही का भूत लगा है उनकी तो चर्चा ही यहां नहीं है, और भीतर दर्शनशास्त्र में चलें तो ज्ञान की ना करने वाले बहुत हैं। कोई दार्शनिक तो आत्मा का स्वरूप नहीं मानते। क्योंकि ज्ञानस्वभाव आत्मा को नहीं मानते। ज्ञान के सम्बन्ध से आत्मा ज्ञानी है। आत्मा में ज्ञानरूप नहीं है, ऐसा मानते हैं। और इसी तरह और और भी हैं, आत्मा में रूप है क्या कि हरा है, कि काला है, कि सफेद है, कुछ भी नहीं। किन्तु मोही मानता है कि यह गोरा है, यह काला है, यह सफेद है, मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं गेहुँवे रंग का हूँ। अरे यह आत्मा अनेक रूप नहीं है। आत्मा में जातियां हैं क्या? भैया! आत्मा में कोई जातियां नहीं। आत्मा में वर्ण नहीं, वह तो चैतन्यस्वरूप, चेतनात्मक प्रभु सरीखा एक वस्तु है, वह आत्मा है। मेरी जाति नहीं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि कोई जाति आत्मा में नहीं है।

विकार और अविकार भावों की तो बात ठीक है कि मेरी इस आत्मा में विकार तो है, किन्तु स्वभाव में विकार नहीं है। वह निर्विकार है, निर्विकल्प है, ज्ञानानन्दमय है, ज्ञानघन स्वरूप है। विकारमयी होना आत्मा का काम नहीं है, वह तो चैतन्यमय पदार्थ है। यद्यपि पर्याय में परिणामों के अनुकूल ही जातियों में विभाग हैं अर्थात् जितने प्रकार के परिणाम होंगे उतनी ही जातियां होंगी, परन्तु परमार्थ से जैसा मैं हूँ तैसा ही हूँ। मेरे अस्तित्व में कोई जाति नहीं। जैसे आज हिन्दुस्तान में हूँ और हिन्दुस्तानी कहलाता हूँ। आगे अगर मरकर इंग्लैंड में जाकर किसी अन्य योनि में जन्म लूँ तो अंग्रेज बन जाऊंगा और कहूंगा कि मेरा देश इंग्लैंड है, मैं अंग्रेज हूँ। वास्तव में भैया, मेरे स्वरूप में कोई जातियां नहीं, मेरा कोई देश नहीं। जब तक जिन्दा हूँ तब तक तो हिन्दुस्तानी हूँ, अंग्रेज हूँ, फलां हूँ इत्यादि विकल्प की बातें रहती हैं, पर ज्यों ही मृत्यु हो जाती है उसका विकल्प बदल जाता है। देश की बात देखो, देश के प्रदेश की बात देश में है, मेरा देश नहीं, मेरे विग्रह नहीं, सुख दुःख का अनुभव तो चैतन्य प्रदेश में होता है। शरीर में सुख, दुःखों का अनुभव नहीं होता है, ज्ञान, शिक्षा की बात चैतन्य प्रदेश में होती है, शरीरादि में नहीं

होती है। मेरे विग्रह नहीं, शरीर नहीं। मैं इनका नहीं और ये मेरे नहीं, मैं तो केवल एक ज्ञानमात्र हूँ ऐसी भावना ज्ञानी जीव के होती है।

भैया ! जाति और धर्म वेशभूषा या पहनावा का जिनके आग्रह है उनको मोक्ष प्राप्त नहीं होता। मैं किसी जाति वाला किसी शरीर वाला नहीं हूँ, मैं आत्मा चैतन्य जाति का हूँ, ऐसा जानूँ। कोई भी आग्रह हो चाहे जानूँ कि मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, वैश्य हूँ, शूद्र हूँ अथवा किसी प्रकार का विकल्प भरे हुए हूँ तो उस आग्रह के कारण मोक्ष नहीं होता। हालांकि बात ठीक है कि तमाम जातियों में यह कोई श्रेष्ठ जाति है। हम श्रेष्ठ जाति व आचरण वाले मोक्षपात्र हैं। यदि संस्कार निम्न जातियों में हुए तो मोक्ष नहीं है तो भी अपने आप में किसी भी पर्याय का आग्रह हो तो मोक्ष नहीं होता। मैं पुरुष हूँ अथवा स्त्री हूँ ऐसे कोई भी विकल्प मेरे मोक्षमार्ग में बाधक होंगे। मोक्षमार्ग प्रगति की बात तो दूर रही इस पर्यायबुद्धि से तो मुझे सम्यक्त्व भी नहीं होगा। मेरा मेरे सहज स्वरूप के सिवाय अन्य कुछ नहीं है। अगर शुद्ध स्वभाव का विश्वास नहीं है तो सम्यक्त्व नहीं है। मैं तो एक चैतन्यवस्तु हूँ, मैं तो सबसे अछूता चैतन्यमात्र हूँ। वह ज्ञानी नहीं है जो अपने को सबसे निराला तथा अछूता न निरखे। अपने आपकी सहज चैतन्यभाव के रूप में पहिचान होगी तब सम्यक्त्व है। यह बात कहो कि हंसी में ही शांति मिल जाय तो शांति नहीं मिलने की। हंसी हंसी से ही यदि यह चाहो कि मोक्ष का मार्ग मिले तो नहीं मिल सकता है। मेरे लिये तो आध्यात्मिक तपस्या की जरूरत है। तपस्या तब होगी जब कि यह समझो कि मैं पुरुष नहीं हूँ, मैं स्त्री नहीं हूँ। अपने को पुरुष स्त्री बनाने वाले भाव का तिरस्कार कर दो और ऐसी भावना बनाओ कि मैं मनुष्य नहीं हूँ, मैं सदा आनन्दघन चैतन्यस्वरूप वस्तु हूँ, मेरी भावात्मक ज्योति बड़े यही मेरा काम है। देखो, इंगलिश में आइ शब्द है जिसका मैं अर्थ होता है वह आइ शब्द न पुरुष लिंग है और न स्त्रीलिंग है। अहं शब्द जो कि अस्मद् धातु से बना है वह भी न पुरुषलिंग है और न स्त्रीलिंग है, इसी प्रकार मैं शब्द भी न पुरुषवाचक है न स्त्रीवाचक है। तब सोचो कि मैं शब्द भी जब स्त्री पुरुष दोनों से परे है तो वाच्य जो यह मैं चेतन वस्तु हूँ सो यह मैं भी न स्त्री हूँ और न पुरुष हूँ। मैं तो चेतनात्मक, जगमगस्वरूप, प्रकाशमान चकचकायमान एक प्रतिभासस्वरूप वस्तु हूँ।

हैं आत्मनू, तेरे में तो विकार नहीं है पर तेरे में जो विकार हो गये, विकल्प हो गये, विषयकषाय हो गये वहाँ तूने ही भ्रमवंश ही झलका लिया। तू धन के ही पीछे पड़ा रहा, अपने परिवार के ही पीछे पड़ा रहा, विकल्प तो तूने स्वयं ही इस जगत में बना लिये हैं। अरे यदि तू नुकसान मान लेता है तो नुकसान है और यदि नुकसान नहीं मानता है तो कोई नुकसान नहीं है। चाहे हजार का नुकसान हो, चाहे लाख का, चाहे करोड़ का, उसे तू कोई नुकसान न समझ। वे तो सब परद्रव्य हैं उनसे तेरा क्या सम्बन्ध है। हे जगत् के प्राणी ! तू विकल्पों को जिनका कुछ मूल ही नहीं, भ्रम की काल्पनिक भीत पर ही जो भासते हैं, छोड़ दे तो तुझे शान्ति हो जायेगी।

भैया ! घर में यदि कोई बीमार हो जाय, जिसके बचने में संदेह हो, तो उसके परिवार का इष्ट पुरुष कितना विह्वल रहता है। वैद्य आता है तो उससे पूछता है कि सच तो बता दो कि यह बचेगा

सुख यहाँ द्वितीय भाग

कि नहीं। कितनी विह्वलता है, इसकी विह्वलता तो उसकी मृत्यु के बाद भी नहीं रहती। यदि बीमार मर जावे तो दुःख वियोग का तो जरूर है किन्तु अनिर्णय का अन्धेरा नहीं है। उसे पूर्ववत् भीतरी अज्ञान की आकुलता नहीं है। पहिले क्लेश डबल था। अब केवल वियोग का क्लेश है।

यदि कोई बीमार पुरुष के बारे में उससे यह कह जावे कि बचने की कोई आशा नहीं है, हां हो सकता है कि भाग्य अच्छा हो तो बच जावे। ऐसा कहने से उस इष्ट का दिमाग खराब हो जाता था और उसके हृदय में अशांति फैल जाती थी। अब मर जाने पर भी अनिर्णय की व्याकुलता तो नहीं है। अज्ञान में होने वाली आकुलता बड़ी आकुलता है। मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, इस प्रकार के विकल्प से सही ज्ञान नहीं मिल सकता है। ऐसी अवस्था में वह कितने ही धर्म के नाम पर काम कर डाले, तपस्या कर डाले, उपवास कर डाले, पर अहंकार भरे हुए हैं कि मैं शुद्ध हूँ, मैं तपस्या का काम करता हूँ, मुझे मोक्ष जाना है। तो विकल्प से तो काम नहीं हो जाता। जिसका कोई आग्रह नहीं होगा वह ही निर्वाण का पात्र है। मुझे अपने आप में विश्वास करना चाहिए कि मैं सब जीवों की भांति चैतन्यस्वरूप को लिए हुए हूँ। उसका कोई नाम नहीं, आकार नहीं, रूप नहीं, मैं तो केवल भावात्मक चीज हूँ, ज्ञानानन्दधन हूँ। यदि ऐसी ही बात होवे तो मैं निर्वाण का पात्र हूँ, सम्यक्त्व का पात्र हूँ। सम्यक्त्व मेरे कहीं बाहर नहीं है।

जैसे नदी या सागर के तट पर पहुंचने पर फिर नदी या सागर दूर नहीं। वैसे ही सम्यक्त्व भी मोक्ष का एक तट है, उस तट पर पहुंचने पर मोक्ष दूर नहीं। हां कोई विरला ही आत्मा आन्तरिक तपस्या से खिसक जाय ऐसी अवस्था में निर्वाण कुछ दूर-सा रह जाता है। पर अधिक दूर नहीं रह जाता है और अगर अधिक दूर नहीं रह जाता है तो मोक्ष का मार्ग भी ज्यादा से ज्यादा निकट समझिये। यदि सम्यक्त्व बना रहे तो मार्ग अत्यन्त निकट है। सम्यक्त्व में सही ज्ञान है और सही ज्ञान में ही उजेला है। वही बना रहे तो निर्वाण का सुख अभी से है। निर्वाण सुख का ही एक रूप तो आत्मानुभव है।

जैसे आजकल लोग प्रायः पाइप से (गैहूँ की नाल से) लकड़ी से रसीला पानी पीते हैं। भरा हुआ गिलास लोग पीते हैं। उस भरे हुए गिलास में एक रस है। गिलास में रस भरा हुआ होता है वही तो एक संतान हो पाइप द्वारा मुंह में जाता है। यद्यपि गिलास में सर्वाङ्गसमृद्ध रस है और मुंह में अंश जाता है, फिर भी वह आंशिक अंश व गिलास का रस एकरूप हो रहा है। तो देखो वह एक निर्वाण का सुख है। वह यद्यपि लबालब आनन्दसागर कुछ आगे है, मगर सम्यक्त्व के प्रभाव में उस आनन्द का स्वाद लिया जा रहा है। मैं एक भावात्मक वस्तु हूँ। स्थान का नाम ही निर्वाण हो सो नहीं है। जहां भगवान् स्वयं विराजमान है वहीं अनन्त निगोद हैं किन्तु निगोदिया जीव यहां जैसे ही निगोदियों की तरह हैं और भगवान् अनन्त आनन्द लिये हुए हैं। यह जीव भी भगवान् के स्वरूप के ही समान है, जो अपने को इस सहज स्वरूप में नहीं समझता है वह जन्म-मरण के चक्र में पड़ा रहता है। आत्मा जैसे आकार में है, जिस क्षेत्र में है उस स्वरूप सर्वांग में अनन्त आनन्द भरा हुआ है। परन्तु जो आत्मा अपने आप पर विश्वास करता है, अपने आप पर दृष्टि करता है, वह अनन्त आनन्द अपने में भरे हुए है इससे उसे

शंका नहीं होती। इस अपने अनन्त आनन्दस्वभावी आत्मा भगवान पर विश्वास करता हुआ, अपने आत्मा को देखता हुआ चलूँ तो जीवन का प्रत्येक क्षण आनन्द से पूर्ण होता चला जायगा।

मैं एक ज्ञानानन्द पदार्थ हूँ, सत् हूँ, अपने स्वरूप में हूँ, पर के स्वरूप में नहीं हूँ, मैं अपने ही द्रव्य से हूँ और अपने ही क्षेत्र से हूँ। भैया ! प्रत्येक सत् में ४ चीजें पायी जाती हैं—१. द्रव्य, २. क्षेत्र, ३. काल, ४. भाव। जैसे यह चौकी है तो यह एक वस्तु हुई। जितनी लम्बी चौड़ी तथा मोटी है, यह उसका क्षेत्र हुआ। और काली है कि पीली है अथवा यह चौकी कब तक रहेगी यह हुआ काल, जो उसमें सर्व शक्तियाँ हैं, योग्यतायें हैं वे हुए सर्वभाव। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव बने बिना कोई सत् नहीं हुआ करता है। कोई सत् है तो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को लिए हुए है। चाहे वह मूर्त पदार्थ हो चाहे अमूर्त, प्रत्येक पदार्थ में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का चतुष्टय होता है। आत्मा को देखो कि मैं आत्मा गुण पर्याययुक्त होने से द्रव्य रूप हूँ तथा क्षेत्र, काल और भाव को लिए हूँ। जो गुणपर्याय है उसका मैं पिंड हूँ, मेरे में विकार नहीं, विकल्प नहीं। देखो गुण पर्याय का पिंड आत्मा है। यह सब ज्ञान द्वारा यों बताया जा सकेगा जैसे पुद्गल पिंड को उठकार बता देते हैं। ज्ञान से उसका प्रतिसमय कोई न कोई परिणमन है वह ही समझ में आता है कि इसमें जो त्रैकालिक शक्ति है वह गुण है, पर्याय है उसको देखकर कहा जा सकता है कि यह आत्मा एक सत् है। इसमें अन्य द्रव्यों की भांति द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव है। जैसे एक धोती है तो वह एक पदार्थ है। उसको फैला दिया जाय तो व्यक्तरूप से क्षेत्र है और उसका काला, पीला इत्यादि जो रंग है वह काल है। उसमें, जो शक्ति है वह भाव है। इसी तरह से यह आत्मा एक द्रव्य है। इसमें गुण का प्रसार है, फैलाव है, यही इसका क्षेत्र हुआ। इस आत्मा का क्षेत्र आकाश के किसी क्षेत्र के बराबर नहीं बल्कि अपने आप में जितना फैला हुआ है उतना ही उसका क्षेत्र है। भाव दृष्टि से जितना मेरा ज्ञान उतना ही मेरा क्षेत्र है। यदि मैं २-४ कोस की दूरी तक जानता हूँ तो २-४ कोस का क्षेत्र है और यदि हजारों कोस की दूरी तक जानता हूँ तो हजारों कोस का क्षेत्र है। और यदि विश्व के विषय जानता हूँ तो विश्व के बराबर क्षेत्र है। प्रदेशतः जितने में यह मैं द्रव्य विस्तृत हूँ उतना निजी असंख्यात प्रदेश मेरा क्षेत्र है। चौकी व धोती एक सत् नहीं है परन्तु उपचार से दृष्टान्त में घटाया है। हमारा स्वरूप दुःख रूप नहीं, क्लेश रूप नहीं, वे सब केवल हमारे विभाव परिणाम हैं। इन परिणामों से ही दुःख होते हैं। यदि हम छोटे परिणाम न करें तो क्लेश नहीं हो सकते हैं। ऐसी खराब भावनायें हो जाने से हम विकास नहीं कर पाते। यदि हम विभाव न करें तो भी हम परिणमते तो प्रतिसमय ही हैं, जैसे कि प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय परिणमता रहता है, इस परिणामों को व इनके आधार को जो नहीं मानता है उनका परिणमन भिन्न-भिन्न रूपों में रहता है। भैया ! इस ज्ञानानन्द भावमात्र को तो देखो। यह देखने के योग्य है इसमें कोई विकार नहीं है।

केवल यह आत्मा स्वरूपसत् मात्र है, इस जगत में जितने भी पदार्थ हैं वे सब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को लिए हुए हैं। इस भावस्वरूप चैतन्य का जो ज्ञान करे वह सम्यक्त्व के निकट है, बात कठिन पड़ रही है मगर वस्तु की यह खास तत्व की चीज है।

जितने भी दर्शन बने, जितने भी वेदान्त, सांख्य, बौद्ध, इत्यादि सिद्धान्त बने, सबकी बुद्धि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में ही विद्यमान है। यह बात अन्य है कि किसी सिद्धान्त ने एक का ग्रहण किया किसी ने दो का। चारों का ग्रहण करने में वस्तु पूर्ण आ जाती है। अहो, यह मैं आत्मा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से परिपूर्ण अपने सत्मात्र हूँ। अपने ही द्रव्य में सत् हूँ। प्रत्येक द्रव्य अपने में ही सत् रूप होते हैं। अन्य द्रव्य की अपेक्षा सत्य इस आत्मा में नहीं होता है।

यह कमण्डल, यह दरी कोई भी पदार्थ हो, सब अपना-अपना अलग-अलग सत्त्व रखते हैं। ये व्यवहार में पदार्थ माने जाते हैं, परमार्थ से तो ये पदार्थ नहीं हैं, ये तो पदार्थों के समूह हैं। कभी-कभी इस प्रकार की दृष्टि बन जाती है कि कोई सर्व पदार्थों को मिलाकर अपने को एक सत् मानते हैं। यदि वे स्वतन्त्र सत् नहीं मानते हैं तो एकान्त अद्वैतवाद आ गया। पर द्रव्यों को सत् रूप न देना ही एकान्त अद्वैतवाद है। मैं तो अपने ही क्षेत्र में सत् हूँ, पर के क्षेत्र में सत् नहीं हूँ, ऐसे ही सब अपने अपने ही क्षेत्र में सत् है। ऐसा मान लूँ तो मेरे आकुलतायें व्याकुलतायें नहीं आवेंगी। और यदि इसके विरुद्ध अपने को मान लिया तो अनेक प्रकार की आकुलतायें व्याकुलतायें आ जावेंगी। इस तरह से मैं अपने को ज्ञानानन्द, चैतन्यस्वरूप निरखूँ। और यदि किसी ने अपने को निरखा कि मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं साधु हूँ, मैं अन्य कोई नहीं हूँ तो उसका निर्वाण नहीं होता, वह दुःख के बन्धन में ही फँस जाता है। मेरी दृष्टि बाहर नहीं होना चाहिए। मुझे यह समझना चाहिए कि मैं सबसे निराला, चैतन्यस्वभावमय पदार्थ हूँ, मेरे में वर्ण नहीं, जातियाँ नहीं। मैं तो सबसे जुदा हूँ, ऐसा ही मुझे अपने को निरखना चाहिए। मैं स्त्री स्वरूप नहीं हूँ, मैं पुरुष स्वरूप नहीं हूँ, मैं किसी अन्य रूप नहीं हूँ, मैं एक चैतन्यमात्र वस्तु हूँ, इस प्रकार से जो अंतर में अपने आपको निरखता है वह शांति का मार्ग प्राप्त कर सकता है।

इस जगत् के जीव पर अनेकों विकल्प विपदायें मंडरा रही हैं। यदि इस जगत् का यह प्राणी अपने ज्ञानसागर में डूब जावे तो अनेक प्रकार के जो विकार हैं, वे उन्हें परेशान नहीं कर पावेंगे। ये जगत् के प्राणी यदि अपने ज्ञानसागर में डूब जावें तो उनके विकल्प समाप्त हो जावेंगे। और वे मोक्ष के मार्ग को प्राप्त करेंगे। मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ, मेरे में अन्य रूप नहीं हैं, मैं चैतन्यरूप हूँ। ऐसा मुझे अपने आप को मानना है। इसमें ही मेरी सवार्थसिद्धि है।

कल्पना यत्र भासन्ते सोऽहं नास्थिरकल्पनाः ॥

श्रद्धामृतं पिवानीदं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२-५॥

अर्थ— जहाँ कल्पनाएं भासमान होती हैं वह मैं हूँ परन्तु अस्थिर कल्पनाएं मैं नहीं हूँ। इस श्रद्धा रूप अमृत को पीऊँ और अपने में अपने लिये स्वयम् सुखी होऊँ।

जहाँ कल्पनायें प्रतिभासित होती हैं वह तो मैं हूँ, किन्तु ये अस्थिर कल्पनायें मैं नहीं हूँ। इस श्रद्धामय अमृत को पीऊँ और मैं अपने में अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ। इस जगत् के प्राणियों को कल्पनामात्र से ही क्लेश होते हैं। जो कुछ वे कल्पनायें बना लेते हैं, उन्हें सत्य दीखती हैं। पर ये सत्य नहीं होती

हैं। उन कल्पनाओं से उन्हें क्लेश होते हैं। जैसे सोते हुए व्यक्ति को स्वप्न में सब बातें सही दिखती हैं वह उस स्वप्न में आनन्दमग्न हो जाता है, परन्तु ये सब बातें सही नहीं होती हैं। जैसे सिनेमा के पर्दे में चित्र उछलता है पर्दा नहीं उछलता है। पर्दा का स्वरूप चित्र नहीं हो जाता है। पर्दा तो वही है जिस पर चित्र उछल गए। अपने में यह भावना बनाओ कि मैं चैतन्यमात्र हूँ, मेरे में सुख दुःख नहीं है, सुख दुःख आदि विकार तुझ में उछल जाते हैं, पर मैं तो चैतन्य शक्तिमात्र आत्मतत्त्व हूँ। मैं सबसे निराला हूँ मेरे में मोह नहीं है। मैं तो अविनाशी तत्व हूँ, मिटने वाला नहीं हूँ, ऐसी श्रद्धा है आत्मन् तू अपने आप में बना।

हे आत्मन्, यदि तू अपने आपको सबसे निराला, शुद्ध अविनाशी समझे तो तुझे अविनाशी सुख प्राप्त होंगे, तेरे में कभी आकुलतायें व्याकुलतायें नहीं आवेंगी और यदि तूने अपने आपको इसके विपरीत समझा, मैं तो संसार के समस्त प्राणियों से मिला हुआ हूँ, यह मेरी मां है, यह मेरा भाई है, यह मेरी बुआ है यह मेरे फूफा है, ऐसी श्रद्धा में तो उनको कष्ट ही रहेगा, मैं तो जैसा हूँ वैसा ही सदा बना रहने वाला मैं हूँ। अन्य अन्य रूपों में नहीं हूँ यदि तू अपने को अन्य रूपों में मानेगा तो तुझे क्लेश प्राप्त होंगे और यदि अपने को भगवान जैसा स्वभावस्वरूप में मानकर अपने में ही रम गया तो तुझमें आकुलतायें व्याकुलतायें नहीं आवेंगी।

मैं ज्ञानमात्र हूँ, सबसे निराला हूँ, ऐसा अपने आपको निरखो। तू अपने को भगवत्स्वरूप मान, इस तेरे में तो कोई विकार ही नहीं दीखते हैं। तू तो निर्विकार है तेरे में दुःख कहां है। तू तो सदा सुखी है। दुःखों का रंच भी तेरे में नहीं है। तू अपने को शुद्ध चैतन्यमात्र समझ, अपने आपको भगवान स्वरूप मानकर अपनी ही अन्तरआत्मा में रम और अपने में अपने लिए अपने आप सुखी हो।

देखो भैया ! जो आत्मा है वह स्थिर व एक स्वरूप है उसमें जो अस्थिर व अनेक स्वरूप भाव झलकते हैं वे औपाधिक हैं, वे कल्पनायें हैं नहीं हूँ। किन्तु जिस पदार्थ में कल्पनायें प्रतिभासित होती है वह मैं हूँ। जैसे फिल्म का चित्र सिनेमा का पर्दा नहीं है किन्तु जिस पर चित्र उछलते हैं वह पर्दा है। यह मात्र लौकिक दृष्टान्त हैं। मैं निज की समस्त पर्यायों का स्रोत हूँ किन्तु किसी पर्यायमात्र मैं नहीं हूँ। जो पर्यायमात्र अपना अनुभव करे वह परसमय अर्थात् मिथ्यादृष्टि है। इसी का अपरनाम पर्यायबुद्धि है और जो चैतन्यात्मक ध्रुवस्वभावमय अपने को अनुभव करे वह स्वसमय अर्थात् सम्यग्दृष्टि है। अपने सहज स्वरूप मात्र अपनी श्रद्धा करना सो परमार्थ अमृत का पान करना है, इस अमृतपान से आत्मा अमर व अनुपम आनन्दमग्न हो जाता है, आनन्द तो यहीं इस आत्मा में है, सो मैं अपने को सहज चैतन्यस्वरूप मात्र निरख कर निर्विकल्प हो अपने में आप सुखी होऊँ।

भैया ! पर की अनुरक्ति में पर से कुछ मिलता ही नहीं है और कभी भी कुछ मिल ही नहीं सकता है प्रत्युतम हानि ही हानि है विकल्प और संक्लेशों के संताप में भुनना पड़ता है। गइराई से विचार करो तो ये कल्पनायें न तो आत्मा का तत्व है और न उपाधिका (प्रकृति का) तत्व है। ये कल्पनायें अध्रुव

हैं, आत्मा के स्वभाव रूप नहीं हैं अतः आत्मा के (पुरुष के) तत्त्व नहीं और कल्पनायें जड़ उपाधि के परिणमन ही नहीं अतः उपाधि के तत्त्व नहीं। इसी कारण कल्पनाओं को मायाजाल कहते हैं। कल्पनाओं को जिन्होंने आत्मरूप से नहीं स्वीकारा, बल्कि कल्पनाओं से पृथक् ज्ञायकस्वभावमात्र में अपने में हूँ इस श्रद्धामृत का पान किया वे अमर होते हैं, वे स्वरूपमय हैं, अपने में अपने द्वारा अपने आप सुख का अनुभव करते हैं।

भिन्नदर्शी भवेद्भिन्नः संकरेण च संकरः ।

तत्त्वतः सर्वतः प्रत्यक् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२-६॥

अर्थ- जगत् से अपने को भिन्न देखनेवाला भिन्न हो जाता है और संकर (मिश्रित) की चाहवाला संकर हो जाता है तत्त्व से मैं सर्वसे विविक्त (पृथक्) हूँ उस विविक्त अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

हे आत्मन्, तुझे जगत् से न्यारा बनना है या जगत् से मिला हुआ रहना है। पहले तो इसका निर्णय कर जगत् से न्यारा रहने की स्थिति कैसी होगी तो देखो वहाँ न कुटुम्ब है, न शरीर है, न क्रोध है, न मान है, न माया है, न मोह है, न कषाय है, न इच्छा है, न व्याकुलता है, न आकुलता है, केवल ज्ञानमात्र निराकुल, शांत, तेरी स्थिति होगी। यदि जगत् से मिला हुआ रहना है तो उसमें स्थिति कैसे होगी? कुटुम्ब, परिवार, मित्रजन, समागम, प्रशंसा, निन्दा, कभी बड़ा बन जाय, कभी छोटा बन जाय और फिर मरकर मनुष्य हो सकता है और यदि मनुष्य न हो पाया तो कहीं नरक हो जाय, कहीं तिर्यञ्च हो जाय, कहीं निगोद हो जाय, कीड़ा, मकोड़ा बन जाय, उसका कोई भरोसा नहीं कि वह क्या न बन जावे, निम्न शरीर मिला तो कुछ सोचने समझने की शक्ति नहीं मिलती है; जगत् से मिला हुआ रहने पर देखो भाई ऐसा हो जाता है।

अब तो निर्णय कर लो कि इस संसार से न्यारा रहना है या जगत् से मिलकर रहना है। यदि मुझे जगत् से भिन्न रहना है तो अपने को जगत् से भिन्न देख और यदि अपने को जगत् में मिला हुआ रखना है तो अपने को जगत् से मिला हुआ देख। यदि जगत् से मिला रहता उसे संकर कहते हैं तो तू अपने को जगत् से भिन्न रखने का प्रयत्न कर। जगत् से भिन्न रखने का एक सही उपाय यह है कि तू अपने को जगत् से भिन्न देख। जो अपने को जगत् से भिन्न देखता है वह भिन्न हो जाता है, और जो अपने को संकर याने जगत् से मिला हुआ मानता है वह संकर अर्थात् जगत् से मिला हुआ रहता है। भाई कल्याण का बड़ा सरल उपाय है। केवल अन्तर में अपने आपको मानना है कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, निर्मल हूँ, जगत् से न्यारा हूँ। भाई अपने आप में ऐसी दृष्टि बनाना कुछ कठिन है क्या? अरे यह तो अत्यन्त सरल है मगर अंतरंग संयम चाहिए। अपनी अंतरंग आत्मा को संयत कर सको ऐसा ज्ञान चाहिए। देखो भैया ! तू कमाने वाला है क्या? हजारों रुपयों का मुनाफा मिलता तो वह तेरी करतूत है क्या? कभी-कभी बड़े-बड़े सेठ लोगों को देखा होगा कि उनके पास लाखों रुपयों की सम्पत्ति होती है। बतलाओं कि उनके पास सम्पत्ति कैसे आ जाती है। पहिले वे शुद्ध मार्ग के प्रेमी थे व अब वे धर्म का कार्य करते हैं, दान करते हैं तो उनके पास करोड़ों का धन आ जाता है। उन्हें परिश्रम नहीं करना

पड़ता है। और दूसरे वे लोग जो गरीब हैं, जो दूसरों को गाली देते हैं, अधर्म का कार्य करते हैं, वे लोग बड़ा परिश्रम करते हैं फिर भी सम्पत्ति हाथ में नहीं आती है। धन का आना पुण्योदय पर निर्भर है। उन व्यक्तियों को देखा होगा कि अचानक ही अपने आप धार्मिक सत्संग के पास चले जाते हैं। अपने घरदार की फिक्र नहीं करते हैं। फिर भी उनको लाखों रुपये की आय हो जाती है। पुण्यहीन आसक्तजन दुकान पर बैठे ही रहें तो क्या इससे कमाई हो जायेगी। नहीं हो जायगी। कमाई तो पुण्य से होती है। अपना कर्तव्य समझकर अर्थ पुरुषार्थ का उचित समय पर कार्य करें और धर्म का लक्ष्य करें तो ऐसी स्थिति में पुण्यवृद्धि होती ही है, तो कमाई होती ही है, और वर्तमान में भी पुण्य धर्म से चलते हैं तो लम्बे समय तक सम्पत्ति साथ रहती है। लक्ष्मी की चिन्ता में अपने को अधिक फँसाने की जरूरत नहीं है। गृहस्थ को तो यह देखने की आवश्यकता है कि उसके भाग्य से जो आता है उसके ही भीतर वह गुजारा बनाए। लोग इज्जत करते हैं तो इज्जत करने के लिए उनके पास पोजीशन चाहिए और यदि पोजीशन नहीं मिलती है तो मन की बात नहीं बनती है।

लोग इज्जत रखने के लिए प्रयत्न करते हैं परन्तु इस यत्न से उनकी इज्जत नहीं रहेगी। परिवर्तनशील संसार में मौजीपन रखने का ध्यान करना अविवेक है जिस किसी प्रकार से यदि धन वैभव आता है उस पर विश्वास करना चाहिए कि वह भाग्य के उदय से निमित्त से प्राप्त होता है। अतः जो कुछ भाग्यवश प्राप्त हो जावे उस पर ही गुजारा करना चाहिए। इस तरह से जो रहे समय का सदुपयोग करे और अपने आत्मकल्याण की ओर ध्यान रखे तो वह मजे में रहेगा। हम कुछ दिन के लिए यहां हैं, सदा नहीं रहेंगे। अचानक ही चले जायेंगे। यहां के लोगों को क्या अपना मानें। अपना पूरा कैसे पड़े तथा आनन्द कैसे अपने में भरे इसकी फिक्र तू कर तो तेरा भला होगा। यदि तू अपने को जगत से न्यारा निरखे, शरीर से, कषायों से न्यारा रखे और केवलज्ञान और आनन्द को ही प्राप्त करने की दृष्टि रखे तो तेरा भला होगा। दूसरों से मुहब्बत जोड़-जोड़ कर तू कब तक गुजारा करेगा? यदि तूने इस प्रकार से अपना गुजारा भी किया तो यह मोह है। किन लटोरों खचोड़ों को तू अपना मान रहा है वे अपने नहीं हैं और देखो मोह का माहात्म्य कि जिनसे मोह होता है वे निकृष्ट भी हैं तो भी अच्छे लगते हैं। उनमें कुछ ज्ञान नहीं है, उनमें दुर्गुण हैं, वे सब स्वार्थी हैं, गर्जी हैं, उनसे अपना कल्याण नहीं है, फिर भी उनमें मोह है, उनकी आकुलता होना निश्चित है, जिनकी दृष्टि पर मैं ही होती है उनसे तेरा क्या पूरा पड़ेगा। अरे ! उन भटकने वालों से अपना सम्बन्ध न स्थापित करो। उनसे तुम्हें कुछ नहीं मिलेगा। तुझे संसारी ही रहना है तो तू संसारी ही अपने को देख। यदि तू शंकर बने रहने को चाहता है तो बाह्य पदार्थों में ही तू अपनी रुचि बना, तू अपने को बाह्य पदार्थों से मिला जुला रख। यही तेरा संसारी बने रहने का मुख्य उपाय है।

भैया ! अगर अपने को जगत से न्यारा रखना है तो तू अपने को जगत से न्यारा निरख आनन्द तो तेरे में ही है। तुझे आनन्द कहीं बाहर से नहीं लाना है, तू अपने को यह समझ कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, इसके आगे मैं और कुछ नहीं हूँ, इस भावना से ही तेरे में तेरा सब कुछ आयगा, तू जगत के अन्य प्राणियों से भिन्न हो जायगा।

मेरे में क्या है? मेरे में सब कुछ है। मेरे में ज्ञान है, वह ज्ञान ही सब कुछ है। ज्ञान की विचित्र कला से ही देखो—यहाँ राग है, मोह है, शोक है, ज्ञान का अंधेरा है, ज्ञान का उजेला है, यह सब ज्ञान के ऊपर ही निर्भर है। बड़ी-बड़ी विपदाओं के सामने यदि ज्ञान से काम लें तो विपदायें दूर हो सकती हैं। ज्ञान के बिना आकुलतायें व्याकुलतायें दूर नहीं होती हैं। कल्पनायें करके ही विपदा बना ली जाती है। देखो कोई एक नौजवान लड़का है। अभी अभी चार-छः वर्ष शादी के हुए हैं, दोनों में परस्पर प्रीति है। एक दूसरे के जीवन आनन्द से व्यतीत हो रहे हैं याने दोनों ही एक दूसरे के इष्ट बने हैं। और यदि स्त्री किसी कारण से गुजर जाती है तो स्त्री के पीछे उस पुरुष को कितना क्लेश होगा? वह पुरुष यह समझ लेगा कि हाय मेरे लिए सब कोई मर गया। इस प्रकार से वह व्यक्ति २४ घण्टे दुःखी होता रहेगा।

यदि वह व्यक्ति अपना ज्ञान बनावे अथवा उस व्यक्ति का ज्ञान जाग जाय कि अरे ये स्त्री पुत्र वगैरह मेरे कहीं कुछ नहीं हैं, सब अपना-अपना अलग-अलग अस्तित्व रखते हैं, उनसे मेरा परमाणु मात्र भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसा यदि यथार्थ ज्ञान जग जाय तो उसकी विपदायें समाप्त हो जावें। बाकी अन्य उपायों से विपदायें समाप्त नहीं हो सकती हैं। चाहे दूसरी शादी की बात चलने लगे, धन दौलत मिल जाय, जेवर गहना मिल जाय, सारी चीजें मिल जावें, मगर जो इष्ट उसके दिल में बस गया है उसकी कल्पना उसे दुःख देती रहती है। उसका केवल ज्ञान जग जाय तो सारी विपदायें समाप्त हो जावेंगी व्यापार में भी ऐसा ही होता है, कोई समय ऐसा आवे कि चारों तरफ से नुकसान हो जावे, तो चारों तरफ से नुकसान होने पर उस व्यापारी को दुःख हो जाता है कि हाय मैंने कितनी कमाई की, सब चला गया, नुकसान हो गया। अरे व्याकुल हो जाने से क्या धन वापस लौट आयेगा। क्या उस नुकसान होने वाले धन को कोई वापस कर जायगा। अरे नहीं कोई धन वापस नहीं दे जायगा। उल्टे लोग तो उसे लूटने की सोचते हैं और सोचेंगे।

दुःख दूर करने का उपाय तो यह ज्ञान ही है जिस ज्ञान से यह जाना कि वह तो भिन्न चीज है। तू उस धन की चिन्ता न कर, अरे तुझे तुझसे बाहर कोई शरण नहीं मिलेगी, तू व्यर्थ में शोक मत कर, तू व्यर्थ में मत घबड़ा, तेरे शोक करने से तुझे लाभ नहीं मिलेगा, तुझे तो केवल तेरे ज्ञान से लाभ मिल सकता है। ज्ञान को छोड़कर अन्य किसी चीज से लाभ नहीं प्राप्त होता है। अरे मुझे पार कौन कर देगा? जिस भगवान की हम उपासना करते हैं क्या वह हमें पार कर देगा। भगवान की उपासना करके अपने स्वरूप को पहिचानो अपने आप के स्वरूप को निर्मल बनाओ तो यह निज भगवान तुम्हें पार कर देगा और तुम पार हो जावोगे।

भैया ! हमारे आयार्यों ने हम लोगों को करुणा करके समझाया है कि तू तो पवित्र ज्ञानमय है, तेरे में तो कोई क्लेश है ही नहीं, तू तो सर्वोत्कृष्ट है, दुःखी क्यों हो रहा है? अरे इन बाहरी पदार्थों में जिनमें तू दृष्टि डालता है वे सब असार हैं, अहित करने वाले हैं, भिन्न हैं। इसलिए जब कभी पर में दृष्टि होगी तब क्लेश होंगे। वे परपदार्थ तेरे लिए शांति के कारण नहीं होंगे। तू उनके लिए क्यों मरता है? अपने स्वरूप को तो देखो। तू तो परमार्थ स्वरूप है। अपने आपको देख तो प्रभु हो जायगा। भैया!

बतलाओ तो जरा कि अपने आपको जगत में सब पदार्थों से निराला मान लेने में क्या बिगाड़ हो जायगा? अपने को सबसे निराला मान लें तो तेरे सभी दुःख समाप्त हो जायेंगे। ठीक-ठीक ज्ञान कर लें तो सारे दुःख दूर हो जावेंगे। यदि इसके विपरीत तूने अपने में आपका ज्ञान न किया, भीतर में ज्ञान का अंधेरा ही रहा तो आजीवन तुझे क्लेश ही रहेंगे और तू जगजाल में फंसा रहेगा। तू अपने को निर्मल देख, अपने में ज्ञान उत्पन्न कर ज्ञानमात्र आत्मस्वरूप के लक्ष्य में हमें अविनश्वर आनन्द मिलेगा।

भगवान की वाणी एक आध घण्टे पढ़ लिया, सुन लिया और बाकी समय मोहियों के संगम रहते हैं तो फिर वे ही सोँचे कि अपने को कैसे सम्हाला जायगा। उनको तो वे मोही प्राणी ही रुचते हैं। उनके लिए वे ही सब कुछ हैं। भयानक विपत्तियाँ उन मोहियों से मिलती हैं फिर भी वे उन्हीं मोही प्राणियों के पास दौड़ते हैं। और जिनसे अपना उद्धार होगा उनको पहिचानते भी नहीं हैं। जो अपने को शुद्ध आत्मतत्त्वरूप देखेगा वह शुद्ध बन जायगा। मैं मनुष्य हूँ, मैं अमुकचन्द हूँ, मैं फलां हूँ, ऐसी दृष्टि अगर बन गयी तो क्रोध, मान, माया, मोह इत्यादि ही बढ़ जावेंगे और अहंकार भीतर आ ही जायेगा। इस प्रकार से मैं अशुद्ध बन जाऊंगा। हे आत्मन् ! तेरे ऊपर कूड़ा लदा है। तू इस कूड़े की फिक्र मत कर। तू अपने में विद्यमान ज्ञान के उजले को सम्हाल, अपने को देख कि मैं सबसे निराला ज्ञानमात्र हूँ। तू अपने को यदि ज्ञानमय देखेगा तो तेरे सारे क्लेश सारी विपदायें, सारे कूड़े खत्म हो जायेंगे। तू अन्य की चिन्ता न कर। तू तो अपने भीतर को शुद्ध देखने का पुरुषार्थ कर।

भैया ! जो अपने को शुद्ध देखता है वह शुद्ध हो जाता है और जो अपने को अशुद्ध देखता है वह अशुद्ध हो जाता है। बहुत सी चीजें मिल जायें फिर भी किसी जीव में किसी दूसरी चीज का प्रवेश नहीं। एक बोरे में गेहूँ, चना, मटर इत्यादि मिल गये हैं फिर भी वे सब न्यारे हैं। सब न्यारे-न्यारे हैं। समुदायों को देखकर कहते हैं कि मिल गए हैं, पर उनके स्वरूप को देखें तो सब न्यारे हैं। और भी चीजें देखें जैसे कि दूध और पानी मिल गया हो तो समुदाय में कहते हैं कि दूध और पानी मिल गया, पर दूध अलग है और पानी अलग है। दूध में दूध है और पानी में पानी है। अब भी दूध में पानी नहीं मिला और न पानी में दूध मिला। सब न्यारा-न्यारा है। यद्यपि यहां जीव शरीर से न्यारा नहीं रहता है, क्योंकि यदि हम चाहें कि शरीर यहीं रहे और मेरा आत्मा किसी के पास पहुँच जाय तो आत्मा शरीर छोड़कर आगे नहीं पहुँच जायगा। तो भी शरीर में शरीर है और आत्मा में आत्मा है। इस विज्ञान को जानना अधिक कठिन नहीं है। केवल भेदज्ञान का यंत्र चाहिये, पता चल जावेगा। जैसे दूध और पानी को अलग-अलग समझ लिया जाता है। इसी तरह मिले हुये शरीर और आत्मा को आत्मा और शरीर को पृथक् निज-निज स्वरूप में समझने का यंत्र चाहिये। वह है क्या? प्रज्ञा स्वरूप की दृष्टि और स्वलक्षणदृष्टि।

भैया ! इन्द्रिय संयत कर लो। इन्हीं की उद्वण्डता से बरबादी होती है इन्द्रियों को संयत करके अपनी अन्तर आत्मा में चला जा, अपने आपका ध्यान कर, ऐसा निर्विकल्प ध्यान कि इस शरीर का भी ध्यान न रहे, इन इन्द्रियों का भी ध्यान न रहे तो अनुपम सुख प्राप्त होगा। तू इन्द्रियों को निःसंकोच उपयोग से त्याग दे। किसी भी इन्द्रिय का रंच भी कार्य न रहे तो तुझे तो तेरा स्वलक्षण साक्षात् ज्ञात हो जायगा

कि जो केवल ज्ञान का वर्णन है वही तो तेरे स्वरूप का वर्णन है। तू अपने स्वरूप को पहिचान ले तो तू प्रभु हो सकता है। जिन्होंने जगत से भिन्न अपने को देखा है वे जगत से भिन्न होकर भिन्न ही चलते रहेंगे। और जो अपने को मिला हुआ देखता है कि मैं अमुक हूँ, मैं साधु हूँ, मैं ऐसा बलिष्ठ हूँ, यह गृहस्थ है, यह साधु है, यह मनुष्य है, घर में रहता है, श्रावक है इत्यादि, तो वह इस जगत से मिला हुआ ही चलता रहेगा। और आजीवन ही उसको क्लेश रहेगा। जो व्यक्ति अपने को सबसे मिला हुआ समझता है वह सबसे बोलता चालता है, देखता है सुनता है, सबसे सावधानी से मिलता है, पर आत्मकल्याण की फिक्र नहीं करता है, वह इसी कारण जीवनभर दुःखी रहता है अगर भीतर के सत् में स्वयं निरखें कि मैं तो सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र, शुद्ध हूँ तो हमारी यह दृष्टि वह चिनगारी है जो कि विपदाओं के कर्मों के पहाड़ों के पहाड़ों को जला सकती है। यह एक छोटी दृष्टि, सूक्ष्म दृष्टि है, मगर वह इतनी चमत्कारिणी है कि वह सारे पहाड़ों को भस्म कर सकती है। यदि इतनी अपनी बात को समझाल लिया कि मैं जगत से निराला ज्ञानमात्र, अपनी स्वरूप सत्तामात्र त्रैकालिक शक्ति को लिए हूँ तो हे प्रियतम तू प्रभु बन जायगा।

तेरा प्रीतम आत्मा है। आत्मा को छोड़कर अन्य कोई तेरा प्रिय अधिक नहीं है। कितने ही तो धर्म की खातिर सब कुछ छोड़ देते हैं। सीता जी, अग्निपरीक्षा में उत्तीर्ण हो गयीं। जब वे अग्नि में कूद रही थीं तब क्या ऐसा विचार हो सकता था कि हम बच जावें तो फिर घर में आनन्द से जावें, उनकी तो धर्म में प्रीति थी। सब कुछ छोड़कर एक आत्मधर्म में रुचि थी। हमारा घर छूटा जा रहा है इस विकल्प की सम्भावना भी नहीं थी। उनके लिए तो धर्म ही प्रिय था। वह सोचती थीं कि यदि बच जाऊंगी तो धर्म से ही रहूंगी। धर्म के मायने है स्वभावरमण, सही स्वरूप को जानने व उसमें रमने का नाम ही धर्म है। प्रीतम तुम्हारा कोई नहीं है। तुम्हारी आत्मा ही तुम्हारा प्रीतम है।

देखो भगवान की भक्ति से भगवान के सब विशेषण लगते हैं। हे भगवान, हे प्रियतम, हे प्रिय, हे साइयां तो भजन में ही इन्हीं शब्दों को कहकर भगवान के गुण गाया करते हैं। भगवान और आत्मा में भेद क्या है? स्वभाव को देखो कुछ भी भेद नहीं। तो यह आत्मा ही तुम्हारा बालम है, तुम्हारा सैया हैं, तुम्हारा प्रियतम है, तुम्हारा सर्वस्व है। और हे आत्मन् ! इस दुनिया में तेरा कुछ नहीं है। सबसे निराला अपने आपको देखो। यदि सबसे निराला इस जगत में तू अपने आपको नहीं देखता है तो इस संसार में तू रुलेगा।

अब देखो जिसकी कल्याण में लगन लगी है उसको दूसरी चीज सुहाती नहीं। हे आत्मन् तुझे तो कल्याण चाहिए। तेरा काल्पनिक लौकिक वैभव चाहे लुटता हो, परवाह न करना चाहिए। ज्ञान की बात को ज्ञानी ही समझ सकता है और अज्ञानी ज्ञान की बातों को नहीं समझ सकता है। ज्ञानी व्यक्ति मोही व्यक्ति को भी परख सकता है पर मोही तथा अज्ञानी व्यक्ति मोही को भी नहीं परख सकते हैं और ज्ञानी को तो परखेंगे ही क्या? देखो ये दो भैया भिण्ड से आए हैं। जैसे कोई तो पर्व को घर से निकलता है फिर पर्व के बाद घर जाता है किन्तु हमको तो सभी दिन पर्व के दिन हैं। ये सिखा रहे हैं आपको

कि परवाह न करो, घर का काम तो चल ही जायगा उसकी चिन्ता न करो। अगर तुम चिन्ता न करोगे तो क्या तुम्हारे घर काम नहीं चलेगा? चिन्ता न करो घर का काम तो चलेगा ही, जैसा चलना होगा। चिन्तायें नहीं करनी चाहिये। चिन्तायें करने से नुकसान है। भीतर से जब आत्मकल्याण की भावना रहे तो शांति प्राप्त हो सकती है।

सुकुमालं स्वामी मकान से चले। जिसका शरीर ऐसा सुकुमार था कि कमल की बास में पहुंचने वाले चावल ही जिसके गले से निगले जा सकते थे, जिसको रोशनी देखते ही आंसू आ जाते थे, ऐसे सुकुमार जब विरक्त हुए, घर से चले, नंगे पैर चले जा रहे थे, खून बह रहा था। अब उनके लिए वैभव, वैभव नहीं रहा। वे साधु हो गए। ध्यान में वे बैठ गए ऐसी सुकुमार अवस्था थी जब कि इन्होंने अपने शरीर को तपस्या में लगा डाला था और देखो अन्त में उनको एक स्यारनीने खाया। क्या उन्हें कष्ट था? नहीं कोई कष्ट नहीं था। यदि कष्ट मानते हो तो कष्ट है और यदि कष्ट न मानो तो कष्ट कहीं नहीं है। अरे देखो रात दिन कितने गृहस्थी में संकट सहते हैं, किन्तु कष्ट नहीं मालूम होते हैं पर धर्म के कामों में कष्ट मालूम होते हैं। जहां मन नहीं लगता है वहां कष्टों का नाम लगता। धर्म का काम जहां पर हो रहा हो वहां बैठने में ही मोही आत्मा परेशान हो जाता है। जहां थोड़ा सा भी समय हो गया, कहते हैं कि अरे एक घन्टा हो गया, दो घन्टे हो गये। पौन घन्टे में ही जाना चाहिए था, स्वाध्याय जल्दी खत्म हो जाय तो अच्छा है। यद्यपि गृहस्थी के कार्यों में या गण्य सण्य के काम में वे आराम से घुटने टेके बैठे रहे, कोई परेशानी नहीं है, कितनी ही अड़चनें हों फिर भी उनको परेशानी नहीं होती है। आत्महित में प्रमाद किया जाता है।

भैया ! अन्दाज कर लो कि जिसका जिसके ऊपर मन रमा है, वहां चाहे कितने कष्ट हों, कष्ट नहीं हैं और जिसका मन जिस किसी में नहीं रमता है, वहां यदि कष्ट भी नहीं हैं तो कष्ट कल्पना से आ पड़ते हैं। कल्याण का उपाय सरल है। जरा अपने को ज्ञानमात्र, सबसे निराला तो देखो। अपने भीतर के स्वरूप की ओर तो देखो तो भिन्न हो जाओगे, परमात्मा हो जाओगे। यह मैं तो ऐसा ही हूँ। इसलिए अब अपने को सहज सत्य स्वरूप में देखकर अपने में अपने आप विश्राम पाऊँ। आखिर सब दुःखों से छुटकारा पाना ही तो हित है। दुःख लगे हैं पर के संग में सो परसंग से मुक्त होने के लिए पर से भिन्न अपने को देखूँ और अपने में अपने आप निराकुल होऊँ।

न मे लोको न चाज्ञातोऽनष्टो नष्टे विकल्पिते ।

तदित्यं ज्ञानमात्रोऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयं ॥२-७॥

अर्थ— लोक मेरा नहीं है और वह लोक अज्ञात भी नहीं है तथा विकल्पित भाव लोक के नष्ट होने पर मैं नष्ट नहीं होता इस प्रकार ज्ञानमात्र मैं अपने में अपने लिये स्वयम् सुखी होऊँ।

पदार्थों के जानने के प्रसंग में तीन बातें हुआ करती हैं। एक तो शब्द पदार्थ, दूसरे अर्थ पदार्थ, और तीसरे ज्ञान पदार्थ। जैसे यह चौकी है तो यह तीन तरहकी होगी। शब्द, चौकी, अर्थ चौकी और ज्ञान चौकी। घर में भी शब्द घर, अर्थ घर और ज्ञान घर ऐसे ये तीन शब्द वस्तुओं के हुआ करते हैं।

सुख यहाँ द्वितीय भाग

२३

शब्द चौकी के मायने 'चौकी' ये दो अक्षर जो कि मुख से बोला जा रहा है कि यह तो 'चौकी' है या किसी कागज पर लिख दिया जाय 'चौकी' और वे अक्षर दिखाकर अगर आपसे पूछें कि यह क्या है तो क्या कहोगे? यह कहोगे कि यह चौकी है तो यह हुआ शब्द चौकी। यह काम करने वाली चौकी नहीं है। जैसे रोटी है उसमें भी शब्द रोटी, अर्थ रोटी और ज्ञान रोटी—ये तीन प्रकार की समझनी चाहिए। किसी कागज पर लिख दें और आपसे पूछें कि यह क्या है तो आप बतलायेंगे कि यह रोटी है। यह रोटी किसी काम की नहीं है। इससे क्या आपका पेट भर जायगा, उस रोटी से क्या आपकी भूख मिट जायेगी? नहीं। वह अर्थ रोटी नहीं है। जो बनी हुई होती है, जिसको खाते हैं वह है अर्थ रोटी। ज्ञान रोटी के मायने यह है कि रोटी के बारे में जो ज्ञान हो। इसी तरह अर्थ चौकी यह है जिस पर हम पुस्तक रखते हैं और ज्ञान चौकी वह होती है जो कि चौकी के बारे में ज्ञान होता है। उस ज्ञान का नाम है ज्ञान चौकी। इस तरह पदार्थ में तीन चीजें हैं—शब्द पदार्थ, अर्थ पदार्थ और ज्ञान पदार्थ।

इसी तरह लोक को भी तीन तरह से देखो, शब्द लोक, अर्थ लोक और ज्ञान लोक। यह जितना भी लोक है, यह दुनिया जितनी है वह है अर्थ लोक। क्या अर्थ लोक मेरा है? नहीं, मेरा नहीं है, वह तो मुझसे भिन्न है, वह मेरा नहीं है। जो लोक शब्द लिखा है या लोक शब्द बोलें तो क्या वह लोक मेरा है, नहीं। यह तो केवल शब्द लिखा है। यह तो शब्द लोक है। यह शब्द लोक मेरा है क्या? नहीं, यह मेरा नहीं है। शब्द भी मुझसे भिन्न है। दुनिया के बारे में जो ज्ञान होता है वह ज्ञान लोक है। वह मेरा पर्याय है, फिर भी मेरा नहीं है क्योंकि वह विकल्प है। यह विकल्प नष्ट तो हो जाता है पर इस विकल्प के नष्ट हो जाने से क्या यह लोक भी खत्म हो जाता है। लोक खत्म होता है अपनी परिणति से। और भी समझ लीजिए—शब्द चौकी, अर्थ चौकी और ज्ञान चौकी होती है पर आपको दिखती केवल एक यह अर्थ चौकी है। चौकी शब्द बोला गया, वह क्या है, शब्द चौकी। जिस पर यह किताब रखते हैं यह क्या है? यह है अर्थ चौकी और, चौकी के सम्बन्ध में जो ज्ञान बन रहा है वह है ज्ञान चौकी। उस शब्द चौकी में हमारा कुछ लगता है क्या? वह तो शब्द है, अक्षर है, वह तो हमसे भिन्न है। क्या अर्थ चौकी हमारी है? नहीं वह हमारी नहीं है, वह हमसे भिन्न है। ज्ञान चौकी को अपनी कह सकते हो। वह विकल्पमात्र ही तो है। उस कल्पना के नष्ट हो जाने पर क्या यह चौकी नष्ट हो जाती है, नहीं। चौकी नष्ट होती उसकी परिणति से। इसी तरह यह लोक मेरा नहीं है और लोक अज्ञात है, ऐसा भी नहीं है। जानने में यह लोक आ रहा है। मगर वह जानना क्या है, विकल्प है। ज्ञान की एक पर्याय है। उसके नष्ट हो जाने पर यह लोक नष्ट हो जाता है क्या? यह सब कुछ लोक मैं नहीं हूँ मेरा नहीं है। अब मैं क्या रहा। केवल एक ज्ञानमात्र ही रहा।

अब भैया ! देखो भगवान को, तो उस भगवान की भी तीन किस्म हैं—शब्द भगवान अर्थ भगवान और ज्ञान भगवान ! मैं मुख से भगवान शब्द बोल दूँ या किसी कागज पर भगवान शब्द लिख दूँ तो वह क्या है? क्या वह भगवान है, कौन सा भगवान है? भैया ! वह ज्ञान या अर्थ भगवान नहीं है। वह तो शब्द भगवान है। अर्थ भगवान कौन है? सयोगकेवली व अयोगकेवली व गुणस्थानातीत, ये हैं अर्थ

भगवान् । जैसा भगवान् है उस भगवान् के बारे में जितना ज्ञान होता है वह ज्ञान भगवान् कहा जायगा । भगवान् के बारे में जो विकल्प होते हैं, ज्ञान होता है वह कौन सा भगवान् है? ज्ञान भगवान् है । तो आपकी भेंट क्या उस शब्द भगवान् से हो सकती है? अर्थ भगवान् से हो सकती है? नहीं । इस ज्ञान भगवान् से ही हमारी भेंट हो सकती है । भगवान् के बारे में मैं हम जान जायें और उसी जानने में हम तन्मय हो जायें तो उस भगवान् से भेंट हो सकती है । शब्द भगवान् तो अन्य पदार्थ है, उसे मैं नहीं जान सकता । मैं तो केवल ज्ञान भगवान् को ही जान सकता हूँ, उस ज्ञान भगवान् को ही पूछ सकता हूँ । मैं ज्ञान भगवान् की ही भक्ति किया करता हूँ । मैं शब्द भगवान् तथा अर्थ भगवान् की भक्ति नहीं करता हूँ, और न कर सकता हूँ ।

कुटुम्ब की बात देखो । पुत्र में भी शब्द पुत्र, अर्थ पुत्र और ज्ञान पुत्र होते हैं । जरा शब्द पुत्र से कहो कि एक गिलास पानी दो तो क्या वह ला देगा । अरे वह तो किसी कागज पर पुत्र शब्द लिखा है या बोला हुआ शब्द है, सो वह सब पुद्गल है । वह कैसे पानी ला देगा? अब जरा अर्थ पुत्र को देखो जो कि घर में बैठा है, जो दो हाथ, दो पैर वाला है, जो पुत्र आपके घर में जन्मा होवे, वह है अर्थपुत्र । ज्ञानपुत्र वह है जो पुत्र के बारे में ज्ञान बनावे । आप यह बतलाइए कि शब्द पुत्र से आप मोह करते हैं कि अर्थ पुत्र से या कि ज्ञान पुत्र से आप मोह करते हैं । अरे शब्द पुत्र से तो तू मोह करेगा कैसे? क्योंकि वह तो भाषावर्णणारूप पुद्गल चीज है, उससे तू तन्मय नहीं हो सकता । आप तो अपने ज्ञान पर्याय में तन्मय हैं । पुत्र शब्द से तू मोह करेगा नहीं । तो क्या तू अर्थ पुत्र से मोह करता है जो घर में बैठा है । वह भी अन्य पदार्थ है उसमें भी तेरी पर्याय नहीं पहुंचती । उससे भी तू मोह नहीं करता, और न कर सकता है, क्योंकि वह तो भिन्न पदार्थ है । अर्थ पुत्र से भी तू मोह नहीं कर सकता । फिर किससे तू मोह करता है । पुत्र के बारे में जो विकल्प बनाया, जो ज्ञान की परिणति बनायी उस ज्ञानपुत्र से ही तू मोह करता है । इस तरह से आप ज्ञान पुत्र से मोह करते हैं अर्थात् पुत्र के बारे में जो आपको विकल्प होते हैं उन विकल्पों से आप मोह करते हैं, उन विकल्पों को आप मोह से करते हैं । पुत्र से मोह नहीं करते हैं । यह यथार्थ बात कही जा रही है । यह भी समझने की चीज है जिससे कि मोह घटता है ।

मोह करने से ही आकुलतायें हैं । बाह्य तो बाह्य ही है । मैं तो अपने ही विकल्प में तन्मय हूँ । मैं अपने ही विकल्प से मोह करता हूँ और अपने ही विकल्प से जला भुना करता हूँ । दूसरों से मैं न राग कर पाता और न द्वेष कर पाता । मैं तो अपने आप में ही राग और द्वेष किया करता हूँ । इसी कारण मेरे विकल्प नष्ट होते रहते हैं और बनते रहते हैं । अब जरा और भी बात सोचो कि विकल्प नष्ट होने से क्या वे बाह्य पदार्थ भी नष्ट हो जाते हैं या वे बन जाते हैं? नहीं, वे तो अपने स्वरूपचतुष्टय से ही आविर्भूत तिरोभूत होते हैं । वे वे ही हैं और हम हम ही हैं । ये सारी बाह्य चीजें कुछ भी मेरी नहीं हैं । मेरा तो मात्र मैं ही हूँ यह लोक मेरा नहीं है । मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ इससे लोक अज्ञात भी नहीं है । और ज्ञान मुझसे छिपा हुआ नहीं है इस ज्ञान से जानने में सब कुछ आयेगा । जानने में आ गया

सुख यहाँ द्वितीय भाग

तो मेरे में कुछ अन्य नहीं आ जाता और जानना अगर मिट गया तो चीज नहीं मिट जाती है।

भैया ! जितने भी शास्त्र ज्ञान देते हैं उनका सार तत्व यह है कि भाई, अन्य चीज अन्य ही है और मैं मैं ही हूँ, मुझमें मैं हूँ, पर मैं पर हैं, वे सब अपने से भिन्न हैं। फिर खोटी कल्पनावें करना कि यह मेरी है, यह उसकी है, यह सब क्या है? जैसे वाह्य वस्तुओं को सुखकारी मानते हो, कल्याणकारी मानते हो तो असल में देखो तो वे ही निमित्त रूप से दुःख के कारण बन रहे हैं। कौन से ऐसे पदार्थ हैं जो मेरी शांति के कारण हैं।

एक गुरु शिष्य थे। शिष्य गुरु के पास पढ़ने आता था। एक दिन वह देर से आया। गुरु जी ने पूछा कि देर से क्यों आए? शर्मिले शब्दों में कहा कि मेरी सगाई हो रही थी। गुरु जी कहने लगे कि अब तो तुम गांव से गए अर्थात् अब तुम्हारा गांव से मोह नहीं रहा। सगाई हुई कि घर से गए। जहां सगाई की, वहीं दृष्टि गयी। अब तो तुम्हारा अपने घर से भी मोह नहीं रहा। कई दिन बाद वह शिष्य फिर देर से पहुंचा। गुरुजी ने पूछा कि देर क्यों हो गई? शिष्य ने कहा कि शादी हो गई। गुरुजी ने कहा कि अब तो तुम अपने मां बाप से भी गए। उनको तू नहीं पूछेगा। और फिर गुरुजी ने कहा कि कुछ दिन बाद में बच्चे होंगे तो तू अपने से भी जायगा। तू उन बच्चों में ही लगा रहेगा। कमायगा, खिलाएगा, उनका लालन पोषण करेगा। इस तरह तू बाहर-बाहर ही रहेगा और अपने आपको भूल जायगा। अरे ये तो बाहरी पदार्थ हैं। इनमें तू क्यों पड़ता है, इनसे तो तेरे में आकुलतायें आवेंगी, और तुझे शांति नहीं प्राप्त होगी।

भैया ! ज्ञान में यह ज्ञान है, मुझमें मैं हूँ, वाह्य में वाह्य हैं, ये सब स्पष्ट भिन्न रूपों में नजर आते हैं, सब अपना भिन्न-भिन्न अस्तित्व रखते हैं, यदि ऐसी दृष्टि आवे तो उसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञान हो और मोह दूर न हो यह नहीं हो सकता है। ज्ञान का स्वभाव ही है कि वह मोह के आवरण को हटाता है। सूर्य का जब उदय होता है तो अन्धकार हट जाता है। इसी प्रकार जब भीतर में ज्ञान उगे तो मोह का अन्धकार मिट जाता है। मोह का अन्धकार ज्ञान के उदय होने पर मिटे नहीं, यह नहीं हो सकता है। यदि मोह अभी मिटा नहीं है तो समझो कि अभी ज्ञान का उदय नहीं हुआ है। ज्ञान के होने पर राग तो कदाचित् हो जाता है पर मोह नहीं हो सकता है। राग और मोह में अन्तर है। राग उसे कहते हैं जो वस्तुओं को सुहा देवे और मोह उसे कहते हैं जो वाह्य को यह समझे कि यह मेरा है या यही मैं हूँ। वाह्य वस्तु में ममत्वबुद्धि कर लेना ही मोह है और वाह्य वस्तुयें सुहा जाने का नाम ही राग है। मोह में है अज्ञानता का अंधेरा और राग में है पर का लगाव। ज्ञान होने पर कदाचित् किसी रूप में पर में लगाव तो हो सकता है पर अज्ञानता का अंधेरा नहीं हो सकता है। यह मोह तो उत्पन्न होता है लगाव से लगाव रखने से। लगाव पर वस्तुओं में हो जाता है और उन पर वस्तुओं में लगाव हो जाने से विकल्प हो जाता है और उस विकल्प में लगाव रहने से मोह उत्पन्न हो जाता है। जिसे कहते हैं राग में राग, पर वस्तुओं में राग हो गया है, यह राग का काम है और राग में यह वासना होना कि यह राग मैं हूँ, राग से ही मेरा कल्याण है, मेरी भलाई है, यह हुआ राग का राग। राग में राग हो जाने का नाम ही

मिथ्यात्व है। यह महान् अन्धकार है। सो मैं परपदार्थ रूप नहीं हूँ परपदार्थों के विषय में होने वाला जो संकल्प विकल्प का जाल है उस रूप मैं नहीं हूँ। मैं तो अनन्त आनन्दरूप, त्रैकालिक ज्ञानस्वरूप हूँ। सो मैं अपने में आपको निरखकर अपने लिए अपने आप स्वयं अपने में सुखी होऊँ।

अब मैं कैसा हूँ, इस विषय में कहते हैं कि—

देहे स्थित्वापि न स्पृष्टो नानाकारो निराकृतिः ।

ज्ञानन् सर्वं न सर्वोऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२-८॥

अर्थ— मैं देह में ठहरकर भी देह से छुआ हुआ नहीं हूँ नाना आकार वाला होता हुआ भी निज की निरपेक्ष आकृति वाला नहीं हूँ सबको जानता हुआ मैं सबरूप नहीं हूँ इस प्रकार शुद्ध अपने में अपने लिये स्वयम् सुखी होऊँ।।

मैं देह में ठहरा हुआ हूँ फिर भी देह से नहीं छुआ हूँ। मैं उस देह से मिला हुआ भी नहीं हूँ। देह तो जड़ है। मैं चेतन हूँ, मैं अमूर्त पदार्थ हूँ। देह तो मूर्त है। तो इस मूर्त पदार्थ में एक अमूर्त पदार्थ मिल जाय तो यह कैसे हो सकता है? मिल तो मूर्त में अन्य मूर्त पदार्थ भी नहीं सकता। अतः यह आत्मा इस शरीर में रहते हुए भी शरीर से जुदा है। अरे तूने परिवार को अपना माना है, पुत्रों को अपना माना है। यह बतलाओ कि क्या वे तेरे हैं? नहीं, वे मेरे नहीं हैं। ये बच्चे जो हैं इनमें तू फंसा है। अच्छा बता, कैसे फंसा है? वे तेरे नहीं हैं और न कभी तेरे हो सकेंगे। भाई आप तो यहां मौजूद हैं। कुटुम्ब, परिवार इत्यादि कहीं के कहीं बैठे हुए हैं। आप उनसे किस तरह से बंधे हुए हैं, किस तरह से फंसे हुए हैं आप उनसे बंधे हुए नहीं हैं। आप अपने कुटुम्ब, परिवार इत्यादि से फंसे हुए नहीं हैं। केवल आपने कल्पनायें बना ली हैं और उन कल्पनाओं से ही मोह बना लिया है यही कारण है कि तू अपने को यह समझता है कि मैं परिवार में फंसा हूँ।

भैया ! अब यह ख्याल न कर कि मैं फंसा हुआ हूँ। किससे फंसे हो जरा बताओ तो। अपनी कल्पनाओं को छोड़ दे तो तू किसी बन्धन में नहीं है। मैं तो अमूर्त हूँ, चैतन्यस्वरूप हूँ तो फिर मैं कैसे फंस गया। मैंने केवल अपने आप ही विकल्प बनाकर अपने आप ही सोच सोचकर देह में स्वयं अपने को फंसा लिया है और जैसे कभी ज्ञान भी हो जाय कि यह परिवार खुदगर्ज है, अपने कषाय के साथ है, इतना ज्ञान भी हो जाय तो भी कुछ दिन और फंसे रहते हैं पूर्व वासना के कारण। पूर्व परिचय के कारण निराकुल नहीं हो पाते हैं। इसी तरह देह और आत्मा में भी भेद हो जाय, फिर भी यह आत्मा देह में बंधी रही है, पूर्व वासना के कारण। पर इससे छूटने का उपाय भेदज्ञान ही है। किसी कुमित्र से मित्रता हो जाए तो भिन्न-भिन्न वस्तु और परस्पर विरुद्ध आशय का ज्ञान कर लेना ही, उस मित्र से छूटने का उपाय है। यह मुझे ठगना चाहता है, धोखा देना चाहता है, यह हमारे साथ कपट करता है, यह हमसे झूठ बोलता है यदि इतना भी ज्ञान लेने का ज्ञान नहीं है तो फिर इसके आगे और क्या हो सकता है।

देह में ठहरा हूँ तो भी देह से छुआ हुआ मैं नहीं हूँ। देखो—इस देह के कारण, इस कर्म उपाधि के कारण मेरे नाना रूप बन रहे हैं। नाना शरीर बन रहे हैं। कहीं कीड़े मकोड़े बन गए। कहीं पक्षी बन गए। कहीं और किन्हीं रूपों में बन गए। इस प्रकार से नाना रूप विस्तार अपने आत्मप्रदेशों में भी हो जाते हैं, किन्तु जो आकारों पर दृष्टि रखते हैं वे अपने को भूल गए हैं।

भैया ! मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। अपने अपने स्वरूप को देखो कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। यह मैं ज्ञानमय आत्मा द्रव्य हूँ। इसका आकार है, इसका क्षेत्र है। परन्तु इस क्षेत्रदृष्टि से आत्मा का परिचय नहीं हो सकता है। आत्मा का परिचय तो आत्मा के अन्तर्गत लक्षण की दृष्टि से हो सकता है। आत्मा कहते किसे हैं? जो जाननहार है उसे आत्मा कहते हैं। मैं सबको जान रहा हूँ मगर मैं सब रूपों में नहीं हूँ। अभी मैं इतनी चीजें जान रहा हूँ तो क्या इतना जानने से मैं इन रूपों में हो गया हूँ। नहीं सिनेमा के परदे पर कितने ही चित्र उठ जाते हैं तो क्या परदा उतने रूप है? नहीं, वह परदा तो स्वच्छ है। इसी तरह इस आत्मा में सब रूपों की झलक आ जाने से यह आत्मा सब रूप हो गया है क्या? नहीं मैं तो मैं ही हूँ। ये सब ये ही हैं। अन्य सब मैं नहीं हूँ। मैं सबको जानता हूँ फिर भी मैं इन सब रूप नहीं हूँ। मैं तो सबसे निराला, ज्ञानमात्र अपने को निरखता हूँ। यही ज्ञान इतने ज्ञान के बिना ही बुद्धिरूप बनकर बाहर घूमता है, सो बाहर में ही बुद्धि फँस जाती है। बाहर में बुद्धि फँस जाने से आकुलतायें हो जाती हैं। मैं सबसे निवृत्त होकर केवल अपने आपके स्वरूप को देखू तो वहाँ कोई क्लेश नहीं है। सब हैं तो सब रहें। मैं तो मैं ही हूँ। यह दुनिया तो मोह का स्वप्न है। स्वप्न में देखी हुई चीजें जैसे झूठ नहीं मालूम होती हैं उसी प्रकार मोह में प्रतीत हुई चीजें झूठ नहीं मालूम होती हैं, पर जैसे स्वप्न के बाद जग जाता है तो सब चीजें झूठ मालूम होती हैं। उसी प्रकार मोह के दूर होने पर सम्यक्त्व हो जाता है और इस सम्यक्त्व के हो जाने से पर पदार्थों के प्रति ठीक ठीक ज्ञान हो जाता है, सत्य और असत्य का निर्णय हो जाता है तब ये पर पदार्थ झूठ मालूम होते हैं।

देखो भैया ! विचित्रता की बात कि यह सबको तो जानता है, पर इसे अपनी जानकारी नहीं है। यह जो जानने वाला पदार्थ है वह स्वयं क्या है, इसको यह नहीं जान रहा है। तो मोक्ष का मार्ग मिल जायगा क्या? सब ग्रन्थों में आत्मा के ज्ञान की महिमा माई गई है। मैं अपनी आत्मा को सर्वस्व मानकर इसमें ही रम जाऊँ जो पूर्णतया ज्ञान व आनन्द होगा। जैसे लोग कहते हैं कि हे भगवान, हे अल्लाह, हे खुदा तो यहां पर अत्यः संस्कृत का शब्द है। अर्ह पूजायां धातु से अरहंत और अल् पूजायां धातु से अत्यः बना है। अल्लाह के मायने भगवान से है। अर्हन्त का अर्थ है पूज्य और अत्य का अर्थ भी पूज्य है। खुदा के मायने खुद अपने आप में बसा हुआ।

तो भाई यह आत्मा सबको जानता तो है मगर उन सब रूपों में नहीं है। ऐसा मैं शुद्ध चैतन्यमात्र अपने आपको निरखूँ और अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

विभक्तैकत्वबोधस्य न स्पर्शः पुण्यपापयोः ॥

सैववस्तुस्थितिर्मेऽस्तु स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२-६॥

अर्थ- सर्व से विभक्त और अपने में एकत्व के बोध वाले मुझ आत्मा के पुण्य व पाप दोनों का स्पर्श नहीं है अहो वही वस्तु स्थिति मेरी होओ जिससे मैं अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ ।

इस आत्मा को कहते हैं विभक्त एकत्व । एकत्व का अभिप्राय यह है कि यह आत्मा अपने आपके गुणपर्यायों में तन्मय है । अपने ही स्वरूप में तन्मय है, स्वयं सर्वस्व है और विभक्त का अर्थ है कि जगत के अन्य सब पदार्थों से अत्यन्त जुदा है । जगत में पदार्थ अन्य हैं कितने? अनन्त तो पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य, इन सबसे यह आत्मा जुदा है और अपनी आत्मा को छोड़कर जगत में जितनी भी आत्माएँ हैं उन सबसे भी जुदा है । केवल अपने आप में तन्मय हैं । इसे कहते हैं एकत्व विभक्त । इस मुझ आत्मा में पुण्य और पाप का स्पर्श भी नहीं है । जब मैं अपने सहज स्वरूप को देखता हूँ तो पहले मेरी सहजसत्ता किस प्रकार है, यह अपने इस प्रकार के मर्म को देखता हूँ तो उस एकत्वविभक्त निज आत्म-पदार्थ में पुण्य पाप कोई नहीं है । कोई प्रकार का विकार नहीं है । स्वभाव में कोई विकार नहीं हुआ करता है ।

भैया ! जैसे गंदा जल है ना । वह कचड़ा मिला हुआ है । अगर जल के स्वभाव को देखो अर्थात् जल का स्वरूप अपनी सत्ता के कारण कैसा है इस बात को देखो तो क्या गंदा नजर आवेगा? नहीं, गंदा नहीं नजर आवेगा । वह तो निर्मल है, अर्थात् जल का स्वभाव तो बिल्कुल स्वच्छ है । इसी तरह इस गंदी आत्मा में रहने वाली आत्मा को १४ प्रकार के जीव समासों में रहने वाले इस जीव को स्वभावदृष्टि से देखें तो क्या कोई विकार नजर आवेगा? नहीं । वह तो शुद्ध ज्ञायकमात्र नजर आवेगा अथवा और भी जितनी विभाव पर्यायें हैं गति चार, इन्द्रिय पांच, काय सात, योग पन्द्रह, कषाय पच्चीस और ज्ञान सात (मति, श्रुत, अवधि, मन्पर्यय, कुमति, कुश्रुति, कुअवधि) इत्यादि सभी पर्यायों में भी स्वभाव से ज्ञायक ही है । स्वभाव दृष्टि में तो केवल ज्ञान भी नजर नहीं आता है । वहां तो केवलज्ञानस्वभाव ही है । परन्तु केवलज्ञानस्वभाव ही है । परन्तु केवल ज्ञान स्वभाव पर्याय है । इस कारण स्वभावविकास गुण के सदृश देखा जाता है । इसी प्रकार अन्य अन्य स्थानों में देखो तो यह कोई विकार नजर नहीं आता है । ऐसा एकत्वभाव मैं हूँ ।

मैं लड़कों वाला हूँ, घर वाला हूँ, जानने वाला हूँ, ये सब बातें व्यर्थ की है । मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं धनी हूँ, मैं गरीब हूँ, मैं राजा हूँ, मेरे पास बल है, मेरा बड़ा प्रभाव है, मेरे पुत्र हैं, मेरी स्त्री है, मैं बलवान हूँ, सुडील हूँ, बेडील हूँ, अरे ये सब कुछ नहीं है । स्वभाव को तो देखो मेरे में तो विकारों का स्पर्श भी नहीं है । यह परम शुद्ध निश्चय की बात चल रही है । इस ही बात को मान लेवें और कोई पर्याय का निषेध करें तो ब्रह्मादित आदि अभिप्राय खड़े हो जाते हैं । मैं आत्मस्वरूप कैसा हूँ यह स्वभाव दृष्टि में ही दीखता है ।

सुख यहाँ द्वितीय भाग

इसी तरह से विवेकी जीव इस चैतन्य आत्मा को सहज स्वरूप, ज्ञानमय, ज्ञान स्वरूप मानता है। इस आत्मा में कोई विकार नहीं है। इसमें पुण्य पाप नहीं, राग द्वेष नहीं। कोई कहे कि वाह ! वर्तमान में तो ये सब हैं, अरे यह कर्मों की प्रकृति है, मेरी प्रकृति नहीं। राग की आदत तो कर्मों से है, द्वेष की प्रकृति कर्मों से है। चूंकि कर्मविपाक के साथ विभाव का अन्वयव्यतिरेक है सो ऐसे निमित्त पर आरोप किया गया है अपनी खराबियों का। जो अपने को शुद्ध, स्वच्छ देखता है उसमें कषायभाव और पुण्य पाप का स्पर्श नहीं है। सो ऐसी वस्तु स्थिति मेरी होवे अर्थात् अविकारता होवे। कहीं पर पदार्थ में, कहीं नैमित्तिक भाव में यह मैं हूँ, यह मेरा है, इससे ही मेरा भला है, इस ही में रमना चाहिए, इस प्रकार के भाव मुझमें उत्पन्न न हों।

मैं ज्ञान मात्र का अनुभव करूँ, ज्ञानदृष्टि में रहूँ, इस प्रकार के भाव उत्पन्न होना चाहिए। पर मैं उपयोग का जाना ही अनिष्टकारी है। यदि उपयोग को मिले हुए समागमों में लगाते हो तो रागद्वेष बढ़ेंगे अकल्याण होगा।

भैया ! बताओ तो जरा कि गोष्ठी में परिवार में जितने लोग हैं उनसे इस आत्मा का क्या सम्बन्ध है? यदि कोई सम्बन्ध हो तो बतलाओ। आपकी आत्मा का पुत्र की आत्मा से क्या सम्बन्ध है? यदि कोई सम्बन्ध हो तो बतलाओ। देखो सपूत है, पिता का आज्ञाकारी है तो पिता को दुःख है या सुख। दुःख ज्यादा है। पुत्र अंगर कपूत है, अन्यायी है तो पिता को दुःख है या नहीं। वह धन बरबाद करने वाला होता है तो अदालत में लिख दें कि इस पुत्र का हमसे कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं इसका जिम्मेदार नहीं हूँ। बस, दुःख मिट गया। और यदि लड़का सपूत है, आज्ञाकारी है, विनयशील है तो उसके प्रति राग करके बाप श्रम उठायगा, आराम कहां पायगा? अच्छा यह बताओ कि यदि पुत्र सपूत होगा, आज्ञाकारी होगा तो बाप दुःखी होगा या नहीं? दुःखी होगा, कैसे? अच्छा देखो—यदि पुत्र सपूत होगा, आज्ञाकारी व विनयशील होगा तो उसे सुखी करने के लिए बाप अधिक परिश्रम करेगा व क्लेश में पड़ा रहेगा। यदि पुत्र कपूत है तो उसके बाबत में यह प्रसिद्ध करके कि यह मेरा नहीं है, इससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा कहकर छुट्टी पा लेगा। देखो—दुःख सपूत में अधिक है कि कपूत में। यदि पुत्र सपूत होगा तो मोह होगा और मोह में क्लेश अवश्य होंगे। और यदि पुत्र कपूत है तो न मोह ही बढ़ेगा और न क्लेश ही होंगे।

और भी देखो संगीत बजाने वाले चार जने हैं। कोई तबला, कोई सारंगी, कोई मंजीरा और कोई हारमोनियम बजाता है। और सब अलग-अलग गांव के हैं। परिचय भी नहीं है तो भी संगीत विषय के कारण वे एक दूसरे की तारीफ करेंगे। इस तरह से ४-५ मिनट में ही उनमें परस्पर सम्बन्ध हो जायेगा, उनमें परस्पर दोस्ती हो जायेगी। सब में आपस में बोल चाल हो जायेगी। अब देखो—संगीत के विषय से ही उनमें बोलचाल हुई ना। सो क्या हुआ वे आपस में फंस गये। वे एक दूसरे को भोजनादि के लिए निमंत्रित करेंगे, चिन्ता करेंगे। इस प्रकार से उन सब में घनिष्ट सम्बन्ध हो जायेगा। अरे यह सम्बन्ध क्या है, यह सब कल्पना है, ऐसा करने से तू मोह में फंसा रहेगा, तुझे आजीवन क्लेश रहेंगे। भैया, तू

तो परमार्थ से शुद्ध, स्वच्छ, ज्ञानस्वरूप है। तेरे में तो क्लेश का नाम नहीं, फिर क्यों जगजाल में फंसकर क्लेश प्राप्त कर रहा है। करने योग्य काम तो तत्त्वदृष्टि है। सो उसकी ही रुचि करके अपने में स्वयं सुखी होओ।

नाना मतानितत्त्वेषु विवादे न प्रयोजनम् ।

मुक्त्वाऽन्यत्त्वं तु पश्येयं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयं ॥२-१०॥

अर्थ— तत्त्वों में नाना प्रकार के मत (मन्तव्य) हैं उस विवाद में कुछ प्रयोजन नहीं है मैं तो परंपदार्थों को (लक्ष्य से) छोड़कर अपने को देखूँ और अपने में अपने लिये स्वयम् सुखी होऊँ।

तत्त्व में अन्य-अन्य नाना मत हैं। कहते हैं कि मुस्लिम तत्व यह है, जैन तत्व यह है, बौद्ध तत्व यह है। अरे यह क्या है। व्यर्थ में नाना प्रकार के विवाद बढ़ाते हैं। कोई किसी प्रकार के विचार मानता है कोई किसी प्रकार के। कोई कोई हनुमानजी को बन्दर के मुख वाला व पूंछ वाला कहते हैं। जैन लोग कहते हैं कि हनुमानजी इतने सुन्दर थे कि उनके समान सुन्दर उस समय कोई नहीं था। जैन सिद्धांत में बताया गया है कि वह तो एक कामदेव पदधारी अतिसुन्दर राजा थे। खैर, विवादों से क्या मतलब। आप अपने को तो देखें कि अपना स्वरूप कैसा है? मैं अपने आपको देखूँ कि मैं कैसा हूँ? जो मैं हूँ वही समझूँ, बस इस ही में कल्याण है। अरे अन्य को देखने से कोई प्रयोजन नहीं है। मेरा प्रयोजन तो अपने आपको देखने का है सो मैं अपने आपको देखूँ और अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

कहीं चले जावो सुख कहीं नहीं मिलेगा। जैसे यहां वहां रात दिन भटकते फिरते हैं, फिर ६, १० बजे के लगभग आराम करने घर आ जाते हैं, सोते हैं। इसी तरह वाह्य पदार्थों में कितना ही भटक लें, फिर अन्त में अपने घर में, अपने आपके स्वरूप में ही आना होगा तब शान्ति मिलेगी। किन्तु खेद है अज्ञान में जीव वाह्य की व्यवस्था करते हैं पर अपनी व्यवस्था नहीं कर पाते हैं।

देहातों में भैया! हफ्ते में एक दिन हाट लगती है ना। सो कहीं देहात में कोई अधबूढ़े आदमी थे। एक दिन हाट में साग भाजी खरीदने जाने लगे। पड़ोस की बहुओं ने भी साग खरीदने के लिए दो-दो पैसे दे दिए। बुढ़ा सबके पैसों की सब्जी खरीदता जाता था। पहले पड़ोस की बहुओं के लिए खरीदी, बुढ़े ने अन्त में अपने भी दो पैसे की सब्जी मोल ली। आखिर में खरीदने के लिए सब्जी जो बची वह खराब थी, सड़ी हुई थी, वह सब्जी लेकर झोली में डालकर घर गया। जब घर की बहु ने देखा तो कहा कि अरे यह खराब सब्जी है, क्यों लाए? बुढ़ा बोला कि पड़ोस की बहुओं के लिए पहले अच्छी खरीद ली फिर बाद में जो बची वह मैंने खरीद ली। बहु से कहा कि देखो मैं परोपकार करता हूँ। बहूने कहा कि अरे पहले अपने लिए खरीद लेते बाद में फिर दूसरों के लिए लेते। सो ऐसे ही भैया! अपनी रक्षा अपने आत्मस्वभाव की उपासना करना है, उसकी दृष्टि रहते हुए परोपकार किया जावे तो वह महत्व की बात है।

हे भाई ! अपने स्वरूप की तो खबर नहीं है और दूसरे की ओर आसक्ति से देख रहे हो। हे आत्मन्, पहले अपने स्वरूप को देखो बाद में फिर अन्य को देखो। अपने को भूलकर द्वन्द्व को देखो इसे आचार्यों ने विवेक नहीं बतलाया है। बाहर में क्रियाकलाप में भी रहो, पर उनमें कोई अपना स्वरूप मत समझो। यदि कोई समस्त मतों के विकल्पों को छोड़कर अपने सत्य का आग्रह कर ले कि मुझे जो अपने आप बिना किसी अन्य जल्प के आश्रय के, अनुभूत होगा वह होवो। मैं स्वयं ज्ञानमय पदार्थ हूँ अतः ज्ञान की बात स्वयं ही प्रकट हो जावेगी। ऐसे सत्य का आग्रह निष्पक्ष होकर कर ले तो उसे स्वयं का दर्शन होगा। जिस सत्य का दर्शन हो फिर उसी का लक्ष्य रखना सो ही शांति का, सुख का मार्ग है। मूल तत्व तो आत्मा है, उस आत्मा के बारे में ठीक-ठीक निर्णय जब नहीं हो पाता तब उस आत्मा के बाबत व अन्य बातों में नाना मत बन गए। तत्वों में जो मत मजहब बन गए उनका मूल कारण यह है कि उन जिज्ञासुओं ने अपने आपकी आत्मा का यथार्थ ज्ञान नहीं कर पाया। आत्मा का यथार्थ ज्ञान न हो पाने से ही अनेक मत बन जाते हैं। यह दर्शन का एक गहरा विषय है। वस्तु को जानने का उपाय स्याद्वाद है। किसी वस्तु का सर्वाङ्ग निर्णय करना चाहो तो स्याद्वाद से ही कर सकते हो।

जैसे किसी मनुष्य के सम्बन्ध में जानकारी करते हो तो कितना-कितना जानते हो। यह पिता है, यह पुत्र है, यह गरीब है, यह धनी है, यह पंडित है, अनेक प्रकार की बातों की जानकारी करते हो, जानते हो, अपेक्षा लगाकर कि यह अमुक का पिता है, यह अमुक का लड़का है इन सारी बातों को अपेक्षा लगाकर जानते हो। यदि अनेक बातें जानते हो तब सारी बातों की जानकारी कर पाते हो। इसी तरह आत्मा के विषय में जब सर्व प्रकार से दृष्टि दोगे तभी आत्मा का पूरा रहस्य समझ में आयेगा। जब जीव के पर्याय में तथा आत्मा के स्वभाव में दृष्टि दोगे तभी दोनों में अन्तर समझ में आयेगा। जब जीव के मात्र लक्षण में दृष्टि दोगे तो तुम्हें पता चलेगा कि जीव का लक्षण है चैतन्य, और इस चैतन्यस्वभाव में दृष्टि दो तो इसमें नाना रूप नहीं नजर आयेंगे। प्रत्युत अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यमात्र अद्वैत समझ में आवेगा, व्यक्तित्व नजर नहीं आयेगा। अरे यह चैतन्यस्वभाव अद्वैत है। इसमें किसी दूसरे का प्रवेश नहीं है तब फिर इसका नाना रूपों में अनुभव क्यों किया जाता है?

भैया! प्रत्येक जीव का अपना स्वरूप न्यारा-न्यारा है। यह बात तो तुम्हें तब समझ में आवेगी जब कि अपने आनन्दस्वरूप में दृष्टि दो। इस तरह से जीव के बारे में नाना बातें स्याद्वाद से विदित होती हैं। पर उनमें से किसी एक को पकड़ लो या किसी अपेक्षा में किसी अन्य अपेक्षा मिलान कर दो तो देखो कि नाना मत बन गए हैं उन नाना मतों के विवाद में पड़ने से केवल कलह ही मल्ले पड़ेगा। उनसे आत्मा को शांति नहीं मिलेगी। आत्मा को शांति तो अपने आत्मस्वरूप के दर्शन में होती है। और यदि शांति नहीं मिलती है तो समझो कि कोई उसका निमित्त अन्य है। क्योंकि आत्मा तो स्वयं के लिए अनाकुलस्वरूप है। यदि आप में कल्याण की भावना है तो अपने अन्तरंग में स्थित अपने आपको ज्ञान के द्वारा प्राप्त करके कल्याण कर सकते हो।

एक बात प्रसिद्ध है कि शिवभूति नाम के एक मुनि थे। उनको पहिले गुरु महाराज ने यह सिखाया कि मा तुष मा रुष। इसका अर्थ है कि राग द्वेष मत करो। कुछ समय तक शिवभूति मुनि मा तुष मा रुष रटते रहे। वे और सब शब्द तो भूल गए, पर माष तुष शब्द ही केवल याद रह गया। माष शब्द में मूर्धन्य ष है। मा तुष, मारुष, मा तुष, मा रुष बोलने में कुछ स्वलन हो गया सो माष तुष बोलने लगे। एक दिन चले जा रहे थे। मार्ग में एक महिला मिली। वह महिला उरद की दाल धो रही थी। तो उरद की दाल तो जानते होंगे जो महीन पीसी जाती है, जिस दाल की पिट्ठी करते हैं तो पिट्ठी बनाने के लिए जो उरद धो रही थी उस सफेद दाल को अलग व उरद के छिलकों को अलग देखा तो ज्ञान हो गया। उन्होंने देखा कि ये छिलके तो सब प्रकट में अलग-अलग हैं, दाल में लगे थे तब भी वे अलग ही थे। उसी तरह यह देह तो छिलके के मानिन्द है और आत्मा उड़द के मानिन्द है। देह में रहता हुआ यह आत्मा देह से अलग है। शरीर, राग, द्वेषों के बीच में फंसा हुआ यह आत्मा है फिर भी आत्मा तो दाल के माफिक है, और यह सब उपाधि उरद का छिलका है। इन समस्त झंझटों के बीच में यह आत्मा फंसा होने पर भी उन सबसे न्यारा है। ऐसा जिन्होंने न्यारा अपने आपको नहीं समझ पाया है उनकी बड़ी दुर्गति होती है।

यह मैं आत्मा कैसा हूँ और क्या हूँ इसका पता जिन्हें रहता है उन जीवों के विषय कषाय समाप्त हो जाते हैं। इस जगत् में जो आत्मतत्त्व को भूल गया है उसकी दुःख की लम्बी कहानी है। सो यदि कोई ज्ञान के साहित्यिक विकास में भी नहीं पड़ा और यदि अपने आत्मतत्त्व को समझ गया है, तो उसे जीवन में क्लेश नहीं होंगे, उसके जीवन में दुःख की कहानी नहीं बनेगी, वह सदैव प्रसन्न और सानन्द ही रहेगा। हे भाई! ऐसा आग्रह करने के लिए निष्पक्ष भाव की जरूरत है। अंतर में शुद्ध आत्म कल्याण की भावना हो तो उस आत्मा के दर्शन अपने आप हो जाते हैं। मुझ करना क्या है? मैं स्वतः सिद्ध परिपूर्ण पदार्थ हूँ, ऋद्ध, समृद्ध कृतार्थ हूँ। अतः अब यह मैं आत्मा अपने आपके आत्मस्वरूप की दृष्टि करके अपने आप में रमूँ और सत्य स्वरूप बनकर आनन्दमग्न होऊँ।

हर्षादिवासनाजन्यमौपाधिक विनश्वरम् ।

तद्भिन्नं स्वं प्रपश्येयं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२-११॥

अर्थ— यह कल्पित जगत् हर्षादि वासनाओं से उत्पन्न होने वाला तथा औपाधिक विनाशीक है उससे भिन्न अपने को देखूँ और अपने में अपने लिए स्वयम् सुखी होऊँ।

कहते हैं कि यह अंतर्जगत्, इस जगत् की बात नहीं कर रहे हैं जो मुझसे न्यारा अपनी पृथक् सत्ता को लिए हुए है, किन्तु अपने आप में उठने वाले जो कल्लोल हैं, रागद्वेष आदि जो परिणाम हैं उनको कह रहे हैं कि यह जो जगत् है, यह जो मेरी दुनिया है, यह हर्षादिक वासना से उत्पन्न होता है। यह अंतर्जगत् राग द्वेष, विषय कषायरूप है। मोही लोग कहते हैं ना जब किसी का इष्ट गुजर जाय तो, कि मेरी दुनिया मिट गयी। देखो लोग किसी पुरुष के बारे में, व्यक्ति के बारे में कल्पनायें बनाकर दुःखी होते हैं। और कहते हैं कि मेरी दुनिया मिट गई। बाहर में इसका कुछ है ही नहीं, मिटेगा क्या? हां जैसी कल्पनायें करता था पहिले, वे नहीं हो

पातीं, यही उसकी दुनिया का मिटना कहलाता है। जो पहिले कल्पनायें की वे तो अब नहीं रहीं। अब तो केवल उस इष्ट को ही अपना सर्वस्व मानकर दुःखी होता रहा है, इससे वह अपने इष्ट के मिट जाने से ही यह समझता है कि मेरी दुनिया मिट गई। क्या मिट गया उसको विचारो तो।

कोई किसी के शरीर से प्रेम करता है क्या? अरे उस मर जाने वाले का घर में कुछ रक्खा रहेगा क्या? चाहे वह खूब कमाता था, खूब अच्छी तरह से परिवार का लालन-पोषण करता था। खूब धन दौलत एकत्रित करली थी पर हे भाई! वह इष्ट यदि मर गया है तो उसके शरीर से भी कोई प्रेम नहीं करता। अरे देखो यदि कोई मर जाता है तो मुर्दा को उठाने के लिए कभी पंच लोग जाते हैं तो घर के बच्चे स्त्री इत्यादि सब रोते हैं। रोते हुए कहते हैं कि अरे मेरे फलाने को कहां लिये जा रहे हो। यदि वे लोग कहें कि अच्छा, नहीं लिए जाते, तो फिर वे घर के ही सब हाथ जोड़कर कहेंगे कि कृपाकर अब ले जाइयेगा। देखो भैया! न तो किसी का देह से प्रेम है और न आत्मा से प्रेम है। इस मिट जाने वाले शरीर से कौन प्रेम करता है। तुझे इस शरीर से प्रेम करने कोई लाभ नहीं है। तुझे तो आत्मा से प्रेम करना चाहिए। सो आत्मा से भी प्रेम कौन करता है? यह आत्मा तो चैतन्यस्वरूप पदार्थ है, सबसे निराला है। जैसा यह है तैसे ही अन्य चेतन पदार्थ हैं। उस चेतन से भी कौन प्रेम करता है। इस जीव की दुनिया तो अपना-अपना अन्तर्विकल्प है। हे आत्मन्! तुम्हारी ज्ञात दुनिया कहीं बाहर नहीं है। अपनी कल्पनाओं से ही यह बात उठती है कि दुनिया अन्य है। कल्पनाओं के उठने से ही, पहिले उठने वाली कल्पनाओं के न होने पर कहते हैं कि हाय दुनिया लुट गई।

एक मनुष्य लखपति है। उसको यदि एक हजार का नुकसान उठाना पड़ गया तो उसकी शक्ल सूरत देखो तो वह उदास, दुःखी लुटा हुआ नजर आयगा। और जिस मनुष्य की गांठ में केवल एक हजार ही रुपया है अधिक नहीं, और अगर एक हजार का लाभ हो जावे तो वह प्रसन्न होता है, खुशियां मनाता हुआ रहता है।

भैया! कल्पनायें जहाँ जैसी जंगीं वहाँ उसकी दुनिया है। अरे भाई, व्यर्थ की कल्पनायें न करो। देखो २४ घंटे व्यर्थ की कल्पनाओं में ही पड़े रहते हो और दुःखी हुआ करते हो। भाई इन २४ घंटों में से १० मिनट का समय परमार्थ में दो तो जीवन सफल हो जायगा। २४ घंटे आर्त्तध्यान में ही लगा रहे तो उसका क्या जीवन है। इस स्थिति में रहो कि २४ घंटे में कुछ मिनट भी आत्मचिन्तन में लगा सको। सत्य और असत्य का निर्णय करके अपने को सत्य में सुरक्षित कर लो। शुद्ध चैतन्यमात्र एक वस्तु अपने को सबसे निराला समझो। और यह समझो कि मेरा किसी से कोई सम्बन्ध नहीं है। सचमुच मैं अन्य कुछ नहीं हूँ, केवल चैतन्यस्वरूप, ज्ञानमात्र, ज्ञानानन्दधन एक वस्तु हूँ। ऐसा अपने आपको निरखो तो जीवन सफल हो जाय।

सुनो भाई, जिन पदार्थों से राग कर रहे हो, मोह बना रहे हो वे तेरे कुछ नहीं हैं। जैसे तुम स्वतन्त्र हो वैसे ही वे सब हैं। अपने आप में कुछ मिनट तक ऐसा अपने आत्मस्वरूप का चिन्तन करो कि बाह्य वस्तुओं का ध्यान न रहे। केवल अपने आत्मस्वरूप को ही अपने सामने रखो तो जितने भी विकल्प हैं, दुःख हैं, समाप्त हो जावेंगे। जैसे पहले बताया था कि जीव के बारे में ज्ञातव्य तीन चीजें हुआ करती हैं—१. शब्द जीव, २. अर्थ जीव, ३. ज्ञान जीव। इसी तरह पुत्र तीन होते हैं—१. शब्द पुत्र, २. अर्थ पुत्र, ३. ज्ञान पुत्र। बताओ कौन सा पुत्र इन तीनों में तुमने अपना माना है। तुम्हारा शब्द पुत्र है क्या? नहीं। यह पुत्र तो केवल शब्दों में ही लिखा

हुआ है, वह पुत्र नहीं है। तो तुम्हारा अर्थ पुत्र है क्या, जो दो हाथ और दो पैर वाला है? भैया, यह पुत्र तो अपने खुद के कषाय में रहने वाला है, स्वार्थी है। इसलिए यह भी तुम्हारा नहीं हो सकता है। तो उस पुत्र के बार में, जो ज्ञान बनता है वह ज्ञान पुत्र ही तुम्हारा पुत्र है। यह ज्ञान पुत्र जिस वक्त है उस वक्त ही तुम्हारा है अन्यथा वह भी तुम्हारा नहीं है। क्योंकि वह तो नश्वर है, मिट जाने वाला है और परमार्थ से देखो तो जब ज्ञान पुत्र है तब भी वह तुम्हारा नहीं है। तुम तो ध्रुव हो ज्ञान पुत्र अध्रुव है। ये आकुलतायें क्यों उत्पन्न हो जाती हैं, ये राग द्वेष भाव कैसे उत्पन्न हो जाते हैं केवल कल्पना से। उनके मिटने का उपाय ज्ञानोपयोग है।

भैया देखो जब मन्दिर में पूजन के लिए जाते हो तो वहाँ पर इसीलिए तो जाते हो कि पूजन करें, स्वाध्याय करें, धर्म करें, सत्संग करें और राग द्वेष का उपयोग बंद करें, ज्ञान का उपयोग हो। यदि राग द्वेषादि की बातें वहाँ करते हैं तो उन बातों से आकुलतायें उत्पन्न होती हैं और वह आगे किस जगह आकुलतायें दूर करने का उपाय बनायगा। मन्दिर में पूजन करने जाते हैं तो सत्संग से, धर्म पालन से, धर्म व्यवहार से उनके राग द्वेषादिक विकारों में अंतर तो कुछ पड़ ही जाता है। इन राग द्वेषों से छुटकारा प्राप्त करने के लिए ही व्यवहार धर्म का पालन किया जाता है।

प्रभु भक्ति करने से ईर्ष्या, द्वेष, मोह तथा अहंकार इत्यादि की भावनायें समाप्त हो जाती हैं, लोग ऐसा समझते हैं कि धर्म का पालन करने से हम और हमारी संतान धर्म में रह कर अपना कल्याण कर सकेंगे, यही सोचकर वे धर्म का पालन करते हैं, धर्म में रहते हैं, यह तो व्यवहार परम्परा की बात ठीक है किन्तु उसमें भी परमार्थ कार्य बने तो वह परमार्थतः धर्म है, वास्तव में भक्त का यह प्रयोजन है कि वह रागद्वेष से बच जावे और आत्मा का अहित करने वाले जो विषय कषाय हैं उनको दूर कर देवे बस पूजा आदि का यही प्रयोजन है। भक्ति में जो आनन्द समाया हुआ होता है उसका अनर्थ करने वाले ये विषय कषाय ही होते हैं, उन विषय कषायों से दूर होने के लिए हमें धर्म व्यवहार करना है। देखो जो मनुष्य धर्म का पालन करने के लिए, भगवान् का दर्शन करने के लिए मन्दिर आते हैं वे मन्दिर आने की तैयार में घर पर हैं तो भी तब से धर्म का पालन करते हैं, क्योंकि स्नान करते हैं और स्नान करने के बाद यह भावना बनती है कि हम भगवान् के दर्शन करेंगे, यह प्रयोजन जो मन में बसा होता है तो यही धर्म का पालन वहाँ है।

देखो दर्शन करने मन्दिर में हम पहुँचते हैं तो दरवाजे पर पहुँचते ही निःसही, निःसही का उच्चारण करते हैं। निःसही का क्या अर्थ है? निकलो, निकलो, निकलो, हटो, हटो, हटो रास्ता खाली करो, रास्ता खाली करो—यही निःसही शब्द का अर्थ है। इसका व्यवहार से यह मतलब है कि जो भगवान् के दर्शन करने के लिए भगवान् के सामने खड़े हों वे देवता हों या मनुष्य, एक तरफ हो जाने की कृपा करें। दर्शन करने वाले उन लोगों को चाहिए कि जो भगवान् के सामने खड़े हों वे हट जावें। यह उनकी अपने देव के प्रति विनय होगी। वे अपने एक तरफ हो जावें और आगत को दर्शन कर लेने दें। निःसही का अर्थ है कि रास्ता दो, हम दर्शन करना चाहते हैं।

परमार्थ से निःसही का क्या अर्थ है कि घर में रहकर, दुकान में रहकर, मेरे ही संग में रहकर, जिन राग,

द्वेष, काम, क्रोध इत्यादि की आग में लिप्त हुए थे उनकी ओर से कहा जा रहा है कि अब मैं वीतराग प्रभु के दर्शन करने के लिए मन्दिर के भीतर जा रहा हूँ सो राग द्वेष विषय कषायों को कहा जा रहा है कि अब तुम दूर हट जाओ। निःसही अर्थात् निकलो, निकलो, निकलो, हटो हटो हमें शांति का सत्य का रास्ता दो। हम प्रभु के दर्शन करने के लिए आ रहे हैं। हमारे आगे न रहो, सामने से हट जाओ, हम मन्दिर के भीतर घुस रहे हैं। कृपा कर दर्शन का मौका दो, इतना पवित्र होकर हम वीतराग प्रभु के दर्शन करना चाहते हैं। कहां तो इतना करने का संकल्प होना चाहिए और कहां मन्दिर के अन्दर गए तो क्या बातें हो रही हैं कि आज तुम्हारे घर में क्या खाना बना था, आज क्या हो रहा है, शाम को क्या खाना बनेगा, मुकदमे में क्या हुआ बहू क्या कर रही है, इत्यादि अनेक प्रकार की व्यर्थ की बातें एक दूसरे से करते हैं।

देखो भाई हम लोग कितने अविशुद्ध बन गए। कहां तो वीतराग के दर्शन करने, अपने संकल्प विकल्प दूर करने और अपने को स्वच्छ करने के लिए मन्दिर गए थे, और कहां राग द्वेष की बातें करने लगे। अरे प्रभु पर अपने न्यौछावर हो जावोगे तो दर्शन मिलेगा और यदि राग द्वेषों पर ही पड़े रहे तो प्रभु का दर्शन नहीं हो पायगा। राग द्वेषों में पड़े रहना ही विकल्प है। मेरी जो चीज है, मेरा जो परिणाम है वह मेरे स्वरूप के अनुकूल ही होता है। मेरी चीज मुझे ही दुखित कर दे, यह तो बड़े गजब की बात है। फिर मेरी चीज कहां रहेगी? मेरी चीज मुझे ही दुखित कर दे तो मेरी कैसे? ये राग, द्वेष, मान, माया, मोह, विषय कषाय ही मुझे दुखित करते हैं तो ये सब मेरे नहीं हैं। मेरा तो केवल मैं हूँ? मेरा वह नहीं है जो मुझे दुखित करे। यदि वह मुझे दुखित करता है तो वह मेरा कैसे है? तो मेरा है क्या? मेरा है स्वभाव। मैं तो केवल ज्ञानस्वरूप हूँ और बाकी सब मैं नहीं हूँ। जो मैं हूँ वह अनादि हूँ, अनन्त हूँ, अचल हूँ, अपने आपके द्वारा अनुभव में आने योग्य हूँ। ऐसा मैं तत्व स्वभावमात्र हूँ। मैं यही स्वरूप सर्वस्व लिए रहता हूँ। इसके आगे मेरा कुछ नहीं है।

भैया ! आत्मस्वरूप के दर्शन करने से सब संकल्प विकल्प क्षीण हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। हम प्रभु के दर्शन करते हैं, वहां से हमको दर्शन मात्र से यह संदेश मिलता है कि हे प्रभो ! आप चक्रवर्ती थे, आपके पास बड़ा धन साम्राज्य था, आपके ज्ञान हुआ, सो आपने वैभव विभूति को नहीं चाहा उस वैभव विभूति में आप नहीं फंसे, अलग ही रहे और अपने आपको ही अपने उपयोग में लगाया। आज आप जगत में पूज्य बन गए। हे प्रभो ! मैं आत्मा भी आपके सदृश हूँ? जैसे आप हैं वैसा ही मैं हूँ। इस जगत् के जीव का स्वरूप ही ऐसा है। हे आत्मन् ! तू भगवान् समान अपने को निरख। तू अपने को यह समझ कि मैं भगवान् सदृश हूँ। इस औपाधि एक नश्वर अन्तर्जगत को त्याग करके अपने निर्वाणस्वरूप आत्मस्वभाव को निरखूँ तो मेरा कल्याण है ओर बाह्य बातों में फंसने से मेरा कल्याण नहीं है।

वासनान्ते न संसारः संसारत्यागएषहि ।

स्वदृष्ट्या वासनान्तोज्ञः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयं ।।२-१२।।

अर्थ— वासना का विनाश होने पर संसार नहीं रहता निश्चय से यही (वासना का विनाश) संसार का त्याग है। वासना का अन्त निज दृष्टि से होता है अतः मैं स्वदृष्टि को करके अपने में अपने लिये स्वयम् सुखी होऊँ। आचार्यों का उपदेश है कि संसार का त्याग करो, संसार को छोड़ दो, संसार का छोड़ना कहलाता क्या

है? और संसार कहलाता क्या है? क्या संसार इस दुनिया की जगह का नाम है? क्या इस लोक का नाम संसार है? अगर इस दुनिया की जगह का नाम संसार है और इस लोक का नाम संसार है तो इसको छोड़कर कहाँ जावोगे? क्या कोई अलोक में पहुँच जावोगे? जगत के क्षेत्र का नाम संसार नहीं है, किन्तु राग द्वेष की जो वासना बनी वस उसी का नाम संसार है। इस संसार का त्याग कर दो। इसका अर्थ यह है कि राग द्वेष की वासनाओं का त्याग कर दो। प्रत्येक जीव भिन्न-भिन्न है, अपने स्वरूप में ही है। वे अपने आप में परिणमते रहते हैं। एक का दूसरे से सम्बन्ध कुछ है ही नहीं, फिर किन्हीं परवस्तुओं में राग द्वेष विकल्प करना क्या यह अज्ञान नहीं है। ज्ञान और अज्ञान का तो यह प्रमाण है कि जहाँ पर मूढ़ता है वहाँ पर अज्ञानता दीखती है और जहाँ पर मूढ़ता नहीं है वहाँ पर ज्ञान प्रसन्न हुआ दीखता है। जहाँ पर मूढ़ता हो वहाँ पर सम्यक्त्व नहीं हो पाता है और जहाँ पर मूढ़ता है वहाँ पर मिथ्यात्व ही है। तो यह मिथ्यात्व ही संसार है। जब तक यहाँ संसार है तब तक जीव को क्लेश हैं। यदि संसार का त्याग कर दो अर्थात् इन राग द्वेष विकारादि वासनाओं को त्याग दो तो सारे क्लेश समाप्त हो सकते हैं।

सो भैया ! राग द्वेष की वासनाओं का नाम ही संसार है। कोई यहाँ कहे कि राग द्वेष की वासनाओं को तो संसार कहा। राग द्वेष को ही संसार क्यों न कह दिया? उत्तर इसका यह है कि द्रव्य में प्रति समय एक एक परिणाम में पर्याय हो रही हैं। तो जीव में भी प्रति समय एक एक पर्याय होती चली जाती है। एक समय में दो समय की पर्याय नहीं होती, दो समय में एक पर्याय नहीं, तब राग की पर्याय भी प्रति समय एक-एक चलती जा रही हैं, यह सूक्ष्मदृष्टि का जिक्र किया जा रहा है। लेकिन एक समय की राग पर्याय अनुभव में नहीं आती है और एक समय के राग पर्याय से ही जीव क्या राग महसूस कर लेगा, ऐसा नहीं होता है किन्तु उपाय बहुत समय योग की राग पर्यायों का ग्रहण करता है। इस कारण सूक्ष्म दृष्टि से विचार करो तो राग की संतान का अनुभव होता है। दूसरी बात यह है कि राग द्वेष में जो आसक्ति हो जाती है उसको संसार कहा गया है। इसी कारण सम्यग्ज्ञान होने पर कदाचित् राग द्वेष रहते भी हैं तो भी उनकी गिनती नहीं की गयी। वे मिट जायेंगे इसलिए वासना को संसार कहते हैं। इस वासना के विनष्ट होने को ही संसार का त्याग कहते हैं। संसार के ये प्रत्येक जीव ज्ञायकस्वरूप हैं, परमात्मतत्त्व स्वरूप हैं, उनका कोई भी अन्य जीव न तो मित्र है और न शत्रु ही है। वह जीव हैं, ज्ञानस्वरूप हैं, अपने ज्ञान में परिणमते रहते हैं, उपाधि की विशेषता के अनुसार ही उनके विकार भी होते रहते हैं, उनमें विकार उनकी ही परिणति से होते हैं, किसी अन्य की परिणति से नहीं होते हैं। ऐसे स्वयं विज्ञानधन जगत् के सब जीव हैं। उनको कैसे माना जाय कि वे शत्रु हैं? कोई भी मेरा शत्रु नहीं है, कोई ज्यादा विगड़ता है तो जो उसे विकार बनाना होगा, वह बनावेगा, वह अपने आप में ही बनावेगा, मेरा वह कुछ नहीं बनावेगा, तब फिर मेरा दुश्मन कौन? कोई नहीं।

भैया ! ज्ञानदृष्टि से देखो तो इस जगत् में मेरा शत्रु कोई नहीं है। जिस आत्मा का मन ऐसा रहता है कि यह मेरा दुश्मन है तो वह विकल्प उसका दुश्मन बना रहता है, उसका शत्रु बना रहता है, पर परमार्थ से देखो तो इस जगत् में कोई किसी का शत्रु नहीं। जो दूसरे को शत्रु समझता है, वह विकार कर रहा है। वह विकार अपने को करता है, अपने लिए करता है और अपने द्वारा करता है। मेरा प्रभु तो मैं हूँ, मेरे से बाहर मेरा कुछ

नहीं है तो फिर मेरे से बाहर मेरा दुश्मन कोई कैसे है? इसी प्रकार जिसको मित्र मान रहे हो, परिवार को इष्ट मान रहे हो वह भी तुम्हारा नहीं है। तुम्हारा स्वरूप ही तुम्हारा सब कुछ हो सकता है। अपना स्वयं मैं हूँ, अपने स्वरूप में बर्तता हूँ, उपाधि की विशेषता के अनुसार विकार भी करता हूँ, मोह भाव भी करता हूँ, राग भी करता हूँ, किन्तु अपने आपमें करता हूँ।

भैया ! गुरुजी एक घटना बताते थे कि एक गांव खुरई सागर के पास है। श्रीमंत सेठ वहां पर एक बहुत बड़े आदमी थे, उनके लड़के आज भी हैं, वे भी सेठ हैं। वह सेठ बड़े गर्म दिमाग के थे। उनकी स्त्री गुजर गयी थी, उनकी दूसरी शादी हो गयी थी। जब सेठानी शादी के बाद सेठ के घर आयी तो सेठानी की सखियों ने मित्राणियों ने समझाया कि देखो सेठ बड़े गर्म दिमाग के हैं। अगर कही सेठ बिगड़ जाते हैं तो मुश्किल पड़ जाती है, सेठानी भी चतुर थी। उसने सेठ के बारे में तो सुन ही लिया। एक दिन सेठ के सिर में दर्द था। स्त्री को खबर भिजवाई तुरन्त दवा लाओ। सेठानी के मनमें ऐसा विचार आया कि अगर कहीं मैं अभी से दब गयी तो जिन्दगी भर दर्दना पड़ेगा। इसलिए आज सेठ को कोई कंला दिखाऊं तब तो छूट पाऊंगी। बस, सेठानी ने अपने सिर में दर्द बना लिया। बोली अरे मेरा तो भारी सिर दर्द कर रहा है। मैं क्या करूं? सेठ जी की नयी शादी हुई थी, उनको अपनी स्त्री की खातिर तो करनी ही थी। इसलिए वह अपने सिर के दर्द को भूल गए और अत्यन्त व्याकुल हो गए। अब सेठ जी अपनी बात तो भूल गए और मोह में सेठानी जी की सेवा करने लगे। मान लिया कि सेठानी के सिर में दर्द भी हुआ हो तो क्या सेठ की वेदनाने उसकी वेदना को बनाया? नहीं, उसने तो केवल सेठ के प्रति राग बना लिया था। उस राग ने ही सेठानी की वेदना को बनाया।

कोई जीव कहते हैं कि हम तुमसे राग करते हैं, हमारा तुमसे बड़ा राग है। ऐसा करने से वह राग करें तो क्या हमारे राग से राग कर रहा है? नहीं, वह स्वयं ही कल्पनायें बनाकर एक नया राग और खड़ा कर लेता है। किसी जीव की परिणति से किसी जीव को कुछ हो जाय तो यह नहीं हो सकता है। कितने ही आदमी ऐसे होते हैं कि वे दूसरे के प्रति रागी हैं, तो क्या एक का दूसरे में राग पहुंच गया? नहीं, एक दूसरे से सम्बन्ध ही क्या? तो जब प्रत्येक जीव जुदे जुदे हैं, किसी से किसी का सम्बन्ध नहीं है तो ऐसी स्थिति में अन्य पदार्थों को अन्य जीवों को उपयोग में लेकर ख्याल और राग बनाये रहें, इसको मूढ़ता ही कहेंगे। मूढ़ता कहा जाय या मोह कहा जाय। दोनों का शाब्दिक अर्थ एक है। अगर मूढ़ कहें तो संसार के लोग कुछ बुरा मान जावेंगे, और यदि मोही कहेंगे तो लोग शायद बुरा न मानें। बात तो एक ही है, और है भी क्या? समझका फेर, तो बस इतना ही तो जाल है, जाल क्या कहीं अपनी भूमिका से बाहर है, नहीं। जितना भी जाल है, द्वन्द्व है, फन्द है वह सब इस इन्द्र आत्मा में है। यह तो इन्द्रजाल है। यदि इससे जुदाइगी हो जाय अर्थात् अन्य जीव को अपना उपयोग में इष्ट अनिष्ट न करें, वाह्य वस्तुओं का ख्याल न करें, राग द्वेष न बनावें तो जाल नहीं है। वह मूढ़ और मोही नहीं कहा जावेगा।

अरे यह कितना जाल है? बहुत छोटा सा जाल है। केवल समझना भर है। मैं हूँ और अपने स्वरूप से हूँ। ऐसा न देखकर यह इसका कुछ है, यह इसका कुछ कर देता है इस प्रकार की जो समझ बन गयी है बस वह समझ ही जंगजाल है, जब गृहस्थी का दंदफंद सिर पर आ जाता है, लड़का बीमार है, अमुक बीमार है, अमुक

बीमारी है, यह करना है; अभी दुकान जाना है, मुकदमे कई हैं। इस प्रकार से कहते हैं कि बड़े जगजाल में फँसे हुए हैं। अरे बाहर कोई जाल नहीं है, न जाल दुकान में है, न लड़के बच्चों वगैरा में है, न आत्मतत्त्व में है। केवल अपने आपके आत्मस्वरूप को शुद्ध, सबसे निराला उपयोग में देखता है और बाहर में ही मुख कर लिया है तो यही तेरा जगजाल बन गया है। भैया! अपनी बाह्य दृष्टि को हटा दे अपनी राग द्वेष की भावना को मिटा दे तो यह तेरा जगजाल मिट जायगा। देखो कितने तो जगजाल हैं और कितने से उपाय में मिट जाते हैं, परन्तु कितना कठिन लग रहा है? कुछ विचार तो करो, उन सब कठिनाइयों का कारण राग द्वेष की वासना है। यह वासना अगर मिट जाय तो क्लेश मिट जायें और अगर यह वासना नहीं मिटती है तो क्लेश नहीं मिटेंगे। यह कर्मबन्ध वासना से ही होता है। जिन कषायों का उदय है उन कषायों से होने वाली कर्मप्रकृतियों में ज्यादा अनुभाग पड़ जायगा, पर बंध सब में पड़ जायगा।

हे आत्मन्! क्रोध क्यों कर रहे हो? मान, माया, लोभ इत्यादि विकार की वासनायें क्यों कर रहे हो? यदि तू इन वासनाओं से दूर है तो क्लेश दूर हैं और यदि इन वासनाओं को अपने में बनाए हो तो आजीवन क्लेश रहेंगे। इसलिए इन वासनाओं को मिटाने का उपाय करना चाहिए। गृहस्थी के चरित्र को आचार्य गुणभद्र स्वामी ने बताया है कि वह तो हाथी का स्नान है। हाथी ने स्नान किया और बाहर गया कि धूल को सूँड में भरकर अपने ऊपर डाल लिया। इस तरह से वह फिर गंदा हो गया। गृहस्थी भी सीमा बना करके त्याग करते हैं, दस लक्षण के दिन आ गए तो कहते हैं कि अब हम काम नहीं करेंगे, दुकान में नहीं बैठेंगे, धर्म के काम ज्यादा करेंगे, अब हम पवित्र बनेंगे, पर यह वासना बनी हुई है कि दस लक्षण के दिन निकाल तो दो, फिर जल्दी में जाकर दुकान में बैठेंगे, यह खायेंगे, वह करेंगे। इस प्रकार की वासना मन में भर लेते हैं। अरे यह तो वास्तविक त्याग नहीं हुआ। सीमा बना करके त्याग करना ठीक नहीं होता है। सप्तमी को नियम कर लिया कि नवमी तक उपवास से रहेंगे पर यह वासना बनी हुई है कि नवमी के आठ बजने तो दो जल्दी से खाना बनावेंगे, खाना खा लेंगे। यह कर लेंगे, ऐसी वासना बनी होती है। साधुओं के चरित्र में देखो तो ऐसी वासना नहीं बनी होती है। उनको यह पता ही नहीं रहता है भोजन करने जायेंगे कि क्या करेंगे? उनको यदि भूख लगेगी तो उठेंगे नहीं तो न उठेंगे। इसी तरह अनंत चौदस का व्रत है, तो गृहस्थी लोग यह वासना बनाए रहते हैं कि अनन्त चौदस के बाद पूर्णिमा के ७ बजने तो दो। पर यह ख्याल साधुओं को नहीं होता है। वह साधु तो बच्चों की तरह ही हैं यदि भूख लगी तो खड़े हो जावेंगे, नहीं तो नहीं खड़े होंगे, पर गृहस्थी ऐसा नहीं कर पाता है। यही तो गृहस्थ और साधु में फर्क पड़ गया है। साधु के वासना नहीं होती है और गृहस्थी वासना बनाए रहता है। क्या कारण है? गृहस्थ के आरम्भ व परिग्रह का सम्बन्ध है। तो इस वासना का विनाश कैसे होगा? अपने स्वरूप की दृष्टि से यह मैं आत्मा सहज ज्ञानस्वरूप हूँ, जाननहार हूँ, यह ही मेरा स्वरूप है, यह ही मेरा धर्म है, जानन यह अमूर्त है, अनन्तानन्त भावों को लिए हुए है, ऐसे ज्ञानानन्द भावोंमय यह मैं आत्मा हूँ, इसमें किसी दूसरे से सम्बन्ध नहीं है, इसके स्वभाव में विकार नहीं है। रागद्वेष की वासनायें बनाना इसका काम नहीं है। रागद्वेष की तरंग यह गड़बड़ बात तो उपाधि के सान्निध्य में उठ जाती है।

सिनेमा का परदा स्वयं चित्रित नहीं होता है। तो कैसे चित्रित हो जाता है? यह देखो सामने फिल्म आ

गया, फिल्म उपस्थित हुआ और फिर वह चला गया। तो परदा अपने आप में उठकर चित्रित नहीं हो गया। परदे का चित्रित हो जाने का काम ही नहीं है, चित्रित तो फिल्म के निमित्त से हो गया है। इसी प्रकार यह आत्मा स्वयं राग द्वेष नहीं बनाता। आत्मा का स्वभाव ही राग द्वेष बनाना नहीं है। कर्म उपाधि का निमित्त पाकर यह चित्रित होता है। इन राग द्वेषों के जो संस्कार बनते हैं वे इन वासनाओं के कारण ही क्लेश होते हैं, ये सब क्लेश इस आत्मदृष्टि के द्वारा ही नष्ट हो जाते हैं, मैं एक ज्ञानस्वभाव हूँ, एकरस हूँ। ज्ञानस्वभावमात्र, सबसे निराला हूँ, ज्ञानमय शुद्ध, दर्शन, ज्ञान सम्यक्त्वमय हूँ, इससे अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं हूँ। परमाणुमात्र भी मेरा कुछ और नहीं है, ऐसा उपयोग बनाने से ही इन रागादिक वासनाओं का विनाश होता है और जब वासनाओं का विनाश होता है तो क्लेश मिट जाते हैं।

जब कोई राग होता है तो देखने में आता है कि जल्दी-जल्दी प्रवृत्ति होती है और जब उसकी वासना होती है तो जल्दी की प्रवृत्ति होती है। जब वासना नहीं होती है तो बाह्य दृष्टि भी समाप्त हो जाती है। जिसके फोड़ा नहीं है वह मलहम पट्टी क्यों लगावे? जिसके बुखार नहीं है वह पसीना क्यों निकाले? जिसके वासनायें नहीं हैं वह आकुलतायें व्याकुलतायें क्यों करेगा? जब वासना का राग होता है तो इलाज करना पड़ता है। जिसकी वासनायें समाप्त हो जाती हैं फिर इलाज नहीं करना पड़ता है। इन वासनाओं का त्याग तो अपने आपकी दृष्टि से ही होगा। मैं हूँ, अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में हूँ। पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में मैं नहीं हूँ। मैं हूँ, और स्वयं परिणमनशील हूँ, इस कारण निरन्तर परिणमता रहता हूँ, परिणमता ही चला जाता हूँ, इसका दूसरों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह ज्ञानरूप की परिणति तो अपनी परिणति है। स्वभाव के कारण अपने ज्ञान की परिणति चलती जा रही है। इसका बाह्य पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

जैसे चौकी, कमण्डल, आदि पदार्थों का ज्ञान हुआ तो इसका चौकी, कमण्डल किसी चीज से सम्बन्ध नहीं है। मेरे में जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसमें इस चौकी और कमण्डल ने कोई मेरी मदद कर दी है क्या? अरे ये कोई भी मददगार नहीं है। खुद ज्ञान की परिणति होती रहती है और ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। हम लोग तो आवरण लिए हैं इस कारण ज्ञान की कुछ कमी है और यह आवरण मिट जाय तो ज्ञान सर्वविश्व का उत्पन्न हो जाय। फिर तो सारा विश्व अपने आप में जानने में आयगा। तो इस सारे विश्व की मेरे जानने में कृपा है क्या? सभी द्रव्यों के प्रति ऐसी निगाह रहे तो सम्यग्ज्ञान प्राप्त होने का यह अच्छा उपाय है। तब संसार के क्लेश दूर करने के लिए हमें अपने आत्मस्वरूप की आराधना करना चाहिए और आत्मस्वरूप की आराधना, देव की आराधना, गुरु की आराधना, स्वाध्याय, संयम, तप आदि करना चाहिए। मुफ्त का कूड़ा कचड़ा अपने घर में आ गया है उसका दान किया जाय, त्याग किया जाय। ये ६ कर्तव्य गृहस्थ के बताए गए हैं।

देखो भाई! कूड़ा कचड़ा क्या? धन वैभव ही कूड़ा कचड़ा है। उसके प्राप्त करने में आपकी कोई कर्तव्य है क्या? आपका स्पर्श है क्या? अरे वे तो भिन्न-भिन्न सत्ता वाले हैं। अगर एक जगह आ गए तो मुफ्त ही तो हैं, आत्मा का तो आकार अपने ज्ञानपर्याय में है। इस वैभव में तुम्हारा क्या गया? कुछ गया तो नहीं। इसलिए यह वैभवविभूति मुफ्त ही तो है। इसलिए यह कूड़ा कचड़ा कहलाया, धन तो जड़ है। जीव का स्वरूप चैतन्य है, मेरा इसमें कुछ नहीं है। यदि यह कूड़ा कचड़ा नहीं है तो तीर्थंकर चक्रवर्तीने इसे कैसे त्याग दिया? विभूति

सुख यहाँ द्वितीय भाग
त्याग देना क्या उनकी बेवकूफी समझना चाहिए? इस आत्मस्वरूप को देखने में और धर्म करने के प्रसंग में निश्चय की ही बात सामने रखी जाती है और उसमें उलझने की बात सामने नहीं रखी जाती है।

देखो भाई २४ घंटे हैं। २३ घंटे का समय तो विकल्पों में लग गया, पर एक घण्टे का जो समय बचता है उसमें २-४, १०-१५ मिनट का समय तो आत्मस्वरूप के चिन्तन में लगावो। अपने को सबसे निराला ज्ञानमात्र विकल्प भावों से परे अनुभव करो। यदि इस प्रकार का अपने आपको अनुभव करो तो शान्ति प्राप्त हो सकती है और यदि अपने को लुटेरों सपेरों से मिला हुआ अनुभव करोगे तो शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती है। अपने को ज्ञानस्वरूप, सबसे निराला विलक्षण चैतन्यमय अपने आपको अनुभव करो और २४ घण्टे में २, ४ मिनट तो अपने आत्मस्वरूप में दृष्टि दो तो आकुलतायें व्याकुलतायें नष्ट हो जाएंगी।

हम मूर्ति की मुद्रा का दर्शन करते हैं तो हमें शिक्षा मिलती है कि मूर्ति की तरह ही शांत अपने आपको निरखूँ अपने आपको उस मूर्ति की तरह शांत निरखे बिना शान्ति नहीं मिलती। इस प्रकार से मानो कि वीतराग मुद्रा से अपने को शिक्षा मिलती है।

जहां पर वासनायें हैं वहां दुःख हैं, वहां व्यसन हैं। तो भाई ये व्यसन तो ज्ञान के द्वारा ही नष्ट हो सकते हैं। मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, कृतकृत्य हूँ, परिपूर्ण हूँ, अधूरा नहीं हूँ, ज्ञायकस्वरूप हूँ, ऐसा ही तुम्हें अपने आपको निरखना है। यही तो इस आत्मा का काम है। इस आत्मा का इसके आगे और कोई काम नहीं है। इसलिए अपने स्वभाव में दृष्टि हो तो वहां वासनायें समाप्त हो जाएंगी, और वासनाओं के समाप्त हो जाने से सारे क्लेश समाप्त हो जाएंगे।

कामे बोधरिपावर्थेऽनर्थे तन्मूलधर्मके ।

त्यक्त्वादरं स्वमर्चयं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२-१३॥

अर्थ— ज्ञान के वैरी काम में, अनर्थ रूप धन में तथा काम, अर्थ के मूल पुण्य में आदर को छोड़कर अपने को पूजूं और मैं अपने में अपने लिये स्वयम् सुखी होऊँ।

पुरुषार्थ चार होते हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म के मायने पुण्य करना, परोपकार करना, दूसरों की सेवा सत्कार करना। व्यवहार से धर्म के मार्ग तो कितने ही हैं—दान करके, परोपकार करके, किसी भी प्रकार से गरीब पुरुषों को खिला-पिला करके इत्यादि अनेक प्रकार से धर्म किया जा सकता है। अब दूसरी बात है—अर्थ। अर्थ के मायने हैं धन कमाना। धन कमाने का पुरुषार्थ करना, इसी के मायने है अर्थ पुरुषार्थ। काम पुरुषार्थ के मायने है घर का पालन पोषण करना, समाज तथा देश के बारे में कुछ सेवाभाव उत्पन्न करना विषयभोग सेवना इत्यादि के मायने हैं काम पुरुषार्थ के और मोक्ष पुरुषार्थ तो मोक्ष ही है। यह मोक्ष पुरुषार्थ अन्य तीनों पुरुषार्थों से अच्छा है। धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ भी गृहस्थावस्था में किसी की अपेक्षा कुछ अच्छे हैं, मगर सर्वथा अच्छे नहीं कहेंगे।

अब जरा क्रम से एक एक की खबर लो। पहले काम को लो। काम निन्दनीय होता है, काम का अर्थ पालन-पोषण और काम वासना दोनों ही हैं। काम ज्ञान का बैरी है। जैसे विषयों में आसक्ति है, प्रीति है तो

सुख यहाँ द्वितीय भाग

वहाँ ज्ञान का काम तो नहीं चलता है। काम का पुरुषार्थ है ज्ञान का दुश्मन। अब अर्थ पुरुषार्थ को लो। धन तो अनर्थ का मूल है अर्थात् धन से अनर्थ होता है। धन का काम तो केवल अनर्थ है। धन के होने पर यदि विवेक है तब तो धन बनेगा और यदि विवेक नहीं है मोह है तो मोह के होने से प्रकृति ऐसी हो जाती है कि पाप करते हैं, दूसरों को सताते हैं, क्रोध करते हैं, छल दम्भ धोखा इत्यादि करते हैं, धर्म पुरुषार्थ, अर्थ पुरुषार्थ व काम पुरुषार्थ दोनों का कारण है। पुण्य का और क्या काम है? खूब कमाई आ रही है, खूब सम्पत्ति भोग की सामग्री मिल रही है सो पुण्य पुरुषार्थ की यह प्रकृति है कि काम पुरुषार्थ में और धर्म पुरुषार्थ में सहयोग दे। पुण्य पुरुषार्थ का और क्या काम है? यहाँ आत्मधर्म की बात नहीं कह रहे। उसमें यदि रम गए तो इससे अच्छा और क्या काम है? तब तो फिर सारे काम बन गए। यहाँ तो पुण्य की बात लेनी है। इस पुरुषार्थ से क्या काम बना कि धन सम्पत्ति मिल गयी, मांगी हुई सामग्री मिल गयी। यही हुई धर्म पुरुषार्थ की बात और दूसरे पुरुषार्थ की पोल को तो सुन ही लिया। काम ज्ञान का दुश्मन है। अर्थ अनर्थ का मूल है और दोनों ही दुश्मन को बढ़ावा देने वाले हैं यह धर्म (पुण्य) पुरुषार्थ।

इन तीनों पुरुषार्थों का संयुक्त ज्ञानी पुरुष आदर नहीं करता है। यदि पुरुषार्थ करना ही है तो ज्ञान का पुरुषार्थ करो। परम पुरुषार्थ का रास्ता ज्ञान है। यदि ज्ञान है तब तो परम पुरुषार्थ हो सकता है। नहीं तो मोक्ष पुरुषार्थ नहीं हो सकता है। अभी देखो शान्ति, संतोष, सुख और आनन्द इत्यादि उसी अवस्था में आते हैं जबकि अपने अन्तःकरण में विषयकषायों का अनुभव न हो। यदि कषायों का लगाव है, धनवैभवं का लगाव है तो शान्ति, सुख, आनन्द इत्यादि कैसे प्राप्त हो सकते हैं? जिनका लगाव इन सबमें होगा, उन्हें दुर्गति का पात्र बनना पड़ेगा। मनुष्य को संकटों से बचाने वाला केवल ज्ञान ही है और इसका कोई शरण नहीं है। घर में स्त्री के, पुत्र के हजार गुण हों, पर समझो कि कोई देवता हमें नहीं मिल गए हैं अपने मार्ग में ही केवल विचार बना लेते हैं कि मेरा अच्छा समागम हुआ, हम लोग सुख से हैं। देखो भाई इस तरह से अपने परिवार को देखकर और अपने धन को देखकर सुखी हो रहे हैं।

अज्ञानी जन अपने ज्ञान को इन बाहरी चीजों में ही फंसाए हुए हैं। वाह्य में ज्ञान का फंसाना ही आस्रव का कारण होता है। सो कहते हैं कि धर्म, अर्थ, काम ये तीनों पुरुषार्थ वास्तविक पुरुषार्थ नहीं है। मोक्ष का पुरुषार्थ ऐसा है कि जिससे मुक्ति प्राप्त हो जाती है। और यदि अपना उपयोग मोक्ष की प्राप्ति का ही बने तो बात उत्तम है। भैया ! जो तुम्हें चार पांच आदमी मिल गए हैं, जिनको तू अपना सर्वस्व समझ रहा है उनसे ही क्या तेरी गुजर हो जायेगी। उस पारिवारिक बंधन में पड़ा हुआ यदि तू मौज करता रहा तो क्या तेरा पूरा पड़ जायगा। तेरा पूरा तो नहीं पड़ सकता। शान्ति नहीं मिलेगी। यह जीव जहां जाता है, पहुंचता है वहीं पर रम जाता है। तो और आगे नहीं पहुंचता है।

एक स्थानक में कहते हैं कि एक राजा थे। मुनि के दर्शन करने के लिए गए। राजा ने अपने बारे में मुनि से पूछा कि महाराज मेरा परभव कैसा गुजरेगा, अब मैं मरकर क्या बनूंगा मुनि ने अवधिज्ञान से सोचा और कहा कि अमुक दिन, अमुक समय में, अमुक स्थान पर तुम मर कर विष्टा के कीड़ा बनोगे। अब राजा अपने घर आया। बड़ा उदास था। अपने लड़के से कह दिया कि बेटा मैं अमुक दिन, अमुक टाइम पर, अमुक स्थान

पर मरकर विष्टा में कीड़ा बनूंगा। तुम हमें एक लकड़ी से मार डालना। मैं तो राजा हूँ और कीड़ा मकोड़ा बनूंगा तो.। मैं तो इस जगत में कीड़ा मकोड़ा बनकर न रहूँगा। राजा मर गया और कीड़ा बन गया। लड़का एक लकड़ी लेकर पहुंचा। जिस विष्टा में राजा कीड़े के रूप में बैठा हुआ था उसी में लकड़ी से लड़के ने मारना चाहा, पर वह कीड़ा उसी विष्टा में घुस गया। देखो भाई वह कीड़ा मरना नहीं चाहता था। इस जगत में यह जीव जिस गति में जन्म लेता है वह वहां से अन्य गति में नहीं जाना चाहता है।

देखो नाम प्रकृति में गतियां चार मानी गयी हैं। नारक, तिर्यज्च, मनुष्य और देव। इसमें दो गति नरक व तिर्यज्च पाप हैं। और मनुष्य व देव ये दो गतियां पुण्य हैं। तथा आयु की चार प्रकृति हैं—नरकायु, मनुष्यायु, तिर्यचायु व देवायु। जिसमें आयु की तीन तिर्यज्च, मनुष्य और देव तो पुण्य प्रकृति में हैं। केवल नरकायु पाप प्रकृति है। यह फर्क इनमें कैसे आया? कोई तिर्यज्च या मनुष्य या देव जीव यह नहीं चाहता कि मैं मर जाऊँ। तिर्यज्च नहीं चाहता कि मैं मर जाऊँ। तिर्यज्च को तो आयु प्रिय हो गयी, किन्तु तिर्यज्च जो अवस्था गुजर रही है उसे वह नहीं चाहता और मरना भी नहीं चाहता। यह जहां जाता है वहीं मस्त हो जाता है। केवल नारकी जीव ही चाहते हैं कि मैं मर जाऊँ, अन्य कोई भी मरना नहीं चाहता है। इस कारण नरकायु पाप प्रकृति है बाकी ३ आयु पुण्य प्रकृति हैं।

हे आत्मन् ! विवेक की पूजा है। जिनको हम भगवान समझकर पूजा करते हैं सदा ध्यान लगाते हैं, भक्ति करते हैं उनके कुछ ज्ञान की तरंग ही नहीं आती है। कितना ही हम माथा रगड़ते हैं, पर वह हमारी तरफ देखते भी नहीं। देखो भैया ! बहुत दिन भक्ति करते हो गये, उनकी आराधना करते हो गए फिर भी वे हमारी तरफ देखते भी नहीं याने कुछ भी राग नहीं करते और भी हम पूजन करते, पाठ भी करते चले जा रहे हैं। देखो भाई, इतने दिन भगवान का पूजन करते हो गए उन्होंने कभी यह भी नहीं कहा कि चलो यह ले लो। हम कितनी ही भक्ति करें वे तो सकल ज्ञेय ज्ञायक निजानन्दरसलीन हैं। देखो—प्रभु हमसे बोलते भी नहीं, बहुत दिन बीत गए, दस वर्ष बीत गए, बीस वर्ष बीत गए, युग बीत गए, हमारे लिए प्रभुने कुछ नहीं किया। अरे थोड़ा सा हमसे बोल दें तो हमारा दिल तो ठंडा हो जाय, मगर कुछ नहीं किया। फिर भी हम उनको पूजते जा रहे हैं। उनके लिए हम न्यौछावर होते चले जा रहे हैं। कुछ तो बात भगवान में बड़ी है तभी तो हम उनको पूजते हैं। उन भगवान ने जो कुछ अपने लिए किया है वह ठीक ही किया है। सबसे मोह छोड़कर, ममत्व छोड़कर अपने आप में स्वयं बस गए, अपने को अपने आप में ही जान लिया, वैभव विभूति को कुछ नहीं समझा। आज प्रभु निष्कम्प निष्काम सर्वज्ञ सर्वदर्शी अनन्तानन्दमय हैं, सर्वोत्कृष्ट हैं।

हे आत्मन् ! ये बाहरे के पदार्थ भोग साधन हैं क्या, बतलाओ। एक तराजू में सेर भर मेंढक तोलो तो क्या तौल सकोगे? अरे वे उछल जावेंगे। कोई इधर से उछल गया तो कोई उधर से उछल गया। इसी तरह बाहरी पदार्थों की व्यवस्था बनाकर कोई चाहे कि हम आराम कर लें तो कर सकते हैं क्या? नहीं कर सकते हैं। बाह्य पदार्थों की हालत भी ऐसी ही है कि यह आया, वह गया और वह आया, यह गया। इस तरह बाह्य पदार्थों में अपना उपयोग फंसाकर हम आराम से नहीं रह सकते हैं। और अपनी व्यवस्था बनाकर हम आराम कर लें यह सुगमतय हो जाता है। ज्ञान दृष्टि बना लें फिर आराम से रहें। ये धर्म, अर्थ और कामपुरुषार्थ हमारी विपत्तिका कारण बनते हैं, हमारी अशांति का कारण बनते हैं।

सुख यहाँ द्वितीय भाग

गृहस्थों को यह बतलाया गया है कि धर्मपुरुषार्थ, अर्थ पुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ तीनों के बिना काम नहीं चलता है। अर्थात् बिना धर्म किए, धन कमाए, काम किए काम नहीं चलता है, सो भाई वे तीनों पुरुषार्थ गृहस्थ को करने पड़ेंगे पर उनको बताया है कि तीनों में बराबर यत्न करना चाहिए। और अगर कोई नहीं करता है, बराबर केवल धर्म (व्यावहारिक पुण्य) करता है या केवल धन कमाने में ही लगा रहता है या केवल काम में ही लगा रहता है तो उस गृहस्थी का गुजारा चलने का नहीं है। अगर केवल धर्म ही धर्म करते हो तो मुनि बन जावोगे या परिग्रहत्यागी श्रावक बन जावोगे और मुनि बन गए तो तुम्हारा गुजारा चल जायेगा। पर एक गृहस्थी का गुजारा त्रिवर्ग बिना नहीं चलेगा। उसकी गृहस्थी का काम ही नहीं चल सकता है केवल धर्म को ही खींच कर रह जावें तो गृहस्थ का गुजारा नहीं चलेगा। जैसे साधुओं की बात है कि खाना मिल गया तो खा लिया और न मिला तो कोई बात नहीं है सो इस तरह से उनका गुजारा तो चल जायगा पर एक गृहस्थी का गुजारा नहीं चलेगा। यदि कोई गृहस्थी में ही फंसा रहे, धन ही धन कमाने में पड़ा रहे, अपने परिवार का पालन पोषण ही करने में पड़ा रहे तो क्या उसका गुजारा चल जायगा? नहीं? उसका गुजारा नहीं चलेगा। और कोई ऐसा हो कि काम ही काम में रहे, विषयों में ही मस्त रहे, खाने पीने में असाक्त रहे, जिनमें मोह है उनकी सेवा खुशामद, पालन पोषण में ही रहे और धर्म, पुरुषार्थ न करे तो उसका भी काम नहीं चलेगा। इसलिए गृहस्थ को धर्मपुरुषार्थ, अर्थपुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ तीनों में ही समान समय देना पड़ता है। धर्म के समय में धर्म करें और मौज उड़ाने के समय में मौज उड़ावें व पालन-पोषण करें और धन कमाने के समय में धन कमावें।

ज्ञानी के और योगी के तो धर्म, अर्थ और काम—ये तीनों पुरुषार्थ आदर के योग्य नहीं होते हैं, विषय के काम करना तो सीधे खराब है, अर्थ पुरुषार्थ करना भी अनर्थ है, प्रायः अर्थ अनर्थ से मिलता है। अब रहा धर्म, सो यहां धर्म के मायने पुण्य है। पुण्य के विपाक में भोग का साधन ही तो जुटता है। उस भोग सेवन से दुर्गति होती है। इस कारण पुण्य ज्ञान के रिपुका (कामका) व अनर्थ का (अर्थ प्राप्ति का) कारण है। अतः पुण्य भी आदृत्य नहीं है। यदि विवेक से ही तीनों पुरुषार्थों का उपयोग हो तो गृहस्थावस्था में कुछ ठीक है, नहीं तो यह स्पष्ट बात है ही कि ये तीनों पुरुषार्थ संसार की बात है।

कुल कौ आचार ताहि मूरख धरम कहै, पंडित धरम कहै वस्तु सुभाउ कौ॥

खेहकी खजानौ ताहि अग्यानी अरथ कहै, ग्यानी अरथ कहै दरब दरसाउ कौ॥

दम्पति को भोग ताहि दुरबुद्धि काम कहै, सुधी काम कहै अभिलाष चित्त चाउकौ॥

इन्द्रलोक थानकौ अज्ञान लोग कहै मोख, सुधी मोख कहै एक बंध के अभाव कौ॥१४॥

धरमकौ साधन जु वस्तु कौ सुभाउ साधै, अरथकौ साधन विलेख दर्व घटमें।

यहे काम साधन जु संग्रहै निरासपद, सहज सरूप मोख सुद्धता प्रगट में॥

अंतर की दृष्टि सौ निरंतर विलौकै बुध, धरम अरथ काम मोख निज घट में।

साधन आराधन की सौज रहै जाके संग, भूल्यौ फिरै मूरख मिथ्यात्व की अलट में॥१५॥

समयसार नाटक बंधद्वार में धर्म अर्थ काम मोक्ष की यह परिभाषा की है—वस्तु के स्वभाव का यथार्थ ज्ञान धर्म पुरुषार्थ तथा ६ द्रव्यों का भिन्न-भिन्न स्वरूप जानना अर्थ पुरुषार्थ की साधना और निस्पृहता का

ग्रहण करना काम पुरुषार्थ की सिद्धि करना है और आत्मस्वरूप की शुद्धता प्रगट करना मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि करना है। भैया आदर के योग्य तो केवल आत्मधर्म है। कषाय की मंदता को धर्म कहते हैं, किन्तु कदाचित् मंदकषाय होने पर धर्म हो या न हो, लेकिन अपने सहजस्वरूप की दृष्टि में धर्म ही है। इसी धर्म के द्वारा कषाय मंद हो जायगा और मोक्षमार्ग भी चलेगा। उस धर्म से सत्य आदर प्राप्त होगा। अपने स्वरूप में दृष्टि अधिक से अधिक लगे तो वहीं धर्म का धारण है। धन की चीज तो यों ही हो जायगी अथवा धन तो यों ही आता है उसमें कुछ करना नहीं पड़ता है। अभी कोई समय ऐसा सुयोग का बन जावे तो यों ही कमाई हो जावे, अभी अभी २, ४ मिनट में भी कमाई हो जावेगी। यदि पुण्योदय नहीं है तो कितना ही खेद करो, उससे कुछ भी न होगा। पुण्य बंध होता है विमुक्ति से विशुद्धि होती है धर्मानुराग रूप परिणाम से। भैया ! हमें तो सोचना होगा, श्रद्धा करनी होगी, आचरण करना होगा, अपने में अपने को लगाना होगा, तभी अपना ठीक होगा। धर्म तो करने से ही होगा। बाकी धन वैभव तो यों ही हो जायगा। सो अब मैं समागत पदार्थ के व अपने पर्याय के आदर को त्याग करके, अपने सत्य स्वरूप को देख करके अपने को ही अवलोक कर अपने में अपने लिये अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

सुखारिदुर्गतिर्दैन्यं पापं तद्धेतुकं ततः ।

दूरं वसानि पापेभ्यः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२-१४॥

अर्थ— दीनरूपभाव, सुख का वैरी है तथा स्वयं दुर्गतिस्वरूप है और पाप (अशुद्धोपयोग) दैन्य का कारण है इसलिये मैं उन पापों से दूर रहूँ और अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

जगत् के सभी जीव सुख चाहते हैं और जितने भी ये यत्न करते हैं सुख पाने के लिए ही यत्न करते हैं। धन कमाना, देश सेवा करना, विषय साधना करना, भोग करना, आत्महत्या कर डालना इत्यादि सारे के सारे यत्न सुख के लिए जीव करते हैं। उन यत्नों से सुख मिल ही जाय ऐसा तो नहीं है। यदि वे योग्य काम हैं तो सुख मिलेगा और यदि अयोग्य काम हैं तो सुख नहीं मिलेगा। परन्तु सभी प्रयत्न सुख के लिए करते हैं। सुख होता क्यों नहीं है? देखो दुःख के जितने कारण हैं, जो कुछ हैं उनमें विचार करो तो अंत में एक ही बात मिलेगी। क्या? सुख का दुश्मन है दीनता का भाव, दीनता का परिणाम, दीनता सुख का दुश्मन है? पञ्चेन्द्रिय के विषय में जब इच्छा होती है तब दीनता ही रहती है। अपने में विषयों की चाह है तो दीनता होगी। पर का भाव आ गया, स्त्री के आधीन हो गए या नए नए जो साधन हैं उनके आधीन हो गए। यहां भी दीनता है। गरीब हो गए। अपने बलका कोई मूल्य नहीं करता, यह सब दीनता ही तो है।

यह दीनता सुख का दुश्मन है। दसों तरह के भोजन करनेके परिणाम हो गए। अब यह चीज चाहिए, अब वह चीज चाहिए इत्यादि से वे पराधीन होते हैं। दसों प्रकार के व्यञ्जन रखे हैं, यदि खाने वाले के मन में आ जाय कि यह चीज अच्छी है, बस इतने में ही जीव के दीनता आ जायेगी। चाहे ऊपर से न मांगे, पर आशा के परिणाम आ गए तो दीनता है और इस दीनता की बुद्धि में फिर वह मुख से मांगने लगता है. यह दीनता का परिणाम ही मूल में ऐसा है जो सुख का दुश्मन है। इसी तरह मन, चक्षु, श्रोत्र आदि के वशीभूत हुए तो दीनता आ जायगी, और यदि किसी चीज के वशीभूत हुए तो दीनता आ जायगी, और यदि किसी चीज के

सुख यहाँ द्वितीय भाग

वशीभूत नहीं हुए तो दीनता नहीं आती है। जगत् के किसी पदार्थ की चाह नहीं है तो दीनता कैसे आवेगी? एक की बात न देखो। कितने के सामने ये जगत् के जीव दीन बने रहते हैं। स्त्री के दीन, धन के दीन इत्यादि जिन-जिन बातों में चाह है, जिन-जिन वस्तुओं से प्रीति है उन सब पदार्थों में दीन बने रहते हैं। सुख का अभाव किसने किया, दीनता ने। धनहीन होने को दीन नहीं कहते, क्योंकि पर वस्तुओं की चाह करे, भीतर में लच जाय उसे दीनता कहते हैं। यह दीनता का परिणाम है सो सुख का दुश्मन है।

एक बार एक राजा जंगल से निकला तो वहाँ एक संन्यासी बैठा था। वह राजा संन्यासीसे आगे निकल गया, नमस्कार भी नहीं किया, बोला भी नहीं, अब वह वहाँ से वापिस आया। कुछ थका माँदा था सो वह साधु के पास आराम करने के लिए बैठ गया। राजा ने विनय नहीं की और न कोई सेवा सुश्रुषा की बात की। राजा गर्व से भरा हुआ बैठा था। साधु ने एक श्लोक के द्वारा कहा कि

‘वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः, सम इव परितोषो निर्विशेषो विशेषः।

स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा, विशाला, मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः।।”

अर्थात् यदि तुम रेशम के वस्त्र पहिनकर खुश हो तो हम वृक्ष की छाल और वल्कल पहिनकर खुश हैं। तुम यदि अर्थ से अर्थात् धन से खुश रहा करते हो तो हम आचार्यों के ऊँचे-ऊँचे श्लोकों के अर्थ लगाकर खुश रहा करते हैं। यदि तुम बड़े अच्छे-अच्छे पलंग, वाहन, आसनों में खुश रहा करते हो तो मैं पारमार्थिक तत्वों को विचारने में खुश रहा करता हूँ। हममें और तुममें अंतर क्या है? कुछ नहीं। पर राजन् दरिद्र वह है जिसके हृदय में तृष्णा लगी रहती है।

सुख का दुश्मन दीनता है। जब जीवों को क्रोध आता है, उसके मन में दीनता आती है, घमंड आता है, मायाचार होता है, दूसरों से सम्मान चाहा जाता है तब दीन होता है। सुख का दुश्मन दीनता का परिणाम है। सो भैया ! देखो मोही की निर्लज्जता कि इसके दीनता आती है कि दीनता भी आती जावे और सुख भी मिले। यह दीनता होती कैसे है, मिथ्यात्व के पाप से, भ्रम के पाप से। पाप पाँच होते हैं—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया और लोभ ये पाँच ही पाप हैं। हिंसा, झूठ, चोरी आदि ये तो लोक दृष्टि से पाप हैं। जो दूसरों की समझ में आते, जिनका त्याग लोकव्यवस्था के हेतुभूत हैं, इनमें भी वास्तव में अन्तर्वर्ती दुर्भाव ही पाप हैं। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया और लोभ, इन पापों में कौन सा पाप छूट गया? हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि किए जाते तो इन्हीं पापों की वजह से किए जाते हैं। सो पाप तो वास्तव में मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ हैं। उनमें प्रबल है मोह।

आप लाख दर्जे मेरा हित चाहते हैं, किन्तु मुझे भ्रम हो जाय तो आपकी शक्ति देखकर मेरे दुर्भाव के कारण मुझे पाप लग रहे हैं। मुझे भ्रम हो गया तो मैं मरा जाता हूँ, जला जाता हूँ, भ्रम तो पाप है और धोखा कैसा है? धोखा भी एक पाप है। किसी ने किसी को धोखा दिया तो धोखा देने वाले को टोटा है कि जिसे धोखा दिया गया उसे टोटा है? टोटा तो उसे है जिसने धोखा दिया, जिसको धोखा दिया गया है वह यदि ज्ञान में है तो टोटा नहीं है और यदि ज्ञान में नहीं है तो संक्लेशभाव होने से टोटा है। जिसने धोखा दिया उसका ऐसा

रुद्र परिणाम है कि वह कठोर बन गया। उसको तो विशिष्ट पाप है। उसका कैसे छुटकारा होगा, वह कैसे पार होगा? जिसने धोखा दिया उसे महा पाप है। जिसको धोखा दिया गया उसकी आत्मा को कितना क्लेश होता है, इसका तो वही अनुभव कर सकता है जिसे क्लेश होता है। जिसको धोखा दिया है उसके मन में ऐसा तूक आता है कि अगर साधन हों तो धोखा देने वाले की जान भी ले ले और यह मिथ्या मोह भी क्या है? पाप ही तो है।

प्रश्न:—जिसको धोखा दिया वह इतना संक्लेश करता और हिंसा का विचार करता है तो वह भी तो बड़ा पाप करता है। उत्तर—पाप वह भी करता है परन्तु वह अपने अन्य दुर्भाव से करता है। यह मोह भी क्या है? यह विश्वासघात है, मिथ्या है। जैसी बात है, जैसा पदार्थ का स्वरूप है वैसा विश्वास नहीं बना और उसका उल्टा बना बैठा तो यह धोखा है और अपने आपको धोखा दे रहा है तो यह कितना कुयोनियों में भ्रमण कराने वाला धोखा है? धोखा अपने को देने वाला मैं खुद हूँ, कोई दूसरा नहीं है। अपनी ही कल्पनाओं में मस्त रहें और यह सोचें कि हम काम ठीक कर रहे हैं, हमारा यों काम चल रहा है, हम मजे में हैं इत्यादि। पर वृद्धावस्था में खबर कुछ और ही होगी कि हाय! हाय! ६०, ७०, ८० वर्ष धोखे में ही चले गए। अब क्या होगा, करने योग्य समय में तो कुछ नहीं किया प्रायः जिसके जवानी है, बचपन है उसके ज्ञान विकसित नहीं हो रहा है, पर अंत में उसको धोखा है। जब लोगों को कष्ट होने लगता व अधिक कष्ट सहने नहीं जाते तभी ज्ञान होता है। किसी किसी के जवानी या बचपन में ही विवेक हो जाता है। ये जगत् के प्राणी अपने को धोखा देते जा रहे हैं। अच्छा खाने पीने का ही काम है, सन्तुष्ट होकर खाते हैं। अरे वे इस सुख में ही मस्त होकर अपने आपको धोखा देते हैं। ये सब तो नष्ट होने वाले हैं, उनकी चीजें नहीं हैं। सुख में मस्त होना अपने आपको धोखा देना है। भैया! जो सुख आते हैं उनके भी तुम जाननहार रहो, फिर और यह जो दुःख होते हैं उनके भी तुम जाननहार रहो, फिर और जो विकल्प होते हैं उनके भी तुम जाननहार रहो। यों सुख में मस्त हुए जाते हो और दुःख में घबड़ाए जाते हो। यही तो इस संसार में विकार हैं। अरे परपदार्थों में, पर जीवों में मस्त न होओ। उनमें मस्त होने से सुख नहीं होता। जिसके लालच है उसके ही दीनता है, और जहां पर दीनता है, वहां पर क्लेश है। जैसे कोई किसी वस्तु में लालच करे पर वस्तुओं में दृष्टि दें तो वहीं दीनता है। तो सुख की दुश्मन दीनता है, दीनता का परिणाम है और वह एक बड़ी दुर्गति है, उसका कारण पाप है। पाप करें तो दीनता उत्पन्न होती है। इसलिए पाप से दूर रहना चाहिए, यही मनुष्य की सर्वोत्कृष्ट विभूति है। जो पुराणों में लिखे गए महापुरुष हैं उनमें यह विशेषता थी कि वे पाप से दूर रहे, उनकी धर्म में प्रीति रही। इसी से उनके पुराण बन गए। भक्त लोग उनके चरित्र के पन्ना उलटते हैं और उनके चरित्र पढ़ते हैं। तो हमें भी चाहिए कि पाप से दूर रहें पाप को छोड़ दें।

एक जगह शास्त्र सभा हो रही थी। अनेक लोग शास्त्र में बैठे हुए थे। एक लकड़हारा भी उस दिन शास्त्र में बैठा था। शास्त्र में चर्चा चली कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील व परिग्रह ये पांच पाप ही दुःख देने वाले हैं, उनको त्यागना चाहिए। यह सुनकर उसने सोचा कि मैं कुछ और पाप तो करता नहीं हूँ केवल जंगल में हरी लकड़ी काटता हूँ। अच्छा उसे अब मैं नहीं काटूंगा, मैं केवल सुखी लकड़ियां बीन लाया करूंगा, या किसी सूखे

पेड़ से ही काट लाया करूंगा। झूठ का पाप तो और कुछ नहीं करता, मैं किसी से झूठ नहीं बोलता केवल ग्राहक से लकड़ी के ठहराने में झूठ बोलता हूँ सो यह भी न बोलूंगा। आठ आना की लकड़ी लाऊंगा और आठ आना कहूंगा। चोरी मैं नहीं करता कि सिर्फ दो पैसे की चुंगी बचा लेता हूँ। अब मैं चोरी भी नहीं करूंगा। मैंने किसी दूसरे की स्त्री पर दृष्टि भी नहीं डाली। अच्छा अब मैं पूर्ण ब्रह्मचर्य कर लूँ। स्वस्त्री से भी ब्रह्मचर्य रहेगा। परिग्रह का भी क्या करना है? आठ आने की लकड़ी बेचता हूँ। दो आने धर्म में खर्च करूँ, चार आने में गुजर बसर करूँ और दो आने जो बचते हैं उन्हें विपत्तियों से बचने के लिए, संकटों से हटने के लिए, विवाह आदि कामों में लगाने के लिए जोड़ता रहूँ। अपनी कमाई के चार भाग कर लिए। उसके परिग्रह का काम ठीक हो गया। इस तरह से वह अपनी गुजर करता गया। एक दिन लकड़हारा जंगल से लकड़ी काटकर एक सेठ की हवेली के नीचे से निकला। उसी समय सेठ के रसोइया को लकड़ी की जरूरत थी सो उस सेठ का नौकर रसोइया भी निकला, बोला—लकड़ी बेचोगे? हां हां बेचूंगा। कितने में बेचोगे? ८ आने में। ४ आने लोगे? ६ आने लोगे? नहीं। ७ आने लोगे? नहीं। लकड़हारा चल पड़ा। रसोइया थोड़ी देर बाद बोला अच्छा लौट आवो लकड़हारा लौट आया, लकड़हारे से रसोइया ने फिर कहा—साढ़े सात आना देंगे। लकड़हारा बोला—तू किस बेइमान का नौकर है? ऊपर से सेठ सुन रहा था, सेठ ने बुलाया, बैठाया और बोला कि हमें बेइमान क्यों बना रहे हो? कहा—महाराज नौकर भी जैसे संग में रहता है वैसा ही सीख लेता है। नौकर पहले तो बुलाकर कहता है कि मंजूर है, फिर बाद में कहता है कि साढ़े सात आने लोगे। सेठ जी तुम तो रोज शास्त्र में बैठते हो, हम तुम्हें देखते हैं। हम तो केवल एक ही दिन शास्त्र में बैठे, तब से ही मैंने पाँचों पापों का त्याग कर लिया अब मैं हरी लकड़ी नहीं काटता, चुंगी के पैसे नहीं चुराता, झूठ नहीं बोलता, हम ब्रह्मचर्य का पालन भी करते हैं। अपनी कमाई का चौथाई भाग धर्म के कामों में, दो चौथाई गुजारे में लगाता हूँ और एक चौथाई विपत्तियों के लिए, संकटों के लिए और घर के काम काजों के लिए बचाता हूँ। सेठ बोला कि अरे लकड़हारे पुण्यवान तो तू ही है। सेठ ने उसका आदर सत्कार किया।

प्रयोजन यह है कि दुर्गति तो पापों से बना करती है। जो पापों को बनाता है वह आदर्श नहीं बन पाता है। और जो पापों से दूर रहता है वह आदर सत्कार प्राप्त करता है, सुखी रहता है। सुखी होने का उपाय है पापों को दूर करना। सो पाप ५ हैं—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया और लोभ। इन पापों के जो वशीभूत है वह शांति प्राप्त नहीं कर सकता है। दीनता तब आती है जब अपने को तू तुच्छ समझता है। दूसरों से ही मेरी जिन्दगी है, दूसरों से ही मुझे सुख है, इस तरह के मिथ्या परिणाम रहते हैं तभी दीनता रहती है और यदि ऐसे परिणाम हों कि मैं आत्मा शुद्ध, चैतन्यस्वरूप हूँ, ज्ञानानन्दभाव मात्र हूँ, विलक्षण हूँ, सर्वोत्कृष्ट हूँ, ऐसा मैं अपनी आत्मा को देखूँ तो मैं सुखी हूँ, परिपूर्ण हूँ, मेरे में हीनता नहीं है।

दीनता का कुछ मेरे में काम ही नहीं है। यह तो ज्ञानमात्र भाव है। इसके तुच्छता कहाँ बसी है? ऐसे परिणाम वाला आनन्द पाता है और जो इस प्रकार से अपने को नहीं देखता है और बाहर में ही मोह लगाए रहता है उसके दीनता आ जाती है। इस दीनता के मिटाने का उपाय है अपने आप में दृष्टि करना। जितना भी मुझे सुख मिलता है वह मेरे ज्ञान के विकास से मिलता है। एक मनुष्य भोजन करके अपने आप में सुख का

अनुभव करता है तो एक योगी उपवास करके, निराहार रहकर अपने प्रभु के दर्शन करके सुख प्राप्त करता है। तब कैसे कहा जाय कि सुख का कारण भोजन ही है। जो भोजन करके सुखी होता है वह अपने ही ज्ञान से सुखी होता है। यदि कोई बहुत बढ़िया-बढ़िया भोजन कराते हैं और दो-चार चोंचले भी करते जाते हैं याने बढ़िया भोजन खूब प्रेम से कराते हैं और खुद भी भोजन करते जाते हैं और कहते हैं कि खा लो, ऐसा अच्छा भोजन कभी नहीं किया होगा। तुम्हारे बापने भी कभी ऐसा भोजन नहीं खाया होगा। तो इसके बाद वह भोजन विष सा लगता है। खाने वाला कितना दुःख महसूस करेगा? अरे वाह्य वस्तु से तुमने सुख माना है तो सुख ही उससे निकलना चाहिए। तो मतलब यह है कि जो भोजन किया जा रहा हो उस भोजन से सुख नहीं मिलता है, केवल कल्पनायें बना लेने से ही तदनुकूल काल्पनिक सुख मिलता है। सर्वत्र ही जीव को ज्ञान से सुख मिलता है। सुख और दुःख ज्ञान के ऊपर ही निर्भर हैं। यदि अपने में ज्ञान है तो वहाँ दुःखों का नाम नहीं है और यदि ज्ञान नहीं है तो आजीवन क्लेश हैं। कल्पनायें बना लेने से दुःख सुख हो जाते हैं। अभी कोई क्लेश है तो अगर सही ज्ञान बना लें कि मैं तो ज्ञानानन्दधन स्वरूप हूँ, मैं तो सुखी हूँ तो क्लेश दूर हो जावेंगे।

एक मनुष्य को कोई अच्छा कांच मिल जाय, उसे यदि कल्पना हो जाय कि वह तो हीरा है, अरे यह तो २०-२५ हजार का कम से कम होगा। बस समझो उसको ठसक आ जाती है। कहीं अंगूठी के भीतर कोई कांच लगा हो और यह भ्रम हो जाय कि यह तो हीरा है, कम से कम १० हजार का होगा। इतने से ही वह प्रसन्न हो जायगा, सुखी हो जायगा। और यदि हीरा भी हो और जरा देर में यह समझ में आ जावे कि यह तो कांच है। तो उसका चित्त बुझा रहता है। वाह्यपदार्थों से कोई सुख नहीं है। पर भ्रम ऐसा बन गया है कि वाह्य पदार्थों से ही सुख है, यही समझ कर वह परिश्रम करता है और उनका संग्रह करता है। जैसे कुत्ते को सूखी हड्डी मिल जाय तो उसको मुंह में रखकर अकेले में चबाता है। उसके चबाने से दांत मसूड़े फट जाते हैं, खून भी आ जाता है, अपने खून का आनन्द आता है पर भ्रम हो गया कि उसको हड्डी चबाने से आनन्द आता है। यदि कोई दूसरा कुत्ता उसको छीनने के लिए दौड़ता है तो वह गुर्राता है। भ्रम हो गया ना उसे कि यह हड्डी का खून है। उसे इस विकृत ज्ञान से विकृत आनन्द मिला, यह दृष्टान्त है।

इसी तरह जगत के जीव अपने स्वयं ज्ञान से, अपने ही आनन्द के विकार से सुखी होते हैं। किन्तु उस समय जिन वाह्य पदार्थों को उपयोग में लिए हुए हैं उनसे सुख का भ्रम हो गया। सो कोई परवस्तुओं को पकड़ता है और संग्रह करता है और उनके ही पीछे झंझट चलता है। सही पता हो जाय कि मैं स्वयं ज्ञानानन्दपुञ्ज, अविनाशी तत्व हूँ। यदि यह पता पड़े तो इसके दीनता न रहे। यह दीन हो जाता है पञ्चेन्द्रिय के विषयों को देख कर। ऐसा दीन हो जाना ही उसके दुःख का कारण है।

हे आत्मन्! ऐसा अपने आपको निरखो कि मैं भगवान् सदृश ज्ञानमात्र हूँ, इसमें दुःखों का काम नहीं है, इसके सारे प्रदेश में आनन्द भरा हुआ है। आनन्द की मेरे में कमी नहीं है। मेरा ज्ञान मेरे से बाहर नहीं है और न आनन्द ही मेरे से बाहर है। मैं स्वयं ज्ञानानन्दधन हूँ, यह लक्ष्य हो जाय, ऐसा भीतर से परिचय मिल जाय, दृढ़ प्रतीति हो जाय, ऐसा यह उपयोग बनाने के लिए तैयार हो जाय तो उसको क्लेश नहीं मिल सकते हैं। पर भैया! सम्बन्ध में हानि ही हानि है। अकेला है तो बड़ा सुख है और यदि दुकेला हो गया, विवाह हो गया तो क्या

मिला कि चौपाया हो गया। दो पैर खुदके, दो स्त्री के हैं। चौपाया जानवर कहलाते हैं। दो हाथ पैर वाला मनुष्य था, अब चौपाया हो गया। बच्चा हो गया तो छैपाया हो गया, भंवरा हो गया। अब भंवरे की तरह आवश्यकता की पूर्ति के लिए डोलता फिरता है। बच्चे का विवाह भी हो गया तो अष्ट पाया हो गया अर्थात् मकड़ी बन गया। मकड़ी का जाल होता है। उसने अपने में जाल बनाया और फंस गया। ५०, ६०, ७०, ८० वर्ष तक उनकी ही धुन में लगा रहता है। कितने ही संकट आवें, घर में बसने वाले लोगों को मान लिया कि ये मेरे हैं और ये दुनिया के लोग क्या हैं? ये गैर हैं। ये सब भाव अपने लिए मोह की विपदायें हैं।

भैया! ऐसा भाव अपने मन में बने कि मैं भगवान् तुल्य, ज्ञानघन, पवित्र आत्मा, सबसे न्यारा हूँ, तो आत्मकुशलता है, परन्तु ज्ञान में तो यह आता है कि यह मेरा लड़का है, यह मेरा घर है, और बाकी तो सब गैर हैं। वे चाहे मर जावें, चाहे जो कुछ हो जावे उनसे मेरा कुछ मतलब नहीं, पर अपने घर के जो २, ४ मनुष्य हैं उनको पकड़े हुए हैं। इन दो चार मनुष्यों का मोह छोड़ो, ये भी सब तेरे कुछ नहीं हैं। इनके मोह से ही रुलना पड़ेगा। मगर उन्हीं के बारे में भक्ति है, भावना है व ज्ञान है। दस लक्षण में दान करेंगे, व्रत करेंगे पर मोह न करें ऐसे भाव तक का उत्साह भी नहीं होता। भैया! सबसे बड़ी विपदा यही है कि यह विकल्प हो कि घर में बसे दो चार को मान लिया कि ये मेरे हैं बाकी सब गैर हैं। अरे कौन किस गति से आया, यहां कब तक रहेगा, कुछ भी तो सम्बन्ध नहीं, फिर भी विपरीत बात मन में आना और जिस कल्पना में ही रमता, यह कितनी बड़ी भारी विपत्ति है? भगवान् की बात और तो सब मान ली जायेगी किन्तु मोह त्यागने की बात नहीं मानी जाती तो माना ही क्या? भगवान् का तो मूल उपदेश मोह और मिथ्यात्व न करने का है। जैसे कोई पनाला निकालने की घटना थी। पटेल दूसरे घर के पास में पनाला निकालना चाहता था, तब पंचों ने फैसला उसकी इच्छा के कुछ विपरीत दिया तो पटेल कहता है कि पंचों का कहना सिर माथे पर, पनाला यहीं पर निकलेगा। सो भगवान् की पूजा मंजूर है, दान उपवास आदि मंजूर हैं पर मोह छोड़ने की बात नहीं कर सकते यही सबसे बड़ी विपदा है। मोह ही सब पापों का मूल है। जगत के समस्त क्लेश पापों से आते हैं। तो मैं इन पापों को अपने से दूर करके अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

कार्य हेतु न चान्यन्मे भाति विश्वं स्वसत्तया ।

ज्ञानं सुखं परस्मात्र स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।२-१५।।

अर्थ— मेरा कार्य और कारण अन्य कुछ नहीं है विश्व तो स्वयं ही सत्ता से प्रतिभासमान होता है निश्चय से ज्ञान और सुख पर पदार्थ से होते ही नहीं अतः मैं अपने में अपने लिये अपने आप ही सुखी होऊँ।

प्रत्येक जीव सुख चाहते हैं। सुख प्राप्त होने का केवल एक ही उपाय है दूसरा नहीं है। वह यह है कि मैं एक स्वतंत्र सत् हूँ, मैं सबसे निराला एक जुदा पदार्थ हूँ, ऐसा अपने आप में विश्वास आ जाना यह ही सुख का उपाय है। मैं कैसा स्वतंत्र पदार्थ हूँ। किसी को धोखा देने के लिए नहीं हूँ, मैं स्वयं एक स्वतंत्र पदार्थ हूँ और जगत के सब जीव भी स्वतंत्र स्वतन्त्र पदार्थ हैं। किसी पदार्थ का दूसरा पदार्थ न कार्य है और न कारण है। इसी प्रकार स्वतन्त्र जानते रहने का उपयोग ही सुख का कारण है, मेरा कोई कारण नहीं है अर्थात् मैं किसी चीज से पैदा हुआ नहीं हूँ। ऐसा निरखना ही ज्ञान है और ऐसा निरखने से ही सुख है। वह मैं किसी दूसरे

पदार्थ से पैदा हूँ ऐसी बात नहीं है। प्रत्येक पदार्थ अपने आप में है और अपने आप में ही परिणमता रहता है। मैं ऐसा ही ज्ञानमय हूँ, सुखमय हूँ जो स्वतन्त्र हूँ और अपने आप में अपने द्वारा अपनी शक्ति को व्यक्ति में परिणमता रहता हूँ। मेरा जो परिणाम होगा वह ज्ञान और सुख का होगा। जैसा आत्मा का स्वरूप है वैसा ही परिणमन होगा।

जैसे आम में रूप गुण है तो आम में क्या काम होगा? नीला? पीला हो जाय, लाल हो जाय, रूप बदलता रहेगा। यही तो आम का काम है। आम में रस है तो रस बदलता रहता है। खट्टा हो जाय, मीठा हो जाय, कैसा भी हो जाय, यही तो रसका काम है। इसी प्रकार मेरा गुण ज्ञान व आनन्द है तो मेरा क्या काम होगा, कभी अपूर्ण विकासी रहे, कभी पूर्ण विकासी रहे, कभी अल्पज्ञ रहे, कभी पूर्ण ज्ञाता रहे, कभी विकृतानंदी रहूँ, कभी आत्मानंदी रहूँ, यही तो मेरा काम है। यहां पर कोई दूसरा काम नहीं है। मेरे गुण से ही ज्ञान और आनन्द वर्तता है। यह मैं आत्मा अपने को सोचूँ कि मैं आनन्दस्वरूप हूँ, स्वतंत्र अस्तित्व को लिए हुए हूँ, अपने आप में हूँ अपने आप से ही ज्ञान व आनन्द मिलता है, किसी दूसरे पदार्थ से ज्ञान व आनन्द नहीं मिलता है। यह आत्मा ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण है। मेरे में ज्ञान व आनन्द किसी दूसरे पदार्थ से नहीं आता है। मेरे में जो ज्ञान आनन्द भरा हुआ है वह दूसरे पदार्थों के कारण नहीं है। दूसरे पदार्थ तो मेरे ज्ञान और आनन्द के बाधक बन सकते हैं, हमारे ज्ञान और आनन्द के साधक नहीं बन सकते। परमार्थ से बाह्य पदार्थ मेरे ज्ञान और आनन्द के बाधक भी नहीं बनते, क्योंकि हम स्वयं ही कल्पनायें बनाकर विह्वल हो जाते हैं। मेरे में तो आनन्द और ज्ञान है, मैं आत्मा अपने ज्ञान आनन्द में स्वयं तृप्त हूँ। यदि किसी बाह्य में दृष्टि न हो, मोह न हो तो हमारा ज्ञान जितना भगवान का है उतना हो जायेगा मैं तो सबसे जुदा हूँ फिर भी स्वयं ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण हूँ।

मेरी और भगवान की जाति तो एक है पर अन्तर इतना है कि उनके ज्ञान और आनन्द परिपूर्ण अनन्त हैं और हमारे ज्ञान और आनन्द अल्प हैं। ऐसा क्यों हुआ ? हममें गलती यह है कि हम अपने स्वरूप को न जानकर दीन बने हुए हैं। यही गलती है और यही कारण है। इसी गलती के ही कारण दुःखी हो रहे हैं। जानकारी किसी भी चीज की कर लें तो जानकारी करने में दीनता नहीं आती है। दीनता तो अपने में आशामयी कल्पनायें बना लेने से आती हैं। दीनता से क्लेश आ जाते हैं। यदि आशायें मिट जायें तो दीनता मिट जायेगी। यदि हमें दीनता मिटाना है तो पर की दृष्टि छोड़ दें। पर की दृष्टि से ही क्लेश होते हैं। अतः यदि पर की दृष्टि छोड़ दें और अपने आप के महत्व को समझ लें तो दीनता मिट जाती है। यदि अपने में दीनता का भाव न रहे तो आनन्द ही आनन्द है और अन्य इसका उपाय नहीं है। कितने उपाय कर डालें, पर अधूरे ही रहेंगे। दुःख न हों, अशांति न हो ऐसी अवस्था न हो, ऐसा चाहते हो तो अपने आपको कृतार्थ समझकर अपने आप पर विश्वास करना चाहिए।

विश्वास यह होना चाहिए कि मैं एक सत् पदार्थ हूँ, अपने में हूँ मेरे में ज्ञान अपूर्ण नहीं ज्ञान और सुख से लबालब भरा हुआ हूँ। हालांकि इस समय एक समस्या सामने है कि भूख तो लगती ही है, इससे तो भोजन में तो दृष्टि देना ही होता है, यह नहीं कि दृष्टि भोजन ही भोजन में रहे, उपाय ऐसा बने कि भोजन की इच्छा ही न

रहे और ज्ञान व आनन्द ही रहे। भोजन तो करते ही जाते और पूरा कुछ पड़ता नहीं, तब इतना तो करो कि भोजन में आसक्ति न रखो। अपने पेट की केवल पूर्ति कर लो और अपने भाव निराहार ज्ञायकस्वरूप भाव की प्रतीतिरूप कर लो तो अमर रह सकते हो। यदि भोजन की इच्छा दूर होगी और निराहार ज्ञायकस्वभावमय आत्मतत्त्व की दृष्टि होगी तो उसका यह परिणाम होगा कि आहार संज्ञा खत्म हो जायगी और ऐसी स्थिति आवेगी कि यह शरीर छूट जायगा व इस संसार के सारे झगड़े छूट जायेंगे और केवल आत्मा ही आत्मा रह जावेगी। यह स्थिति ही सर्वोत्कृष्ट है। यदि मन में कुछ लालसा, लालच इत्यादि करने की भावनायें बनें तो फिर ऐसी स्थिति कैसे आ सकती है? लालसा करो तो करो यथार्थ दृष्टि की, अपने आप में लाने की, अपने आप में झुकने की, विकल्पों से छूटने की ओर अपने आप की आत्मा की सेवा करने की, किन्तु ऐसी लालसा करना कि २ लड़के हो जावें, ४ लड़के हो जावें, मेरी ऐसी स्थिति बन जाये, धन हो जाय इत्यादि, ऐसी लालसा करने से तो ठीक नहीं होगा। अरे इससे पूरा नहीं पड़ेगा। ऐसा करने से कोई न कोई काम, विपदा, संकट खड़े ही रहेंगे। अब यह है, अब वह है, अब यह चाहिए और अब यह मिले, इस तरह से अनेक विकल्प खड़े ही रहेंगे। यों तो विकल्पों से आकुलता ही आकुलता आयगी।

हे प्रभु, हे निजनाथ ! मेरे में ऐसा बल भरो कि केवल अपने आप की शक्ति आवे, किसी भी बाह्य पदार्थ के विकल्प न बनें। बाह्य पदार्थों को मुझे सोचना ही न पड़े। बाह्य में सोचने से कुछ लाभ भी नहीं है, सोचते होंगे कि हम लड़के को पढ़ाते हैं तो पढ़ता है। अरे लड़के का भाग्य है। अपने भाग्य से ही वह पढ़ता है। लड़के की सेवा करते हैं, खुशामद करते हैं तो यह बतलावो कि आपका भाग्य बढ़ा है या उस लड़के का भाग्य बढ़ा है, जिसकी सेवा करते हो, पढ़ाते-लिखाते हो, खिलाते-पिलाते हो, भारी सेवायें करते हो, बताओ उस लड़के का भाग्य अच्छा है कि आपका अच्छा है? अरे जिसका भाग्य अच्छा है उसकी चिन्ता करते हो और अपने भवितव्य के प्रति चिन्ता नहीं करते हो। ये सब काम होते हैं और अपने आप होते रहेंगे। सबके भाग्य व काम जुदा-जुदा हैं। क्यों चिन्ता करते हो? चिन्ता से पूरा भी नहीं पड़ेगा। ऐसी बाह्य चिन्ताओं से फायदा नहीं है। अपने आपका चिन्तन करो कि मैं शुद्ध, ज्ञानभाव, ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ। केवल आत्मदृष्टि का ज्ञान होने का ही स्वाद लेकर यह अनुभव करो कि मैं आनन्दमय हूँ। यदि बाह्य वस्तुओं की, विषयों की स्थिति में रहें तो आनन्द नहीं है। आनन्द है तो केवल अपने आप के ज्ञानस्वरूप की दृष्टि में है।

भैया ! जिनकी हम पूजा करते हैं, जिनका आदर करते हैं, जिनका चरित्र पढ़ते हैं उन्होंने अपने आप पर विश्वास किया, बाह्यदृष्टि खत्म की और अपने ही ज्ञानरस का स्वाद लेकर रहे तथा इसके परिणामस्वरूप चरमविकास प्राप्त किया, इसलिए उनका हम आदर करते हैं, उन्हें पूजते हैं। जीवन में एक महान् उद्देश्य यह बनाना चाहिए कि मेरी वह स्थिति आवे जिसमें केवल अपने ज्ञानस्वभाव का ही अनुभव करता रहूँ और ज्ञानस्वरूप का ही स्वाद लेता रहूँ। अपने आप में यह विश्वास हो कि मैं सबसे निराला स्वतंत्र पदार्थ हूँ। मेरे में दूसरा कुछ फेर बदल नहीं कर सकता है। मैं दूसरे लोगों का कुछ फेर नहीं कर सकता हूँ। सब सत् हैं और अपने ही सत् के कारण वे परिणमते रहते हैं। मैं किसी का कारण नहीं जो किसी का कुछ कर देता हूँ। मैं किसी का कार्य नहीं कि दूसरे लोग मुझे कुछ कर देते हों। सब अपने-अपने सत् के मालिक हैं। ऐसी दृष्टि यदि अपने

में हो तो निश्चित मुक्ति का मार्ग है। समस्त जगत् के जितने पदार्थ हैं वे सब अपने-अपने सत् में रहते हैं और कोई भी अपने-अपने स्वरूप से आगे नहीं जाते हैं।

हे आत्मन् ! ऐसा अपने आप में विश्वास तो कर कि जो मैं कर सकता हूँ वह अपने को ही कर सकता हूँ, दूसरे को कुछ नहीं कर सकता हूँ, व भोग सकता हूँ तो अपने ही स्वरूप को भोग सकता हूँ। हाय, विषय कषायों के परिणामों में पड़कर जगत् के सब जीव बरबाद हो गए हैं। मेरा भगवान् तो अनन्त आनन्दमय है। इन सर्व परपदार्थों से कुछ सम्बन्ध नहीं, कुछ लेना देना नहीं, सब अपने-अपने में हैं, सब कुछ न्यारे-न्यारे हैं फिर भी वाह्य पदार्थों के बारे में यह कल्पनायें उठ जाती हैं कि यह मेरी है, यह उसकी है, यह बहुत बड़ी विपत्ति छापी है। इन वाह्यपदार्थों में मेरा कुछ नहीं है। यदि वाह्य पदार्थों में दृष्टि होगी, वाह्य की आशा होगी तो अनन्त दुःख होंगे। सुख का उपाय अपनी स्वतन्त्रता का विश्वास है। जगत् के सभी पदार्थों को अपनी स्वतन्त्रता का विश्वास हो तो क्लेश नहीं हैं और यदि अपने स्वरूप से हट गए तो क्लेश ही रहेंगे, दूसरे पदार्थों में ही लगे रहे तो आकुलतायें आयेंगी। सो यह सुख और दुःख किसका फल है ? यह दुःख सुख तो मोहका ही फल है। जगत् के जीवों को देखो मोह करके दुःखी और सुखी होते हैं। ये उनके मोह और मिथ्यात्व के ही परिणाम हैं। मैं अपने आपको यह अनुभव करूँ कि मेरा तो मात्र मैं ही हूँ, मेरे में ममता का परिणाम नहीं है। यदि अपने आप में ऐसी भावना बने तो वही कल्याण का मार्ग है।

भैया ! कोई एक शराबी था। वह एक शराब की दुकान पर गया, बोला कि हमें अच्छी शराब दो। उसने बतलाया कि यह बहुत बढ़िया है इसे ले लो। कहा नहीं, नहीं हमें बहुत बढ़िया चाहिए, तब दुकानदार ने कहा देखो हमारी दुकान पर जो पांच, सात लोग पड़े हुए हैं उनसे तुम अन्दाज लगा सकते हो कि शराब बढ़िया है या नहीं। ऐसे ही भैया ! अपनी बात सोचो मोह में क्या हुआ करता है ? मोह में आकुलतायें होती हैं, मगर देखते हैं कि ये जगत् के सब जीव वाह्यपदार्थों में ही चिन्तायें किया करते हैं, दुःखी होते जाते हैं, मोह किया करते हैं यही तो सब मोह मदिरा का परिणाम है। फिर भी मोह के नशा के दुष्परिणाम का विश्वास यह मोही नहीं करता।

भैया ! अपने मोह की बेवकूफी देखना कठिन है तो दूसरे लोगो के मोह की बेवकूफी देखकर बेवकूफीका स्वरूप जान लो। व्यर्थ ही लोग विकल्प करके परेशान होते हैं और व्यर्थ ही तुम विकल्प करके परेशान होते हो। जिसे तुम अपना लड़का कहते हो बताओ उससे तुम्हारा क्या सम्बन्ध है? वे तो सब जुदा-जुदा हैं। उनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि तुम्हारे घर में दूसरा कोई पैदा होता तो उससे तुम मोह करने लगते। अरे जो पैदा हुआ उसका तुम कुछ कर लेते हो क्या ? यह मेरा है, यह आशय आना ही दुःख का कारण है, दूसरा कुछ दुःख का कारण नहीं है। अपने बारे में यह विश्वास करो कि मैं अपने आप में हूँ, स्वतंत्र हूँ मैं ही अपना कारण हूँ, मैं ही अपना कार्य हूँ मैं जो कुछ कर सकता हूँ अपने को ही कर सकता हूँ, मैं ही अपने को ही भोग सकता हूँ, अपने स्वरूप से बाहर दूसरे को कुछ न कर सकता हूँ और न भोग सकता हूँ और दूसरे लोग भी मेरा कुछ नहीं कर सकते हैं। सब वस्तु अपने-अपने स्वरूप में हैं। ऐसा यदि अपने आपका विश्वास हो तो वह अमृतभाव का पान कर सकता है जिसने इस अमृत भाव का अमृत पान किया, उसको भी तो आनन्द है, उसका ज्ञान

दूसरे पदार्थों से नहीं आता। शिष्य को गुरु ज्ञान देता है तो गुरु केवल शिष्य का निमित्त होता है। ज्ञान तो उस शिष्य की आत्मा से ही प्रकट होता है, गुरु से ज्ञान नहीं प्रकट होता है अगर गुरु दूसरों को ज्ञान देने लगे तो बीस, पच्चीस शिष्यों को ज्ञान देने के बाद में गुरु खुद कोरा रह जावेगा। यदि गुरु दूसरों को ज्ञान दे दे तो गुरु मूर्ख बन जावेगा। शिष्य में खुद ही ज्ञान भरा हुआ है। सो गुरु का निमित्त पाकर वह ज्ञाता बन गया। देखो कोई बालक बुद्धिमान होता, किसी को एक बार में ही याद हो जाता तो किसी को मुश्किल से याद होता है। क्या कारण है? यह कारण है कि वह स्वयं ज्ञानमय ही तो है। पूर्वजन्म की तपस्या के तारतम्य के अनुसार उसके ज्ञान प्रकट होता है। इसी तरह मेरा स्वरूप आनन्दमय है, मेरे में ज्ञान का ही विकास हो रहा है और मेरे में स्वयं आनन्द वर्त रहा है। दूसरे पदार्थों से मुझे आनन्द नहीं प्रकट हो रहा है। यदि बाह्यपदार्थों से आनन्द प्रकट होता हो तो बतलावो। इन बाह्य अजीव पदार्थों में ज्ञान और आनन्द तो है ही नहीं तो फिर वहां से ज्ञान और आनन्द कैसे आएगा किसी दूसरे चेतन पदार्थ से आनन्द कैसे आ सकता है उसका ज्ञान और आनन्द उसमें ही परिसमाप्त है, मैं स्वयं आनन्दमय हूँ मेरा आनन्द मेरे से ही होता है। दूसरों से मुझे आनन्द नहीं होता है।

हे प्रियतम, बाह्यपदार्थों के विकल्प छोड़ दो और अपने ज्ञान रस का स्वाद लो। यदि अपनी सहज स्वतंत्रता का विश्वास हो जाय तो यही अनुपम काम है। बाहरी पदार्थों के विकल्प से दुःख होते हैं, बाहरी पदार्थों से नहीं। कोई लड़का २० हाथ की दूरी पर खड़ा हो। यदि एक लड़का दूसरे को अंगुली दिखाकर चिढ़ाए, तो जिस लड़के को चिढ़ाया जा रहा है वह यदि विकल्प बना ले कि अरे यह तो हमें चिढ़ा रहा है, तो ऐसी कल्पना बनाने से, ऐसा ख्याल करने से उसे दुःख होता है, दूसरे लड़के की अंगुली से दुःख नहीं होता है। बड़े-बड़े लोगों को किसी कारण से क्लेश हो रहे हैं, तो विरोध के कारण से क्लेश हो रहे हैं? अरे उन्होंने स्वयं कल्पना बना ली है कि ये मेरा विरोधी है, यह मेरे खिलाफ है, यदि यह कल्पना बना ली है तो क्लेश होते हैं, दुःख होते हैं। देखो इन दुश्मनों से दुःख नहीं होते हैं, केवल कल्पनायें बना लेने से दुःख हो जाते हैं।

अपने आप पर विश्वास करो कि मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूँ, आनन्दमय हूँ, सबसे निराला हूँ, बाह्य पदार्थ मेरे हों, ऐसी कोई गुंजाइश नहीं है। मैं मैं हूँ, जो अन्य हैं वे अपने आप में हैं। किसी का दूसरे से सम्बन्ध तो नहीं है। ऐसे स्वातन्त्र्यकी दृष्टि हो जाय तो सुख और शान्ति का मार्ग मिल सकता है और कितना ही धन संचय हो जाय, कितनी ही इज्जत मिल जाय, पर अन्य की दृष्टि से शान्ति नहीं मिल सकती है।

जीवो दृश्यो न यो दृश्योऽजीवो वा कोऽपि मे न हि।

कस्मै सीदानि नश्यानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥ २-१६ ॥

अर्थ- जो जीव है वह दृश्य नहीं जो दृश्य है वह जीव नहीं अथवा मेरा कोई भी नहीं है फिर किसके अर्थ खेद खिन्न होऊँ? बरबाद होऊँ, मैं तो अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

हम रात दिन दूसरों का ख्याल रखकर, दूसरों का विकल्प बनाकर परेशान रहा करते हैं। हम सबमें से केवल एक बात नहीं जा रही है कि किसी भी परपदार्थ का ख्याल करना, अटपट कल्पनायें करना और परेशान होना। इतना ही काम प्राणियों का अब तक चला आ रहा है। कोई किसी का ख्याल करता, कोई किसी का ख्याल करता, मगर दुःखी होने की एक यह ही पद्धति सबके अन्दर पायी जाती है कि वे दूसरों का ख्याल करते, इष्ट अनिष्ट का ख्याल करते और परेशान होते हैं। योगियों में, संसारी प्राणियों में और भोगी प्राणियों में इन ही बातों का अन्तर है। योगी सम्यग्ज्ञान की ही पद्धति से चीजों को जानते हैं, इष्ट अनिष्ट को नहीं जानते हैं और अपने ही स्वरूप में मग्न रहते हैं। इस तरह से वे योगी सदा प्रसन्न रहते हैं और हम जगत् के जीव पर वस्तुओं के विकल्पों को लिए हुए रात दिन परेशान रहते हैं।

वस्तुओं का स्वरूप देखो, प्रत्येक पदार्थ केवल अपने स्वरूप में उत्पाद और व्यय करता है। अंगुली चाहे अपने आप टेढ़ी हो, चाहे दूसरे मनुष्य अंगुली को दाब दें, पर अंगुली में टेढ़ापन बना है वह अंगुली की ही परिणति से बना है। वह इन ही स्कन्धों की परिणतिसे बना है। उस अवस्थाका करने वाला कोई दूसरा नहीं है। एक निमित्त की बात को देखकर यह प्राणी गर्व करता है कि मैंने यह काम किया। जैसे अभी हारमोनियम बज रही थी तो वह कैसे बज रही थी? इन भाई की आत्मा की बात देखो तो यह आत्मा तो इच्छा, ज्ञान कर रहा था जिसके निमित्त से योग भी हो रहा था। इससे आगे इस आत्मा का काम नहीं। हारमोनियम में पीतल के तार हैं, उसमें हवा दी जाती है तब वह स्वर देती है। इतने पर भी वह स्वर शब्द तार से नहीं प्रकट हुआ, भाषा वर्णना के स्कन्धों से प्रकट हुआ है।

इन जगत् के प्राणियोंको देखो, इच्छा और योग अपने आप में कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर रहे हैं। इच्छा हो रही है, ज्ञान हो रहा है, अभिलाषा हो रही है। उनका निमित्त पाकर उनकी आत्मा के प्रदेश में कम्पन हो जाता है। इच्छा जिसके होती है उसकी आत्मा में कम्पन हो जाता है। जैसी अनुकूल इच्छा इस आत्मा में है उसी के अनुकूल हलन इस शरीर में है। योग का निमित्त पाकर शरीर में जो वायु है, सो वायु चली, वायु में कम्पन हुआ, फिर बात का निमित्त पाकर इस शरीर के अंग चले, अंगुलियां चलीं। ऐसा स्वयं हो गया। इसी तरह शरीर में वायु चली और फिर अंग भी चल पड़े। उसके निमित्त से दबाव हुआ सो हवा को निकलने का अवकाश मिला। देखो ये काम सबके अपने आपमें हो रहे हैं। जहाँ हवा का पास होना हुआ और वहाँ आवाज का निकलना हुआ। इस पर भी पीतल से शब्द प्रकट नहीं हुआ। किन्तु भाषावर्णना से शब्द प्रकट हुआ। कोई किसी अन्य का कुछ नहीं हुआ। सब पदार्थों के जुदा- जुदा काम हो रहे हैं, पर निमित्त उनका एक दूसरे में है जिससे यह भ्रम हो जाता है कि अमुक ने यह काम किया।

वस्तुओं के स्वरूप को देखो तो परवस्तुओं में स्वतंत्रता से उनका अपने आपके परिणमन से खुद काम हो रहा है। ऐसी स्वतंत्रता की दृष्टि आती है तब ज्ञानी जीव जगत् के पदार्थों के परिणमन को देखकर न हर्ष करते हैं और न विषाद करते हैं। अब यह देखिए कि हम परेशान हो रहे हैं तो किसलिए परेशान हो रहे हैं? उनमें परेशान होने से क्या कुछ लाभ बना दोगे? प्रथम तो ऐसा ही सोचें यत्न करें

सुख यहाँ द्वितीय भाग

कि मेरी दृष्टि बाह्य से हट जानी चाहिए। इसमें असफलता हो तो फिर आगे सोचें कि मैं किसके पीछे बरबाद हो रहा हूँ, दुःखी हो रहा हूँ।

देखो पदार्थ दो तरह के हैं— (१) जीव और (२) अजीव। जीव वे कहलाते हैं जिनमें देखन हो, जानन हो, और अजीव वे कहलाते हैं जिनमें जानन तत्व न हो। दो ही प्रकार के तो पदार्थ हैं। इनमें से जीव तो दीखता ही नहीं, जो दीखा करते हैं वे दीखने वाले पुद्गल हैं अथवा ये जो दीखते हैं, भौतिक हैं। परपदार्थों में एक तो भौतिक हैं और दूसरे चेतन पदार्थ यानि देखने जानने वाले पदार्थ हैं। इन दोनों प्रकार के पदार्थों के पीछे परेशान हो रहे हो। विचार करो कि जिन जीवों के पीछे परेशान होते हो वे दीखते ही नहीं हैं और जीवों के स्वरूप में दृष्टि दो तो उनमें देखन है, जानन है, ज्ञानानन्दमय भाव है, वे तो जैसे हैं तैसे ही हैं। और वैसे ही सब हैं, किसी से कोई विलक्षण नहीं है तो उनमें मेरे तेरे का भेद ही नहीं हो सकता। यदि विलक्षण हो तो मेरे-तेरे का भेद है। परन्तु जीवों के स्वरूप को देखो परस्पर कोई विलक्षणता नहीं है। सब स्वयं ज्ञानमात्र हैं, ज्ञायकस्वरूप हैं, कोई विलक्षणता नहीं है। भारत के, विदेश के, गांव के ये सभी जीव शुद्ध ज्ञानमात्र हैं। आत्मा के मर्म में दृष्टि डालकर देखो तो शुद्ध ज्ञानमात्र हैं, एक स्वरूप में हैं तो यह मेरा तेरापन कैसे मिल गया? यह व्यामोह कैसे हो गया कि यह मेरा है, यह उसका है, यह दूसरे का है अथवा यह इष्ट है, यह अनिष्ट है। स्वरूप में दृष्टि दो तो वहां कुछ नहीं मिलेगा।

भैया! प्रथम तो इस जीव को पहिचानने वाले भी कोई नहीं हैं। और कोई पहिचाननहार मिल जाय तो इसका ज्ञाता दृष्टा हो जायगा। तो उसकी दृष्टि भली बुरी नहीं होती है। सब प्रभु नजर आते हैं, सब एक चेतन पदार्थ नजर आते हैं, फिर कैसे मेरा तेरा माना जाय? अपनी बरबादी दूसरों के कारण नहीं होती है, अपनी बरबादी अपने ही कारण होती है। जो जीव हैं वे दिखनेमें नहीं आते हैं। जीवके पीछे तो हम बरबाद नहीं हो रहे हैं, परेशान नहीं हो रहे हैं, क्योंकि जीव तो दिखते ही नहीं। और वह दिखेगा तो ज्ञानीको ही दिखेगा। सो ज्ञानीकी वृत्ति ही अलौकिक है वह परेशान होता नहीं। परमार्थकी बात यह है कि जो कुछ भी दिखेगा वह अपने स्वरूपमें दिखेगा। सब जीव हैं, एक रस है, इस दृष्टिमें व्यक्तिपन ही खत्म हो जाता है। जीवके देखने वाले ज्ञानी योगी पुरुष व्यक्तिको नहीं देखते हैं। वहाँ उन्हें केवल एक चित् प्रतिभास ही नजर आता है। तो वहां परेशानी कैसी? जहां व्यक्ति नजर नहीं आते हैं, वहां तेरी नजर कैसे बने? वहां परेशानी कैसे हो?

सो भैया ! जीवके विषयमें यह बात है कि प्रथम तो जीव दिखते ही नहीं हैं। जो समझमें आते ही नहीं हैं उनमें परेशानी कैसे हो सकती है? यदि उनका स्वरूप नजर आ जाय तो यह जीव एकरस हैं, चैतन्यस्वरूप है, सो जीवके स्वरूपके समझने पर व्यक्तियां नजर नहीं आती हैं, व्यक्तियां हैं, भिन्न-भिन्न हैं, परिपूर्ण हैं, आनन्दमय हैं। आनन्दके अनुभव सबके जुदा-जुदा हैं, स्वरूपचतुष्टय सबका भिन्न-भिन्न है। ये जगके जीव सुखी दुःखी होते हैं। सब सत् हैं परन्तु जीवके स्वरूपको देखने वाले लोग व्यक्तियोंको अपने मनमें नहीं रख सकते हैं तो उन्हें एकचित्तस्वरूप ही नजर आता है। जीवोंके पीछे लोग परेशान

नहीं हो रहे हैं। अब इन पुद्गलोंकी बात देखो, ये दृश्य तो हैं, मगर ये जड़ बुद्धिहीन, कुछ कार्य न कर सकने वाले, कुछ ज्ञानकी कलाको न समझने वाले ऐसे तो ये जड़ पुद्गल हैं। इनसे तुझे कुछ मिलता भी नहीं है। इनसे न तो कुछ सुख है और न ज्ञान ही आता है। उनके पीछे हम क्यों बरबाद होते हैं।

मानो वे ज्ञानी मनुष्य इस कमरे में न बैठे होते, केवल दस बीस चौकी और दो चार टेबुल इत्यादि अजीव पदार्थ रखे होते तो वहां कौन बोलेगा, कौन व्याख्यान देगा और कौन सुनेगा? अरे उन अजीबोंसे लेना देना कुछ नहीं है, वे अपने आपमें हैं। उनसे भी बरबादी नहीं है। इनसे भी क्या होगा? हां, इनके विषयमें विकल्पचक्र में पड़नेसे बरबादी होती रहती है। मैं बरबाद होता रहता हूं तो अपने आप बरबाद होता रहता हूं। दूसरोंके द्वारा मैं बरबाद नहीं होता हूं। दूसरोंके पीछे विकल्पमें पड़नेसे परेशानी होती है और अपना ज्ञान बनानेमें सुख होता है। जैसे पताका अथवा झंडा वायुसे भर जाता है तो फड़फड़ाने लगता है, उलझ जाता है तथा सुयोगसे यदि हवा बन्द हो जाय या अनुकूल वायु हो तो सुधर जाता है अथवा फड़फड़ाना बन्द हो जाता है। उसी प्रकार ज्ञान और अज्ञानका निमित्त पाकर यानि अज्ञानका निमित्त पाकर स्वयंमें उलझ जाता है और ज्ञानके सुयोगको निमित्त बना लिया तो ज्ञान सुलझ जाता है। आपको परेशान करने वाला इस दुनियामें है कौन? ये खुद बाह्य पदार्थों का निमित्त पाकर परेशान होते हैं। यह परेशान शब्द उर्दू का शब्द है। इसे संस्कृतके शब्दमें ले लो तो इसमें २ शब्द हैं— (१) पर और (२) ईशान। पर जिसका ईशान बन जाय, ईशान कहते हैं स्वामीको, यदि दूसरेको हम अपना मालिक समझ बैठें तो यही परेशान शब्द का अर्थ है। और इसे परेशानी कुछ नहीं है। दूसरेको अपना मालिक समझ लेना, खुद को परका मालिक समझ लेना, बस यही परेशानी की जड़ है। परेशान के भावको परेशानी कहते हैं।

धन्य है वह परिस्थिति, धन्य है वह अनुभूति जिसको केवल सहज ज्ञान रसका अनुभव आ रहा है। परमें विकल्प न हों तो परिस्थिति धन्य है। उसकी अनुभूति का नाम दुर्गा है। दुःखेन गम्यते प्राप्यते या सा 'दुर्गा।' जो बड़ी कठिनाइयोंसे पूर्ण होता है उसे दुर्गा कहते हैं। यह स्वानुभव बड़ी कठिनाइयोंसे प्राप्त होता है।

भैया! अपने आपमें ऐसा उपयोग बन जाय कि कोई बाह्य पदार्थ उपयोगमें न हो, केवल शुद्ध ज्ञानरस का अनुभव होता रहे, ज्ञानदृष्टि होती रहे, तब तो जीवन सफल है। यह शरीर जड़ है, हड्डी और मांससे बना है। इस शरीरमें फोड़ा फुंसी हो जावे, अनेक परेशानियां आवें, इसमें कोई सार नहीं नजर आता है। इस शरीरको असार झौंपड़ी समझ लो और अपने आपको समझो कि मुझमें शुद्ध ज्ञानस्वरूप चैतन्यमय सारतत्त्व मौजूद है। जैसे किसी गाड़ी में गधा और ऊंट जोत दो या हाथी और गधा जोत दो तो जैसी स्थिति होगी ऐसी ही स्थिति मेरी भी बनाई जा रही है। कहां तो ऐसा शुद्ध परमात्मतत्त्व मैं हूँ और कहां इस असार शरीरका बन्धन बंधा है। फिर भी मैं अलग रहता हूँ। एकका अनुभव करते हो तो कितने उत्कृष्ट भाव बनते हैं। मैं तो पवित्र, ज्ञानमात्र, शुद्ध चैतन्यपदार्थ केवलज्ञानमय, केवल ज्ञानानन्दमय हूँ और ये पुद्गल असार हैं, अहित हैं, उनसे सम्बन्ध हो रहा है, फिर भी सम्बन्ध ही नहीं यह भीतरके अपने

आपके स्वरूपको ताकता नहीं और बाहरमें असारको देख कर सर्वस्व मान रहा है। ऐसी दृष्टि हो रही है।

हे नाथ! धन्य वह क्षण है जब सबको छोड़कर अपने आप पर शुद्ध नजर करोगे। यदि बाह्य ही पदार्थ में फंसे रहे तो बरबादी होगी। इन जीवों में जिसके पीछे पड़ रहे हो वे अशुद्ध जीव पदार्थ हैं। वे अपने आपके स्वार्थके लिए अपनी चेष्टा कर रहे हैं। इस मायामय जगके पीछे मोहमें पड़कर मोही व्यर्थ बरबाद हो रहे हैं अर्थात् अपना ख्याल बनाकर, अपनी कल्पनायें बनाकर ही दुःखी हो रहे हैं। तो जगतका स्वरूप जब जान लिया तो फिर कष्ट ही क्या है? जो जैसा है वैसा जानते जायें तो स्वरूपरमण होना सुगम ही है। सो अब मेरी ऐसी ही भावना हो कि अब मैं तो अपने ही स्वरूप की रुचि करके अपने लिए अपने आपको पाकर विश्राम पाऊँ और सुखी होऊँ।

मेरा मात्र मैं ही हूँ। मेरा अन्य कोई कुछ नहीं है। किसीके पीछे दुःखी होना क्या है, हठ हो रहा है। जगतके कौनसे ऐसे विषय हैं जो मेरी इस आत्माका पूरा पाड़ देंगे संसारके लुटेरे घटेरों में चिन्तायें करना, हठ करना, यह मेरी है, यह उसकी है, यह सब क्या है, पुण्यके उदयका ऊधम है। बड़ा सोच करते हैं कि यदि हठ नहीं करें तो संसारके लोग क्या कहेंगे? भैया! मायाके हठसे इज्जत नहीं बढ़ती। हिंसा करें, मान करें, अन्याय करें, द्वेष करें, परिग्रह करें तो क्या जीव महान् हो गया? क्या जीवकी इज्जत हो गयी? अरे पाप किया और मर गए, मरकर कीड़े-मकोड़े हो गए तो फिर क्या इज्जत रह गयी? अपने धर्म से न चिगना यह सबसे बड़ी कमाई है। जिससे परिपूर्ण आनन्द मिले उससे बढ़कर और क्या हो सकता है? इससे इस लोकमें सुख है और परलोक में भी सुख रहेगा अन्यथा बाह्य में दृष्टि हो तो तुच्छ तुच्छ बातोंमें भी यह प्रभु फंस जाता है।

आपने देखा होगा कि उनमें क्षमा कर देने का माद्दा, दूसरों को माफ कर देनेकी बात बहुत अधिक होती है, जो बड़े घराने के लोग होते हैं। वहां उपद्रव और ऊधम इत्यादि ज्यादा होते हैं तो भी वे धीर रहते हैं। यह ज्ञान की ही बात तो है। खराब प्रकृति के जो लोग होते हैं वे छोटी-छोटी बातों में अड़ जाया करते हैं। जैसे कहते हैं, ना घर में सूत न कपास कोली से लट्ठम लट्ठा।

तो ये जगत के प्राणी व्यर्थ की बातों में विवाद खड़ा कर देते हैं। घर की बात देख लो। घर में तो गुजारा करना ही पड़ता है। कई बातों के लिए लड़ाई लड़नी ही पड़ती है। फिर भी एक लक्ष्य हो जाने से शांति हो जाती है। धर्म से ही काम हो तो धर्म के प्रसंग में भी विवाद खत्म हों। धर्म के कामों में लगे और विवाद हो यह तो आश्चर्य की बात है। अरे ये सब क्या है? अपने धर्म को छोड़कर कहां दृष्टि डाल रहे हो? धर्म अपने आपकी आत्मामें है। अपने आपके स्वरूप में दृष्टि हो तो धर्म है। धर्म बाह्यदृष्टिसे, बाह्यमें मोह करनेसे नहीं मिलेगा। शुद्ध परिणामसे ताल्लुक रखो तो धर्म होगा। अगर क्रोध आदि कषाय का बन्धन होगा तो धर्म नहीं होगा। अरे मैं चेतन पदार्थ किन पदार्थों के पीछे बरबाद हो गया, जिसमें कोई सार नहीं है। इस जग में जो जीव हैं वे दिखते नहीं हैं और जो अजीव हैं और जड़

हैं वे दिखते हैं, और जो जानने वाले, समझने वाले हैं वे दिखते नहीं और जो समझते नहीं, वे दिखते हैं। भाई जो रफ्तार चल रही है उसमें फर्क करना चाहिए। अपने को अपने आप में झुका लेना, बस इसी से शान्ति का मार्ग मिलेगा, अन्यथा संसार में रुलना ही पड़ेगा। जब तक हम अपने आपसे मुड़कर विमुख रहेंगे तब तक शान्ति नहीं आयेगी, अपने को शान्त रखने के लिये समर्थ ज्ञान है, स्वाध्याय है, आत्मचिंतन है। यदि अपने ज्ञान में ही सही ध्यान बने तो अपने आप शान्ति प्राप्त होगी और अपने आप में सही ज्ञान न बना तो अंशांति ही रहेगी। अतः ज्ञान बल से अपने आपको मेटकर, मैं अपने आपको देखकर अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ। सुखी होने का उपाय अन्य नहीं है। आत्मदर्शन ही सुख का उपाय है।

ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः, ॐ शान्तिः

परः कोऽपि हितो मे नो यो हितोऽहं न मूर्तिकः।

चिन्तने कस्य नश्यानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२-१७॥

अर्थ— परपदार्थ कोई भी मेरा हितरूप नहीं है। जो हित रूप स्वरूप है वह मैं ऐसा मूर्तिक नहीं अतः किसके चिंतन मैं बरबाद होऊँ अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

अब तक भी जिन जीवों से सम्बन्ध हुआ उस प्रयोग को याद कर लो। क्या उनसे कुछ भला हुआ, उनसे कोई हित है? अबसे १० वर्ष पहले २० वर्ष पहले जो संग था, परिचय था उस प्रसंग में कितना लाभ पाया था? इस बात का भी ध्यान कर लो। जो भी सम्बन्ध हुआ उनमें यह जीव पछताता ही रहा है व पछतावा करता है, लाभ कुछ नहीं मिलता है। परिस्थितियाँ सब अलग-अलग हैं, लेकिन तरीका एक ही सबका है सम्बन्ध हुआ, राग किया, द्वेष किया, घटनायें बनायीं, कार्य किए। जिन जिनसे परिचय हुआ उनसे क्लेश ही मिला, पछतावा ही मिला, अशान्ति ही मिली और यहां भी देखो तो जो जीव मोही हैं, वह तो झूर झूरकर पछताता है, राग में पड़कर तड़पकर व्याकुल होता और परेशान होता है। मगर जो ज्ञानी जीव हैं वे राग में नहीं पड़ते, समय के अनुकूल ही अपनी अवस्था गुजार देते हैं, उन्हें कोई परेशानी नहीं होती। अज्ञानी जीव अपने आत्मतत्त्व को नहीं समझ पाता है, वह अपना जीवन यों ही गुजार देता है। अज्ञानी दूसरों से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। इस सम्बन्ध का फल पछतावा होता है; इसका कोई निर्णय नहीं करता। जिनका सम्बन्ध अन्य जीवों से है वे भले ही माने कि हम सुखी हैं, मौज में हैं, परन्तु अन्त में इसका फल अत्यन्त पछतावा ही होता है। इस कारण कोई भी परपदार्थ मेरा हितरूप नहीं है।

मैं मैं ही हूँ अर्थात् मैं अपने में यथार्थ हूँ, मैं स्वतंत्र हूँ, सत् हूँ, चित् प्रतिभासमात्र चैतन्यस्वभाव मात्र, जिसका काम केवल देखना और जानना है, ऐसा मैं ही हूँ। अपने आप में हूँ, यह मैं आत्मा हितरूप हूँ। यदि इसी तरह मैं अपनी आत्मा में देखूँ तो मैं हितरूप हूँ, सो ऐसा हितरूप मूर्तिक पदार्थ मैं नहीं हूँ। जो आत्मा को देखा जाय, पकड़ने से जो पकड़ा जाय, नाक से सूँघा जाय, ऐसा मैं मूर्त पदार्थ नहीं

हूँ। जो हितरूप हैं वे किसी को दिखते नहीं हैं और जो दिखते हैं वे हितरूप नहीं। फिर मैं किसके चिंतन में, किसके विचार में अपने को नष्ट कर रहा हूँ, ये सारे विकल्प अनर्थ हैं। ये मेरे प्रयोजन को सिद्ध न करेंगे, प्रथम तो जितने विकल्प उठते हैं वे सब अनर्थ हैं। मेरे बाहर के सोचने से बाहर से कुछ आता नहीं है। जितने भी लोग काम करते हैं दुकान का, दफ्तर का, घर का, समाज का, वे सब अपने आप होते रहते हैं, इच्छा कर लें और जानकारी कर लें, इसके अलावा और कोई काम नहीं करते, और जो कुछ होते हैं वे अपने आप होते हैं।

भैया ! यदि मैं कुछ करता होता तो जो मैं करूँ सो होवे। पर ५ प्रतिशत तो इच्छा माफिक होते नजर आते हैं और ९५ प्रतिशत न होते या प्रतिकूल नजर आते हैं। जरा सोचो तो ५ प्रतिशत भी मेरी इच्छा से नहीं होते हैं और न करने से होते हैं। वहाँ पर केवल विकल्प ही होता है जो अनर्थ है, कार्यकारी नहीं है, ऐसा संयोग जिनका होगा वह होगा, मेरे करने से कुछ नहीं हुआ करता है। मेरे करने से मैं ही होता हूँ। दुःख होते, सुख होते, कषाय होते, अंशान्ति होती, जो कुछ भी होते हैं वे मेरे मेरे लिए ही होते हैं। मेरे से बाहर मेरे कुछ नहीं होते हैं। परपदार्थ भी मेरे नहीं हैं और न हों सकेंगे। कितनी ही बातें ऐसी हो जाती हैं जिनको आप बहुत दिनों से सोचते आते हैं, पर पूरी नहीं होती हैं। कैसे हो, परपदार्थ पर आपका अधिकार ही नहीं होता। किसी काम को १० वर्ष से करते आये पर काम नहीं हुआ, ये सब पुण्य पापों के निमित्त की बातें हैं। जैसा पुण्य पाप का निमित्त है तैसा बाहर में संयोग होता है।

ये जगत् के जीव अपने आप कर्मोदयवश सर्वत्र विचरते हैं। इनके जन्म-मरण होते रहते हैं। जन्म होगा, फिर मरण होगा, फिर जन्म होगा, फिर मरण होगा। एक पंचेन्द्रिय का शरीर भी प्राप्त हो गया। आंखें देखने के लिए प्राप्त हो गयीं, कान सुनने के लिए प्राप्त हो गए। यह कुछ देखने लगा, यह शहर है, मुहल्ला है, यह फलां है इत्यादि; यहां कुछ समागम हो गया, तो उस समागम में इतना लीन हो गए कि अपने स्वरूप को भी खो बैठे। यदि अपने स्वरूप की चर्चा करें, अपने ही स्वरूप के निकट पहुंचें तो वहां आकुलताओं का नाम नहीं रहता है। अपना स्वरूप है केवलज्ञान। आत्मा सर्व पदार्थों से विलक्षण एक सत् है, यह ज्ञानी ज्ञाता ही बना रहता है। इसका और कोई काम ही नहीं है। सब अपनी-अपनी धुन में हैं। सब पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में परिणमते हैं। जैसे घड़ी में चाबी भर देने से चला करती है तुम चाहे जो काम कर रहे हो, घड़ी अपना काम कर रही है, वह खुद अपना काम कर रही है। दूसरा कोई काम उसके लिए नहीं है। जब काम कर चुके तो देखा अरे २ बज गए, १ बज गया। अरे ३ घंटे हो गये। घड़ी अपने काम में व्यस्त है, हम चाहे कुछ भी करें। इस छोटे दृष्टान्त के आधार पर देखो—जगत् के प्राणी अपने-अपने कामों में व्यस्त हैं, अपना-अपना काम करते हैं। ये प्राणी यदि दूसरे पदार्थों के बारे में चिन्ता करते हैं तो मानो वे पागलपन की बातें सोचते हैं।

एक आदमी सड़क के पास एक कुयें की जगत् पर बैठ गया। सामने से एक मोटर आयी, कुछ लोग मोटर से उतरकर कुयें में पानी पीने गए। पानी पीकर मोटर में बैठकर लोग चले गए। अब वह व्यक्ति जो कुयें की जगत् पर बैठा था, मोटर चली जाने से दुःखी हो गया, हाय मेरी मोटर चली गयी।

सुख यहाँ द्वितीय भाग

इसी तरह इस जगत् के जीव इस सड़क के जीव कैसे पड़े हुए हैं ? चारों तरफ से इस जगत् में आ रहे हैं, कोई कहीं से कोई कहीं से आ रहा है। यह पागल प्राणी मान लेता है कि यह मेरा है, यह उसका है इत्यादि। तो ऐसा सोचने से उसका क्या हो गया ? अरे जो आए हैं, मिट जावेंगे। उनका अस्तित्व भिन्न-भिन्न है पर इसे मोही जीव ने मान लिया कि ये मेरे हैं। सो वे अपने परिणमन से आए हैं और अपने परिणमन से जावेंगे। जब जाने का टाइम होगा तब चले जावेंगे और यह व्यर्थ जानकर दुःखी बनेगा। यह मोही प्राणी उनके ही पीछे पागल हो रहा है, दुःखी हो रहा है। यह मेरा था और चला गया। इस तरह के व्यर्थ विकल्प से ही मोही दुःखी होते हैं। जरा अन्तर्दृष्टि तो दो हमारा इस जगत् में है क्या?

अरे प्रियतम ! यह मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूँ, सबसे निराला हूँ सबसे जुदा हूँ, ऐसी दृष्टि बने तो आत्मज्ञान मैं पा सकता हूँ, नहीं तो आत्मा का ज्ञान पा सकना बहुत मुश्किल है। इस आत्मा को स्वलक्षण की दृष्टि से देखो तो कि मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानमय हूँ, यह आत्मा ही मेरा धन है, यही मेरा निजी घर है, यह आत्मा ही मेरा निजी परिवार है। इस मेरी निजी आत्मा में जानन की ही व्यवस्था है, जानन के अतिरिक्त मेरा कहीं कुछ नहीं है, ऐसा मात्र जाननस्वरूप अपने को निरखो तो वहां न तो भोग का पता रहता है और न जगत् का पता रहता है, किन्तु ज्ञानमात्र का ही अनुभव करना व भोगना रहता है। यही सिद्ध योगियों की स्थिति रहती है, जिसमें विवेक है, ज्ञान है, समझदारी है तो वे संसार के दुःखों से दूर रहते हैं, और जिसके भ्रान्ति है, अज्ञानता है वे ही इस संसार में पड़े रहते हैं, दुःख उठाया करते हैं, उनकी उन्नति नहीं हो सकती है। हे आत्मन् ! इन बाह्यों में कौन सा सार है, उनमें पड़ने से तुम्हें क्या लाभ मिलता है ? अरे इन बाह्यों से कुछ नहीं मिलेगा। यदि अपने में ऐसा ज्ञान बनाओ, ऐसी हिम्मत बनाओ जिससे तुम स्वयं स्थिर हो सको तो मुक्ति का मार्ग मिल जायगा नहीं तो नहीं मिलेगा।

प्रभो ! मुझे मुक्ति मिले या न मिले, किन्तु इतना बल तो होवे कि राग में पड़कर अंधा न बनूं, द्वेष की ज्वाला में न जलूं। राग-द्वेष करना ठीक नहीं, किन्तु इतनी बात हो जावे तो मुक्ति का मार्ग तो मिलेगा ही। राग द्वेष में पड़ने से कुछ लाभ नहीं हो सकेगा। राग जिनसे करते हो उनको सामने लेकर प्राइवेट बात कर लो। उनके पीछे पड़कर क्यों रातदिन चिंतन किया करते हो ? इतना ही ध्यान रखो कि वे मेरे किस हित में काम आ सकते हैं ? मेरे कल्याण में कैसे साधक हो सकते हैं ? जब तक हम जानते हैं कि उनसे हमारा कल्याण होता है तब तक हम भूले हुए हैं। अरे उनसे हमारा भला नहीं होगा। उनके सम्पर्क में तो हम जहां-के तहां ही हैं और वहां से भी कुछ नीचे हैं। कौन से पदार्थ हितरूप हैं निर्णय करो और निर्णय आ जाय तो परपदार्थों से उपेक्षा भाव कर लो। कोई मेरा हितरूप नहीं, इसलिए किसकी चिन्ता करके, किसका विचार करके अपने आप को बरबाद करें ? सबसे हटकर केवल ज्ञानमात्र, ज्ञानमात्र मैं हूँ, ऐसा दृढ़ सत्य का आग्रह करके मैं अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ।

भैया ! सुखी होने का दूसरा उपाय अन्य नहीं है। मैं ही मान जाऊँ कि मैं सब कुछ हूँ, परिपूर्ण हूँ, अधूरापन मेरे में नहीं है, मेरा बाहर में करने का कोई काम नहीं है, मैं हूँ, ज्ञानमय हूँ, ज्ञान में ही बर्तता रहता हूँ, इसके आगे मेरा काम नहीं है। अन्य को मान लूं कि यह मेरा काम है तो इसमें गलती

सुख यहाँ द्वितीय भाग

है, दुःख होना प्राकृतिक बात है। हम तो भगवानस्वरूप हैं। जैसा जानन भगवान का है तैसा ही मेरा है। मगर हम तो बहुत सी बातें बनाकर जानते हैं, जैसा है वैसा नहीं जानते हैं। सो देखो उनसे भी बढ़कर बन गए हैं। कोई छोटा आदमी किसी बड़े आदमी से स्पर्धा करे, हिम्मत करे कि मैं इससे बढ़कर बन जाऊं तो इसका फल पतन है। हम भगवान से बढ़कर बनना चाहते हैं। भगवान नहीं जानता है कि यह मेरा घर है, यह फलाने लाल का घर है, यह मेरी चीज है और यह फलाने की चीज है। मगर हम कहते हैं कि यह मेरा घर है, यह फलाने लाल का घर है, ये मेरी चीज है, यह फलाने की चीज है। वह भगवान तो शुद्ध है, सीधा-साधा सही जानता है, अक्लमंद नहीं बन रहा है। जैसे वह इस मकान को ऐसा जान रहा है जैसा कि यह परिणमता है, रूप रस गंध, स्पर्श वाला है, पुद्गलों का स्कन्ध है। जैसा है तैसा इसे जानता है, प्रभु की यही जानन है। और यह मैं, जो नहीं है उसे भी जानने का विकल्प करता हूँ। मोही यह जानता है कि यह अमुक लाल का घर है, अमुक लाल की चीज है, परन्तु प्रभु तो जो है उसे ही जानता है और जो नहीं है उसे नहीं जानता है। हे आत्मन् ! २४ घंटे के समय में कुछ ही समय में यथार्थ जानकारी कर लो, सम्यग्ज्ञान कर लो। अपने से अलग चीज में लगने से कोई फायदा नहीं है। अगर स्वच्छ उपयोग को जान जावो तो रोज-रोज लाभ ही मिलता रहेगा और जो मोह में ही रहेगा तो उसे अन्त में मिलेगा कुछ नहीं। जाना पड़ेगा अन्त में अकेला ही। मुट्ठी बांधे आया है और हाथ पसारे जावेगा, जब बच्चा पैदा होता है तो मुट्ठी बांधे ही रहता। कवियों की ऐसी कल्पना है कि जो पूर्वजन्म में पुण्य किया है उस पुण्य को ही वह मुट्ठी में लिए हुए है। जन्म के समय उस बच्चे के पास सब पुण्य होता है परन्तु ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती है विषय कषायों के भाव बढ़ते हैं, पुण्य खुलता है, त्यों-त्यों हाथ खुलते जाते हैं। वह मरते समय तक सब पुण्य खत्म कर चुकेगा विषय कषायों में रत होकर।

भैया ! जिन्होंने बचपन में ज्ञान नहीं किया, जवानी में विषयों से उपेक्षा नहीं की और चाहे जो कुछ जीवन में धर्म किया हो, व्यवहार किया हो वह कुछ नहीं रहता है। केवल विषय कषायों की आकुलतायें ही रहती हैं। जन्मते समय बच्चा कहां-कहां बोलता है ? कवियों की कल्पना है कि बच्चा सोचता है कि मैं कहां था और कहां आ गया ? कैसा सुख से था और अब कहां दुःख में आ गया। बचपन में मां-बाप ने खूब लाड़ प्यार किया, खूब मौज किया, विवाह हो गया, स्त्री प्रसंग किया और अनेक कल्पनाओं में लगा रहा एक क्षण को भी अपने आत्मस्वरूप पर ध्यान न दिया, तब जब वृद्धावस्था आयी, दुःखों से घिरे तब पछतावा करते हैं। विषय कषायों की भावनायें रखने का ही कुफल इस वृद्धावस्था में मिलता रहता है। अगर बचपन से ही अपने आपके स्वरूप के अध्ययन पर ध्यान लगाता, धर्म के काम करता तो ऐसी परेशानी वृद्धावस्था में नहीं आती।

ये जगत् के प्राणी जन्मते समय से ही विषयकषायों में ही रहे, मोह में रहे, आराम परिग्रह में रहे और धर्म के कार्यों में न लगे। निज के स्वरूप को न देख सके तो अन्तिम अवस्था में बरबाद होते रहते हैं, दुःखी होते रहते हैं। मरने के समय उनकी वैसी गति हो जाती है जैसी कि मति रहती है। वे जन्म-मरण

के चक्र में ही पड़े रहते हैं। अनेक प्रकार के शरीरों में जन्म ले-ले करके इस मनुष्य जन्म में आते हैं। जिन्होंने अपने को उत्तम सत्य यथार्थरूप में जानकर अपने भविष्य को बनाया, अपने को अपने आपको उपयोग में लगाया उनकी सद्गति होती है और भविष्य उज्ज्वल होता है। अगर अपने भविष्य को खराब किया, अपने आत्मतत्त्व को न समझ पाया तो उनका पतन होता है। हमें अपनी जिम्मेदारी अनुभव में लानी चाहिए और वह जिम्मेदारी यह है कि भाई हजार पांच सौ कम आते हैं तो कम आने दो, नष्ट होते हैं तो नष्ट होने दो। उनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है, मेरा सम्बन्ध तो मेरे परिणाम से है। यदि मेरा परिणाम मेरे स्वभाव में है तो उत्तम है और यदि प्रतिकूल है तो दुःख होंगे।

भाई ! अपने पर्याय के गर्व में आकर अपने को महान् समझना और दूसरों को तुच्छ समझना, इससे तो कोई लाभ नहीं है। यदि ऐसे ही विचार बने रहेंगे तो अपने सही स्वरूप का पता नहीं हो पायगा और यदि यथार्थ विचार बनेंगे तो उपद्रव नहीं होगा और न दुःख ही होंगे। सब ज्ञानी हैं ऐसी दृष्टि रहे और जिस दृष्टि के प्रताप से बड़ा न्यायपूर्ण व्यवहार बनता है वह व्यवहार भी रहे तो लाभ रहे और न रहे तो मोह का स्वप्न है। जो चाहो विकल्प कर लो, मगर फल खराब ही रहेगा। यह उपयोग सिंहासन ऐसे स्वच्छ भाव का है कि जिस पर ज्ञानमय प्रभु विराजमान रहते ही हैं। चाहे प्रभु का ज्ञान हो, चाहे अलौकिक ज्ञान हो, ऐसे आसन पर मोही जीव मोही जीवों को बैठाकर जगत में रूलने वाले अज्ञानी जीवों को बैठाकर गंदा कर रहा है ना। मैं अपने आप को गंदा न करूँ तो स्वच्छ बना रहूँ। अपने आपको शुद्ध एवं स्वच्छ बनाओ। यही तेरा सर्वस्व है, और यही तेरा सिंहासन है। अपने आपको यह समझो कि मैं सबसे निराला ज्ञानानन्दधन, भावात्मक चैतन्यस्वरूप पदार्थ हूँ, इस प्रकार की दृष्टि अपने निज प्रभु पर रहे तो यही यथार्थ ज्ञान है। राग, द्वेष, विकार इत्यादि की तरंगें तेरे में न हों, ऐसा यह तेरा प्रभु ही यानि तेरा स्वरूप ही उत्कृष्ट है। ऐसा यदि उपयोग प्रभु के प्रति लगाए रहे तो हमारा उपयोग स्वच्छ रहता है और अशुभ उपयोग पाप, अज्ञान और मोह इत्यादि से संसार में रूलना ही बना रहता है। अगर इस संसार में ही भटकते रहे तो सदैव अपवित्र ही बने रहेंगे। इस जगत के प्राणी को अपवित्र रहना ही सुहावना लग रहा है। इसमें ही विपत्तियाँ हैं, दुःख हैं। यदि यह प्राणी अपने उपयोग से पर-लगाव को टाल दे तो प्रकाश मिलेगा, ज्योति मिलेगी और मुक्ति का मार्ग मिल जायगा।

भैया ! अपने को बरबाद क्यों किए जा रहे हो ? अपने आप के अंतरंग में दृष्टि नहीं लगाते हैं, यह एक बड़ा भारी संकट है। अरे इनको क्या संकट मानें कि १० हजार का नुकसान हो गया, अमुक गुजर गया, इनमें तू संकट मानता है। मेरी आत्मा जाननस्वरूप है, जानन को ही लिए हुए है, स्वच्छ है। जिनका संयोग होगा, उनका रोकने वाला कोई नहीं है। अपने स्वरूप को देख, तू सर्वदा पूर्ण है। ज्ञानी होगा तो वह सदैव ही आनन्दमय होगा और प्रसन्नचित्त रहेगा, परन्तु यदि अज्ञानी है तो निरंतर दुःखी ही रहेगा। इस तरह अगर बाह्यपदार्थों में ज्ञान आता है कि यह मेरा है यह उसका है तो यह एक बड़ा भारी संकट है। इन संकटों का करने वाला मैं ही हूँ। मेरे में संकट इन बाह्य पदार्थों के उपयोग से ही आते हैं। जो साधुजन हैं, योगीजन हैं, प्रभु के भक्त हैं वे बाह्य में अपने को नहीं फंसाते हैं। यही

कारण है कि उनके पास संकट नहीं आते हैं। जिन बाह्य को अपने उपयोग में लाकर संकट रहते हों, मौज माने जाते हों वे संकटों को बढ़ाने वाले हैं, संकटों को हटाने वाले नहीं हैं। अरे संकटों को बढ़ाने वालों से इतना मोह और हटाने वालों से इतनी विमुखता। जो संकट देते हैं उनसे इतनी प्रीति है। ये चेतन अचेतन वैभव जो मिलते हैं उनसे मोह अंधकार मिलता है, राग मिलता है, जिसका फल क्लेश ही है सो क्लेश सहते जाते और उसी में मौज मानते जाते।

जैसे मिर्च खाने की आदत हो जाती है, खाते हैं, सी सी करते हैं, आंखों से आंसू गिरते जाते हैं, दुःखी होते रहते हैं, फिर भी खाना नहीं छोड़ते हैं। ये सब बाहरी पदार्थ हैं, इनमें तू निज बुद्धि करेगा तो उपद्रव प्राप्त होगा, दुःख होंगे, संकट होंगे। संकट सहते जाते हैं और प्रीति करते जाते हैं। बच्चों से, स्त्री से, घर के लोगों से राग के झंगड़े चलते रहते हैं, रिसा जाते हैं, रूठ जाते हैं, और लो फिर शाम को अपना लिया। इस तरह से इन मोहियों का काम चलता रहता है, गृहस्थी में रहे और परिवार के लोगों को छोड़कर रहे यह तो नहीं हो सकता है, रहो, पर भीतर से ज्ञान साफ होना चाहिए।

मेरा मात्र मैं ही हूँ, मेरा सर्वस्व हितकर मैं ही हूँ, इसलिए अपने आप में साफ बना रहता हूँ, अगर मैं अपने आप में मौजूद हूँ तो किसी की ताकत नहीं कि दुःखी कर दे। ऐसी ताकत अपने आप में बना लेने से दुःख नहीं बन सकते हैं। ये जगत् के पदार्थ परमाणुमात्र भी मेरे नहीं हैं। ऐसे भिन्न भाव अगर बन जावें तो दुःखी नहीं हो सकते हैं। महिमा तो ज्ञान की है और तो फिजूल है। महिमा तो एक ज्ञान में ही है। शुद्ध ज्ञान है तो विजय है और नहीं तो मलीन है और मलीन होने से सर्वत्र संकट ही संकट हैं। ये संकट कोई दूसरा नहीं लाता है। खुद अज्ञानी है तो संकट में फंसे। अपने को संकटों से बचाना है तो उपाय सही बने और आत्मस्वरूप ही ज्ञानमात्र है, आनन्दधन है, अपने आप में परिणमता रहता है, इसके बाहर मैं कुछ नहीं हूँ ऐसा उपयोग बने।

अरे सेवा करता कौन है ? भीतर से कषाय की प्रवृत्ति हो जाती है, उससे प्रेरित होकर सेवा करते हैं। अपने भीतर ऐसा ज्ञान जगे कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानानन्दधन हूँ, मैं अपने परिणमन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं करता हूँ, यदि ऐसा ज्ञान जगे तो वह सुखी रहेगा।

एक आदमी था। वह अच्छे घराने का था। किसी कारण से उसको कैद हो गयी। कैद में चक्की पिसवाई जाती थी। चक्की पीसता रहता था। कभी-कभी यह ख्याल आ जाता कि अरे मैं तो अच्छे घराने का हूँ और चक्की पीसना पड़ता है। वह यह नहीं सोचता कि यह जेलखाना है, चक्की पीसनी ही पड़ेगी। वह यह सोचकर कि मैं अच्छे घराने का हूँ, चक्की पीसनी पड़ रही है, दुःखी हो जाता है और कषाय भी आ जाती है। यह सोच-सोचकर दुःख बढ़ते ही जाते हैं। उसे यदि यह मालूम हो जाय कि यह जेल खाना है, चक्की पीसनी ही पड़ती है तो उसका दुःख चौथाई रह जायगा और यदि रईसी के ख्याल के परिणाम में रहे तो दुःख चौगुना आ जाते हैं।

अगर यह परिणाम बने कि मैं ज्ञानमात्र हूँ तो ऐसा ज्ञान करने पर प्रसन्नता ही रहेगी। आकुलताओं

का नाम नहीं रहेगा। मैं अपने ज्ञान से ही यथार्थ को समझूँ और अपने में अपने लिए आप स्वयं सुखी होऊँ। जैसा मैं हूँ वैसा न सोचकर औपाधिक नाना मायारूप सोचता हूँ तो दुःख व संकटों के पहाड़ टूट पड़ते हैं। ये दुःख संकट के पहाड़ भी मायारूप हैं, केवल काल्पनिक हैं।

यावत्प्रवर्तनं लोके तत्तेषामज्ञताफलम् ।

निवृत्तिर्ज्ञानसाम्राज्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२-१८॥

अर्थ— लोक में जितनी प्रवृत्ति है वह उनकी अज्ञता का फल है और निवृत्ति ज्ञान के साम्राज्यरूप है अतः अपने साम्राज्यके द्वारा अपने में अपने लिये स्वयम् सुखी होऊँ।

लोक में जितनी भी प्रवृत्ति है वह सब अज्ञान का फल है अर्थात् जितने भी काम किए जाते हैं, जितनी चेष्टायें की जाती हैं, जितने व्यवहार किए जाते हैं, सब अज्ञान से होते हैं। ज्ञान का फल नहीं है। बोल, सम्बन्ध, रिश्ता मानना, देश का काम, जाति का काम, धर्म का काम, व्यवहार का काम, चलना, उठना, बोलना, चर्चा करना, गृहस्थ धर्म पालन, साधुधर्म पालन, यावन्मात्र जितनी भी प्रवृत्ति हैं। सब अज्ञान का फल है। ज्ञान का फल तो निवृत्ति है। प्रवृत्ति अज्ञान का फल है। यहां शंका हो सकती है तो धार्मिक प्रवृत्ति में भी क्या मूल अज्ञान हो सकता है ? हम मित्रों को जानते हैं तो यह ज्ञान का फल है या अज्ञान का फल है। तत्त्वदृष्टि करके देखो तो अज्ञान का फल है। कैसे ? सोचो कि हम ज्ञान का फल उत्पन्न करते हैं कि अज्ञान का ? यदि मात्र जानना हो तो ज्ञान का फल है, किन्तु इष्टपने का भाव होना तो अज्ञान है।

भैया ! बहुत भीतर की सूक्ष्म बातें कही जा रही हैं। हमारे में भाव में हिंसा न हटे तो ज्ञान का फल है कि अज्ञान का फल है। अच्छे धर्म के कितने काम बताए जाते हैं, कितने व्यवहार धर्म के करते हैं, आसन लगाते हैं, पंच परमेष्ठी की उपासना करते हैं, मालायें हैं, यह सब लोकदृष्टि में भले ही ज्ञान है पर है अज्ञान का फल। ज्ञान कहते किसे हैं ? ज्ञान का उगना क्या है ? ज्ञान एक प्रतिभास सही जाननहार है। उसके होने से आत्म में कुछ भी तरंग कहां रहेगी ? यह तो है ज्ञान का फल और किसी भी काम को करना चाहिए, स्वाध्याय होना चाहिए, जानन होना चाहिए, साधुसेवा होना चाहिए, देशसेवा, समाजसेवा के अन्य कार्य होने चाहियें आदि कुछ भी जिनका लगाव है वह है अज्ञान का फल और सर्व परभाव से जो निवृत्ति है वह ज्ञान का फल है।

एक उदाहरण लो। एक रस्सी सामने पड़ी हुई है, कुछ उजेला अंधेरा है। यह भ्रम रस्सी को देखकर हो जाय कि यह तो सांप है। इस भ्रम के होने का फल क्लेश प्रवर्तन है। वह भ्रम में पड़कर घबड़ा जाता है, डर जाता है और अगर सोचे कि आखिर चलकर देखे तो कि कौन सा सांप है ? वहां गया तो गौर से देखा, गौर से देखने पर पता चला कि यह तो कोरी रस्सी है इतना ही जानने से उसकी घबड़ाहट छूटी, कुछ चैन मिली। यह चैन माना, वह भी उसके अज्ञान का फल है। तो ज्ञान का फल क्या है ? अन्य रूप जानना मिट गया, भ्रम व घबड़ाहट मिट गयी, यह तो ज्ञान का फल है और जितना फल

है उसका लगाव अज्ञान है। अज्ञान को छोड़ो तो वस्तु का स्वरूप समझ में आयगा। हम सत्संग में बैठे हैं तो राग में बैठे हैं, अज्ञान में बैठे हैं। ज्ञान से नहीं बैठे हैं, क्योंकि ज्ञान का फल कहीं बाहर से नहीं आता है।

हे आत्मन् ! ज्ञान अपने आत्मस्वरूप से ही आता है। भगवान की पूजा करूँ, साधुओं की सेवा करूँ तो ये सब राग हैं। राग ज्ञानस्वरूप नहीं होता सो वह अज्ञान का फल है, अज्ञान से पैदा होता है। ज्ञान कितने मर्म की चीज है? हम इस ज्ञान को जानते हैं, इस ऊपरी संतोष से काम नहीं चलेगा, इसकी परख कर लो। केवल बाहरी दैहिक प्रवृत्ति में संतुष्ट हो जाना, कुछ ज्ञान हो चुकने के बाद संतोष कर लेना लाभकर नहीं है। ज्ञान तो और इससे बढ़कर अन्तर में रहता है। ज्ञानदृष्टि का फल निवृत्त होना चाहिए। यह शुद्ध केवल ज्ञान की चर्चा है। यदि ऐसा ज्ञान आ गया तो इसके कारण हम पर क्या गुजरेगा ? केवलज्ञान। जाननमात्र ही ज्ञान का फल है। ज्ञान के उपासक प्रभु के इस स्वरूप में झुकेँगे, तो ज्ञान का फल है कि राग का ? ज्ञान की मूल में प्रेरणा है, फल राग का है। इसका यह ज्ञानस्वरूप हम और आपके भीतर जो है उसको यह मोही जीव नहीं देखता है। परपदार्थों में ही पड़कर मुसीबतें सह रहा है। यह भी अज्ञान का फल है। इसी तरह उन सबकी प्रवृत्ति में व्यवहार में भी अज्ञानता ही है।

भैया ! गति, इन्द्रिय, कषाय, योग, विषय इत्यादि को उपेक्षित करके मात्र ज्ञान किया जाय तो वह प्रकाश है। यह प्रकाश यदि नहीं है तो कर्म संचित हो जाते हैं, उस ज्ञान के होने से ही ये कर्म भस्मीभूत हो जाते हैं। तब तो बतलाओ, कोई पुरुष साधु होकर भी, मुनि होकर भी यह ख्याल करता रहे कि मैं मुनि हूँ, मैं साधु हूँ, मैं ऐसा हूँ, मैं कैसा हूँ, यह तो मिथ्यात्व होगा ना। कोई गृहस्थ यह विश्वास करे कि मैं गृहस्थ हूँ, मैं बाल-बच्चों वाला हूँ, मैं दुकानदार हूँ इत्यादि, ये सब मिथ्यात्व हैं, अज्ञानता है। लो उस साधु ने भी अपने आप यह सोच लिया कि मैं साधु हूँ, जैसे कि गृहस्थ ने अपने आप में यह सोच लिया कि मैं गृहस्थ हूँ, पर्याय की पकड़ दोनों में है सो दोनों आशय परसमय के हैं। पर यह आत्मा न तो साधु है और न गृहस्थ है। वह तो ज्ञानानन्दधन, चैतन्यस्वरूप, एक पदार्थ है। वे सब अपने आप में हैं। अपने आप ही परिणमते रहते हैं, यह कैसे मान लिया जाय कि मैं अफसर हूँ, मैं दुकानदार हूँ। मैं फलां हूँ, अरे ये सब कुछ तू नहीं है, तू तो ज्ञानानन्दधन चैतन्यस्वरूप एक स्वरूप एक पदार्थ है।

देखो भाई ! प्रतीति की बात चल रही। विश्वास की बात बोल रहा हूँ कि तुमको यह विश्वास है कि मैं गृहस्थ हूँ, इसमें तो मोह होगा। गृहस्थ का यह विश्वास है कि मैं गृहस्थ हूँ, साधु का यह विश्वास कि मैं साधु हूँ तो मोह में दोनों दब गए। अरे मैं तो एक चेतन पदार्थ हूँ, अगर गृहस्थ बन गया, साधु बन गया तो यह आफत है। अरे अज्ञान और मोह से कुछ फायदा नहीं हो सकेगा। जो कुछ कह रहे हैं वे सब उल्टी-उल्टी बातें मालूम होती होंगी। मगर ये सब विश्वास की बातें हैं। इस लोक में बहुत सी कलायें लोगों ने सीख ली हैं:- कोई संगीत की कला, कोई नृत्य की कला, कोई बोलने की कला,

कोई भाषण देने की कला इत्यादि सीख लेते हैं। ऐसी कला को जानने वाले लोग अपने मन में संतोष रखते हैं कि मैं बहुत बुद्धिमानी का काम कर रहा हूँ। मैं देश की सेवा, समाज की सेवा करता हूँ। भाषण देने वाले जानते हैं कि मैं ढंग से बोल रहा हूँ, समाज को, देश को रास्ते में लगा रहा हूँ। सो इतने से क्या किसी ने शान्ति पाई? ऐसी दृष्टि द्रव्यलिंगी साधु पुरुष की भी हो रही है। देखो उन साधुओं में मोह कितना अन्तर में होता है? जैसे कहते हैं कि वे मुनि शत्रुओं से भी विरोध नहीं करते हैं, आराधना करते हैं और मोक्षमार्ग में लगूँ ऐसी चाह लिए हुए होते हैं यानि कुछ द्रव्यलिंगी साधु ऐसे भी होते हैं जो यह समझते हैं कि मैं तो साधु हूँ, मेरा यही काम है। सो भैया! पर्याय में आपा बुद्धि होने से यह मिथ्यात्व है, मेरे में यह ज्ञान आना चाहिए कि मैं ज्ञानमय एक तत्व हूँ, मेरा तो ज्ञानदृष्टि में रहने का काम है। जैसे गृहस्थ का गृहस्थी धर्म का कार्य आफत है वैसे ही मेरे को सर्वप्रवर्तन आफत है। ज्ञानी को यह विश्वास होना चाहिए कि मैं गृहस्थ नहीं हूँ, मैं तो ज्ञानानन्दमय एक तत्व हूँ, चैतन्यस्वरूप हूँ, इसके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं हूँ। यदि ऐसा विश्वास हो जाय तो वही ज्ञान का मार्ग है, जितनी लोक में प्रवृत्ति है, झुकाव है वह सब अज्ञान का फल है। अगर हममें यह बुद्धि आ जाय कि हमने यह कर लिया तो यह अज्ञान है। हमारा यह विश्वास होना चाहिए कि मैं चैतन्यमात्र हूँ, केवल जानन ही जानन हूँ।

जैसे कोई आदमी अपराध में पकड़ा गया या व्यापार के किसी अनियम में पकड़ा गया। उस पर १००० रु० का जुर्माना कर दिया गया। अब उसने गिड़गिड़ाना शुरू किया। कोशिश करने पर ५० रु० जुर्माना के रह गए और ६५० रु० छोड़ दिए गए, ५० रु० वह इसी खुशी से दे रहा है, १००० रु० देने थे और ५० रु० ही रह गए। हाथों से दे रहा है, मगर संकल्प में यह लग रहा है कि ये भी न देने पड़ते तो ठीक था, ५० रु० खुश हो करके दे रहा है। मगर भीतर में यह बात बनी है कि ये भी न देने पड़ते तो अच्छा था। इसी तरह ये सब जुर्माना है, यह प्रवृत्तियाँ मानों १००० रु० का जुर्माना है, गृहस्थ धर्म में केवल ५०० रु० का जुर्माना है। साधु धर्म में केवल ५० रु० का जुर्माना है, तो वह गृहस्थ यह सोचेगा कि यह जुर्माना रागप्रवृत्ति से हुआ। अगर ज्ञाता द्रष्टा मैं रहता तो ठीक था। यह तो अज्ञान का फल है, ज्ञान का फल है निवृत्ति। यावन्मात्र जो प्रवृत्ति है वह राग का फल है। साधु पुरुष भी आहार, चर्चा इत्यादि करने जाते तो उसमें राग है या नहीं। जो राग के काम हैं वे राग से होते हैं। ज्ञान से आनन्द और राग से प्रवृत्ति होती है। गृहस्थ अपने को गृहस्थ अनुभव करता है और साधु अपने को साधु पर्यायरूप अनुभव करता है तो मोह दोनों में हुआ। इस ज्ञानमात्र मुझ आत्मतत्व का जो जानन का काम है वह मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग इस आत्मस्वरूप के भीतर भरा हुआ है। पुरुष के हाथ और पैरों में मोक्षमार्ग नहीं भरा हुआ है।

और देखो एक दृष्टान्त है कि एक सेठ था। वह चावल बेचने का काम करता था। वह ठेलों धान खरीदता था और उन धानों से चावल निकालकर दो चार ठेला चावल बेचता था। एक आदमी उसके पीछे लग गया। सोचा कि जैसा सेठ करता है, जिससे कि यह धनी हो गया है, वैसा मैं भी करूँगा।

वैसा करने से मैं भी सेठ जैसा धनी बन जाऊंगा। देखा कि सेठ ने कुछ सामान खरीदा। चावल के ऊपर के छिलके तो मटमैले ही थे सो पिछलगे व्यक्ति ने देखा और उसने भी मटमैली चीज २, ४, मोटर भर ली। वह लेकर बेचने गया। ठीक जैसे सेठ करता था वैसे ही वह व्यक्ति भी करता था। मगर सेठ को तो नफा हुआ, और उस व्यक्ति को टोटा आ गया। अरे धानों के अन्दर जो चावल होता है उसकी महिमा होती है धान के छिलके की महिमा नहीं होती है। इस बात का उस पिछलगे व्यक्ति को पता ही न था।

इस ही प्रकार शुद्ध धर्म की जानन परिणतिरूप इस धर्म के संग से धर्म क्रियाओं की महत्ता है, उसकी महिमा ज्ञानदृष्टि के कारण है, और इस ज्ञान दृष्टि की ऐसी प्रवृत्ति न हो तो बाह्यक्रियाओं की महिमा कुछ नहीं रहा करती। ज्ञान दृष्टि के कारण ही धर्म प्रवृत्ति की महिमा हो जाती है। वह ज्ञानमात्र है, उसका फल निवृत्ति है। ज्ञान का साम्राज्य निवृत्ति है। यह सब ज्ञान का फल है। अब हम इतने बड़े महिमानिधान ज्ञान के बीच में रहते हैं। बाहर से देखो तो नाना प्रकार की विषयों की बातें चारों तरफ घूम रही हैं। जब ज्ञान जगता है और बाहरी फैली हुई दृष्टि का संकोच होता है तो स्थूल पापों का त्याग होता है। जिस प्रवृत्ति के बीच इतना गृहस्थ धर्म बन गया है सो उसमें जो राग का अंश रहा करता है तो वह पाप ही कहलाएगा। इसका जितना निवृत्ति का अंश है वह धर्म है, जितना वहां प्रवृत्ति का अंश है वह अधर्म है, वही अज्ञान कहलाया। जैसे विवाह कर लिया। एक स्त्री से संतोष हुआ तो हजार स्त्री से छूटे। क्या आपका धर्म है लौकिक कि एक स्त्री में लगे रहें? नहीं, अनेक स्त्रियों के विकल्प से छूटने के लिए वह उपक्रम है। जितना हटाव है वह ज्ञान है। उस एक की ओर झुकाव और लगाव तो अधर्म का काम है। व्यवहार धर्म का काम, अधर्म का काम, राग का काम, कहीं जुटाने का काम जितने भी हैं, जितनी भी प्रवृत्तियां हैं, वे सब अज्ञान से हैं।

अच्छा अब गृहस्थ धर्म भी छोड़ा, आरम्भ छोड़े, परिग्रह छोड़े, शुद्ध मार्ग की दीक्षा ले ली, शुद्ध चर्चा में रहने लगे। इस साधु प्रवृत्ति में भी गृहस्थ का परिग्रह हट गया, तो धर्म का काम है। शुद्ध चलने लगे, शुद्ध उठने लगे, शुद्ध खाने लगे तो ये सब राग के काम हैं। जितना निवृत्ति का अंश है वह ज्ञान है और भी देखिए भैया! जैसे गृहस्थ के योग्य शुद्ध व्यवहार, शुद्ध चर्चा में रहते हुए भी वह गृहस्थ उस व्यवहार से विरक्त रहा करता है, इसी तरह साधु भी शुद्ध सम्यग्ज्ञान के अनुकूल व्यवहार करते हुए भी व्यवहार से विरक्त रहा करता है। एक ज्ञानी गृहस्थ अपने कुटुम्ब परिवार में रहते हुए भी अपने को भिन्न समझता है, न्यारा समझता है, अहितरूप है ऐसा जानकर परिवार से विरक्त है। तब साधु भी अपने शुद्ध काम करते हुए साधु रहते हुए भी उस प्रसंग से विरक्त है।

शुद्ध ज्ञान के काम की यह बात चल गयी और लम्बी खिंच गयी। प्रयोजन यह है कि जितना हटे उतना धर्म है और जितना लगे उतना अधर्म है। ज्ञान का काम मात्र निवृत्ति है — इतना ही ध्यान में लाना है। यह निवृत्ति ज्ञान का साम्राज्य है। यदि मैं अपने साम्राज्य की ओर अर्थात् निवृत्ति का उपयोग कर मैं प्रवृत्ति से हट जाऊं तो मैं सुखी होऊं। देखो जितने भी सुख मिलते हैं, वे हटने से मिलते हैं, लगने से नहीं मिलते हैं। गृहस्थी में रहते हुए भी उससे हटकर रहने में जो आनन्द मिलता है वह

आनन्द उसमें लगने से नहीं मिलता है। आनन्द इच्छा के अभाव से मिलता है। इच्छा की पूर्ति व इच्छा का अभाव कहो एक ही है बात। हटना ज्ञान का काम है और लगना अज्ञान का काम है। आनन्द भी जितना होता है वह हटने से होता है, लगने से नहीं होता है।

जैसे एक मित्र का पत्र आए कि १० बजे की गाड़ी से हम आ रहे हैं। बस पत्र के पाते ही सब तैयारी में लग गए, वह इसलिए कि मेरा मित्र आ रहा है, मैं अपने मित्र से मिलूंगा। वह मिलने के प्रयोजन से ही जल्दी-जल्दी काम करता है और भी जितने काम हैं जल्दी-जल्दी कर लिये। देखो यह सब व्याकुलतायें क्यों की जा रही हैं ? इसलिए कि मित्र से मिलने के काम में अपना लगाव रखा, १० बजे स्टेशन पहुंचे, पूछते हैं कि गाड़ी लेट तो नहीं है। यदि कोई कह दे कि अभी १० मिनट लेट है तो बस दुःखी हो गया। गाड़ी आते ही झट इस डिब्बे में देखा, उस डिब्बे में देखा, मित्र मिल जाता है तो आनन्दमय हो जाता है। अच्छा, अब यह बताओ कि उसे आनन्द मिलने से आया है कि मित्र के मिलने का आनन्द है तो मित्र से डिब्बे के अन्दर मिलता ही रहे। इधर-उधर डिब्बे के बाहर झांके। गाड़ी चलने वाली है तो वह बाहर को झांकता है और बाहर क्यों झांके ? यदि मिलना है तो मिलता ही रहे। मित्र से मिलने का काम समाप्त हो गया, इससे तो आनन्द आया, किन्तु अब उसे घर जाने का लगाव हो गया तो दुःखी हो गया। उसे लगाव से दुःख है, उसका जितना भी दुःख है, लगाव का है। मित्र मिलने की इच्छा हो गयी। इस दुःख से दूर होने के लिए ही वह मित्र से मिलने गया, क्योंकि उसको विकल्प सता रहा था। क्यों जी ! यदि विकल्प स्वयं ही पहले से न रहे तो क्या आनन्द न आवे ? आनन्द अवश्य आयेगा। यदि ऐसी भावना हो कि विकल्प सता रहा था इसी कारण से ही अपने दुःखों को दूर करने के लिए अपने मित्र से मिलने गया, तो प्रकाश में भीतर उसे शान्ति रहती।

भाई विकल्प न करो वहां क्या रखा है ? उनसे इच्छा न करो। इस तरह मिलने की इच्छा ही न हो तो वह वहां भी अनाकुलता है। जो इच्छायें हों उन्हें समाप्त कर लो। इन्द्रियों के विषयों में बरबादी है। यह एक अन्तर के मर्म को देखकर कह रहा हूँ। अरे विषयों में अगर लग गए तो समझो विषयों में ही जल गए और मिट गए, तो इच्छाओं का अभाव कैसे हो सकेगा? विषय बुद्धि के होने से इच्छाओं का अभाव नहीं हो संकता है। विषय प्रवृत्ति अधर्म है। अगर विषयप्रवृत्ति न हटेगी तो लगाव भी नहीं हटेगा और आनन्द भी नहीं आयेगा। अपने ज्ञान को अन्य के लगाव में लगाना ही अज्ञान का फल है। निवृत्ति तो फल ज्ञान का है और प्रवृत्ति फल अज्ञान का है।

मेरा काम क्या है ? देखना ? नहीं, बोलना चालना ? नहीं, हाथ जोड़ना ? नहीं, और और करके अपनी बातों में लपेट लेना ? नहीं। जितने काम लगाव के हैं, व्यवहार के हैं वे सब जानन, जानन, जानन, केवल जानन, ज्ञान का काम है, ऐसा साम्राज्य हो और स्वयं की पहिचान हो तो उसे मोक्ष का मार्ग प्राप्त होगा, नहीं तो उसे शिवपथ नहीं प्राप्त हो सकेगा।

कर्मकर्त्रादिकल्पाः स्युर्देहादिष्वनुवन्धिनः ।

पूर्यते तैर्न कश्चिन्मे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२-१६॥

अर्थ- मैं इसको करता हूँ, नहीं करता हूँ, आदि विकल्प शरीर आदि में सम्बन्ध परम्परा करने वाले होते हैं उनसे मेरा कोई भी पूरा नहीं पड़ता मैं तो अपने में अपने लिये स्वयं अपने आप सुखी होऊँ।

मैं आत्मा जो हूँ वह हूँ जैसा स्वरूप है, उस ही स्वरूप में हूँ। मैं अन्य सब पदार्थों से विलक्षण, जानने, देखने की स्वभाव कला में तन्मय हूँ। यह एक भावात्मक पदार्थ है। जिसमें रूप नहीं, रस नहीं, गंध नहीं, स्पर्श नहीं केवल चिदानन्दधन, चैतन्य स्वरूप मात्र एक विलक्षण सत् है। इस ही को ब्रह्म कहते हैं क्योंकि ब्रह्म नाम उसका है जो ज्ञान से बढ़ता हुआ रहे। अपने ज्ञान को बढ़ाने की कला इस आत्मा में है। पुद्गल तो बाह्य हैं। पुद्गल के गुण का ऊँचे से ऊँचा विकास हो तो क्या होगा? रूप का क्या होगा? परन्तु आत्मा के ज्ञान गुण का विकास ऊँचा क्या होता, वह कहा जा सकता है। आत्मा के ज्ञानका विकास हो तो सभी कुछ ज्ञानमें आयगा। उसका स्वभाव बढ़ने का है। जैसे कोई स्प्रिंग होती है उसे दबायें तो दब जायगी और छोड़ दें तो स्वतः उठी रहेगी। इसी प्रकार यदि ज्ञान को विषयकषाय परिणामोंके द्वारा दबावें तो दब जायगा और यदि दबायें नहीं तो ज्ञान फैलता ही जायगा। ज्ञानके फैलने का तो स्वभाव ही है। ये विषय कषायोंके परिणाम रागद्वेषादिक भाव इस ज्ञानको दबानेके कारण हैं। जब तक ये विकार रहेंगे तब तक ज्ञान दबता ही रहता है। निरोधीपन हटे, आत्मतत्त्वका विकार मिटे तो यह विकसित हो जाता है। क्योंकि आत्माका स्वभाव ही ऐसा है कि अपने ज्ञानसे वह वर्धनशील रहे, बढ़ता हुआ ही रहे। इसलिए आत्माका नाम ब्रह्म है।

इस ज्ञानस्वरूप आत्माको कहा जा रहा है। यह आत्मा विष्णु कहलाता है क्योंकि विष्णु उसे कहते हैं जो व्यापक हो। जिसका स्वभाव ही ऐसा हो कि सर्वत्र व्यापक ही होता रहे वही विष्णु है। ज्ञानधन कहलाता है वह जिसमें बीचका कोई हिस्सा न छूटे। जैसे किसी टंकी में पानी भर दिया जाय तो पानी लबालब भरा हुआ है। उस पानी में ऐसा नहीं है कि कहीं एक इंच पानी न रहे। जो पानी भरा हुआ है वह पूर्ण रूपसे भरा हुआ है। इसका कोई भी स्थान खाली नहीं रह सकता है। इसी तरह इस ज्ञानका फैलाव है कि यह ज्ञान सर्वत्र फैल जाता है। किसी जगह खाली नहीं रह जाता है कि तो मैं अमुक को नहीं जानता। जैसे टंकीके बीच कोई चीज आ जाय जिसमें कुछ टोला सा हो तो वहां पानी नहीं पहुंच सकेगा। पर पानी अपने स्वभावके कारण न पहुंच सका ऐसी बात नहीं है, किन्तु वहां कोई चीज ऐसी आ गई है जिससे रुकावट आ गयी है। इसी प्रकार से ज्ञान में विषयकषायों की आड़ आ जाती है जिससे ज्ञान के विकसित होने में रुकावट पैदा हो जाती है। यदि कहीं ज्ञान न पहुंचा तो वहां पर ज्ञानके स्वभाव के कारण नहीं पहुंच सका ऐसी बात नहीं है। ज्ञान के विकसित होने में रागादि भाव रुकावट पैदा करते हैं, उसी से ज्ञान वहां नहीं पहुंच पाता है। ज्ञान का स्वभाव सर्वत्र फैल जानेका है, सब जगह व्याप जाने का है। ऐसे ज्ञान का स्वभाव सर्वत्र फैल जाने का है। ऐसे ज्ञान का स्वभाव व्याप्त होता रहता ही है; इसलिए ज्ञान ही विष्णु है।

यह ज्ञान जिन है अथवा जितेन्द्रिय है। जिन कहते उसे हैं जो समस्त बाह्य पदार्थों को जीत ले, खत्म कर दे और स्वयं शुद्ध, स्वच्छ बना रहे। जिन ज्ञान ही है सो भावात्मक तत्व है, ज्ञान ज्ञान ही है, जानन जानन ही है, जानन ही काम है, यह मेरा ज्ञान स्वच्छ है, इसमें दूसरे का प्रवेश नहीं है, यह अपने ऐसे ही स्वच्छ ज्ञानकी बात कर रहा हूँ। जिस ज्ञानका काम सुन्दर, शुद्ध, प्रतिभास को बार-बार पैदा करते जाना है। कब तक ? अनन्त काल तक। जो इस ज्ञान को स्वच्छ, शुद्ध, सुन्दर एक दृष्टि करता रहे वह ज्ञानी है। जो ज्ञान अपनी सृष्टि करता हो, चाहे वह बिगड़ जाय, रूठ जाय, गुस्सा हो जाय, मलीन हो जाय, आपसे बाहर हो जाय तो भी यह पूर्ण ही रहता है, पूर्ण ही परिणमता है। यह जगत जितना दिखता है उस रूप में रचना हो जाय, यह भी ज्ञानमय आत्मदेव की सृष्टि है ऐसा यह ज्ञानतत्व भीतर का है। यह ज्ञानतत्व मलीन हो जाय, काबू में न रहे तो बिगड़ा हुआ प्रभु ऐसी सृष्टियों को कर डाले, ऐसी ज्ञान की महिमा है। यही ज्ञान पदार्थ, वृक्ष आदि रूप में आ जाता है। मनुष्य, पशु, पक्षी, जीव-जन्तु भी हैं उन सबके रूप में यह ज्ञान आता है।

यह ज्ञान ही ब्रह्म है। इसका ऐश्वर्य विलक्षण है। शुद्ध सृष्टि करे, अशुद्ध सृष्टि करे सब ज्ञान की महिमा है। उसके ऐश्वर्य का पता लगा लेना विरले ही सूक्ष्मदृष्टि, ज्ञानी, योगी का काम है। कैसा है? वह कुछ नहीं है और सब कुछ है। ज्ञानतत्व है, जिसके अन्तरंग में कुछ नहीं है-और सब है। कुछ बचा नहीं है और है। कुछ पिंड ऐसा नहीं है। ऐसा जाननहार यह आत्मतत्व विलक्षण ऐश्वर्य वाला है। इसका काम जानन है सो अपनी ही कला से, अपनी ही लीला से अपना काम कर रहा है। इसका काम केवल जानन है— जान लेना। इस ज्ञान में सुख दुःख नहीं। जाननका काम केवल जानन ही है। जान लो फिर उसके बाद महान् आनन्द आता रहता है। जैसे प्रयोजन अशुद्ध हैं तो वहाँ संकट हैं और जहाँ प्रयोजन अशुद्ध नहीं हैं वहाँ संकटों का नाम नहीं है। जाननका प्रयोजन शुद्ध होना चाहिए, क्या ? कि जान लिया। किसलिए जान लिया ? जानन के लिए जान लिया।

मिला हुआ दूध और पानी एक पात्र में है, पर दूध अलग है और पानी अलग है। दूध के कण दूध में हैं और पानी के कण पानी में हैं। दूध में पानी मिला होने पर भी दूध में दूध है और पानी में पानी है। यह सारा विश्व ज्ञानमें आवे। फिर भी विश्व और ज्ञान अलग-अलग हैं हम और आप लोगों को तो इतनी चीज जानने में आ रही हैं, फिर भी जो यह है वह मैं नहीं हूँ। जानन में जानन है, पदार्थों में जानन नहीं। जानन की ओर ही जानन है। जाननमें ही जानन बना रहता है। बाह्य पदार्थों में जानन नहीं बना रहता है। जाननमें ही जानन बना रहता है। ऐसी विचित्रताओं और ऐसे ऐश्वर्य का पता योगी और ज्ञानी पुरुषों को ही हुआ करता है। विलक्षण ऐश्वर्य को जानकर ही उन योगियों और ज्ञानियों का मन प्रसन्नचित्त रहता है।

भैया ! जंगल में योगी जन एकान्तचित्त रहते हैं। गृहस्थी को ऐसा लगाता है कि जंगल में रहने वाले लोग कैसे रहते हैं? उनसे कोई पूछने वाला नहीं है, नौकर नहीं है, साधन नहीं है, खाने-पीने का काम चलता होगा? परन्तु उनका काम अद्भुत रूप से चलता रहता है। वे अपने ज्ञान का रस का स्वाद

सुख यहाँ द्वितीय भाग

लेकर ही आनन्दमग्न हो जाया करते हैं। यही उनका ऐश्वर्य है। वे अपने अमृत में ही छुके हुए रहते हैं, इसलिए वे सदा प्रसन्न रहते हैं। अतः इस ज्ञान का नाम ही ईश्वर है। आनन्दमय, कल्याणमय, सर्वोत्कृष्ट सार की चीज दुनिया के अन्दर क्या है? मोही जीव अपने सारसे अलग होकर बाहर को निरखा करते हैं। सारभूत चीज क्या है? महान् हो गया, बाल बच्चे हो गए, मित्र लोग हो गए, ऐसी कल्पनाओं में ही वे मोही बाहर-बाहर ही घूमा करते हैं। सार को ढूँढ़ने के लिए वे जगह-जगह मारे-मारे फिरा करते हैं। योगियों को अपने ज्ञान का पता है कि दुनिया में सार की चीज कोई मिलती नहीं है। सार वह खुद ही है। इसका जो सहजस्वरूप है, अपना अस्तित्व है, वह ज्ञानमय है, प्रकाशमय है, कल्याणमय है। सार को, कल्याण को, उत्कृष्ट को शिव कहा करते हैं। यह ज्ञानमय ही शिव है।

राम किसे कहते हैं ? राम उसे कहते हैं जिनमें योगी पुरुष रमण किया करते हैं। जिसमें योगीजन, ज्ञानीजन रमण किया करते हैं उसे राम कहते हैं। वह राम मेरा कौन है? मैं अनादिसे अनन्त तक सदा अपने आपमें रमण किया करता हूँ। यह तो लोगों को भ्रम है कि मैं घरमें रमता हूँ, दुनियावी कार्यों में रमता हूँ, खुद ज्ञानमय हूँ, चारित्र्यमय हूँ, स्वयं ही स्वयंके स्वरूपमें रमा करता हूँ, खुद ही रमा करता हूँ। कोई अपनी दुकान में ही रमा करता है, कोई विकल्पों में रमा करता है, कोई जानकार विद्वान् विकल्प करता है वह उनमें रमता है और ज्ञानी योगी पुरुष अपने ज्ञानस्वरूप में रमते हैं और प्रसन्न होते हैं। मैं अपने ज्ञान में रमा करता हूँ, तात्पर्य यह है कि कोई कैसे रमता है, कोई कैसे ? मगर सभी अपने आपमें रमते हैं। बाह्य पदार्थों में कोई रम नहीं सकता है, कोई बाह्य में लग नहीं सकता है, परन्तु कोई मान ले कि मैं बाह्य में रमता हूँ। तो वह परेशान हो जायगा। पर न कोई बाह्य में रम सकता है और न बाह्य में लग सकता है। तो मैं रमता हूँ और अपने आपमें ही रमता हूँ। तो ज्ञानस्वरूप यह आत्मा ही राम है।

यह प्राणी अपनी शरण बाह्य में ढूँढ़ता है, बाह्य में ही हित और अहित ढूँढ़ने का प्रयास कर रहा है। परन्तु कहीं बाहर शरण नहीं है। यह प्राणी इधर-उधर भटकता है, परन्तु यह शरीर देवता इसकी रक्षा नहीं करता है। यह ज्ञानस्वरूप ही हमारा सच्चा देव है, रक्षक है, अपने आपके लिए स्वयं सर्वस्व है। जिस प्रकार का हममें सर्वस्व है उस ही प्रकार की बातें करें तब तो ठीक है। परन्तु हे आत्मन् ! यह प्राणी शुद्ध प्रवृत्ति नहीं करता है। यह तो उल्टी-अटपटी बातें करता है। यह जैसा शुद्ध है, स्वच्छ है, चैतन्यस्वरूप है वैसी बातें नहीं करता है।

हे आत्मन्, अपने आप पर दृष्टि दो तो अपना प्रभु अपने को ही मिल जायगा। यह प्रभु ही तेरे पापों को हर सकता है। पाप क्या है ? विकल्प और कल्पनायें ही पाप हैं। ये बाहर के जो पाप हैं, झूठ बोल दिया, जान ले लीं, परिग्रह किया, यही बाहरी बातें पाप हैं। ये पाप होते भी कैसे हैं? यों ही कल्पनायें उठती हैं तब इन पापों को करता है। इन पापों के कारण ही उसे दुःख मिला करते हैं। तो इन पापों को हरेगा कौन ? इन पापों को मेरा प्रभु ही हरेगा। इन पापों से उत्पन्न दुःखों को मेरा प्रभु ही मिटायेगा। जो पापों को हरे वही हरि कहलाता है। हम अपना प्रभु कैसे ढूँढ़ें ? हमारी शरण, हमारा

रक्षक, हमारा हितू यह प्रभु ही है। इस एक अपने स्वरूप पर ही ध्यान हो तो सर्व सफलता है। मैं तो यथार्थ हूँ, कृत्कृत्य हूँ, स्वभावमात्र हूँ। यह लोक धन कुछ महत्व नहीं रखता है। यह धन पिंड रूप है। धन पुद्गल है, इन पुद्गलों में सार नहीं दिखता है। ऊँचे-ऊँचे महल, बड़े-बड़े धन वैभव आदि इनमें कोई महत्व की चीज नहीं दिखती है। यह ज्ञानी जब ज्ञान दृष्टि से देखता है कि मैं सबसे निराला हूँ, ज्ञानमयवस्तु हूँ तो अनुभव रस का स्वाद मिलता है अन्यथा जिसके बारेमें जैसा विचार किया वैसा ही, उसको समझ लिया और वैसा ही उसका वर्णन कर दिया। सो इसी के अदर्शनके फलमें बौद्ध हूँ, भट्ट हूँ, नैयायिक हूँ। मीमांसक सांख्य इत्यादि नाना प्रकार के दर्शन बन गए पर जिसपर समस्याएँ खड़ी हुई हैं वह दर्शनका मूल आधार यह स्वयं ज्ञानतत्त्व है, ऐसा यह मैं ज्ञानतत्त्व हूँ।

मेरा काम केवल जानन ही जानन है। बाह्य पदार्थों को करनेका इस ज्ञानमात्र भावात्मक आत्मपदार्थ का काम नहीं है, किन्तु अज्ञानी मानता है कि हम करने वाले हैं, मैं अमुक का करने वाला हूँ, मैं दुकान करने वाला हूँ इत्यादि ये मिथ्यात्व हैं। ये विचार धर्ममें ले जाने वाले नहीं हैं। ये सब मिथ्यात्व हैं। तू है और परिणमता रहता है। इतना ही तेरा काम है। तू पूराका पूरा है। पाप बनें चाहे न बनें, तू पूराका पूरा है। जैसे जैसे लोग कहते हैं कि तू तो अधूरा है, तेरी आत्मा अधूरी है। अरे तेरी आत्मा अधूरी नहीं है। तू तो एक सत् है, सत् अधूरा नहीं होता है। अधूरापन तो दुनियामें होता ही नहीं है। यह ऐसी मानी हुई चीज है कि जैसे अनेक चीजें मिली होती हैं, कुछ यहां हटा दिया, कुछ वहां हटा दिया तो लोग कहते हैं कि आधा कर दिया। जो चीज है वह पूरीकी पूरी है।

ये स्कन्ध हैं, ये दिखते हैं। ये सब चौकी, पुस्तक, कमंडल इत्यादि एक एक चीजें नहीं हैं। ये अनेक पुद्गल परमाणुओं से मिलकर बने हैं इसमें आधी-आधी चीजें कुछ नहीं हैं। उनमें जो एक एक चीज है वे सब पूरे के पूरे हैं। इसी तरह जगत के जितने जीव हैं वे सब पूरे के पूरे हैं। अगर बिगड़ गए तो पूरे के पूरे बिगड़ गए और अगर बन गए तो पूरे के पूरे बन गए। आधा न तो बिगड़ेगा और न बनेगा। प्रत्येक जीव परिणमता है। अगर कोई परिणमता है तो अपने ही परिणमन से परिणमता है दूसरेके परिणमनसे नहीं। अगर मैं विकल्प कर रहा हूँ तो अपना ही विकल्प कर रहा हूँ, दूसरोंका विकल्प मैं नहीं कर रहा हूँ। मैं परिणमता हूँ अपने आपमें ही परिणमता हूँ, ऐसा अगर ज्ञान हो तो अमृतका पान है। जिसने अपने स्वरूपको लक्ष्य में लिया, अपनेको ही कर्ता धर्ता माना तो समझो कि दूसरी दुनियामें चला गया, अपने स्वरूपसे हट गया। यदि वह अपनेसे हट गया तो समझो कि उसके ऊपर दुःखों की परम्परा आ गयी, क्योंकि अपनेको भूलकर कहीं भी लगें, सर्वत्र क्लेश ही क्लेश हैं।

हैं आत्मन्! अपने स्वरूपसे विमुख होना विकल्पोंकी परम्परा बढ़ाना है। मैं इसको करता हूँ— ऐसा सोचना रागोंको बढ़ाना है और यह अज्ञान का काम है। मैं इसको नहीं करता हूँ, मेरा यह करने का काम नहीं है ऐसा विचारना ज्ञानका काम है। इसका न तो करनेका स्वभाव है और न मना करनेका स्वभाव है। मना करनेमें क्लेश है और करनेमें क्लेश है। क्लेश दोनोंमें है। अहंकारको देख लो उससे भी दुःख आते हैं। अहंकार करना या न करना बल्कि उसके प्रति विकल्प करना ही दुःख है। इससे अपना पूरा

सुख यहाँ द्वितीय भाग

नहीं पड़ेगा। मैं तो केवल अपने ज्ञानस्वरूपको देखूँ जिसका काम केवल जानन है, ज्ञानमात्र है, जान तो तो भाई फायदा उठाओ। अरे इतना ही फायदा है, इसके आगे किया तो नुकसान है। भगवान् सारे विश्वको जान गया। पर अब फायदा तो उठाओ। सट्टेका सार तो जान गए पर अब फायदा तो देखो। अरे जानन ही बना रहे तब तो भगवान् फायदेमें है। अगर जाननसे आगे आ जाय तो साधारण जीवोंकी तरह दुःख होंगे। भगवान् अपने स्वरूपको भूलकर अन्य कुछ नहीं करते। यदि कोई इस जाननके आगे, कुछ फायदा सोचता है तो उसीसे संसारमें रुलना पड़ता है। केवल जाननमात्रका फायदा रह जाय और कर्म चेतना व कर्मफल चेतनासे जुदा रहे, ऐसी दृष्टिसे आनन्द होता है। वह सब सहज परमार्थिक आनन्द है।

सो हे आत्मन्, तुम बाह्य में कुछ न करो। तुम हो और परिणमते रहते हो। इतना ही तेरा काम है। इसके आगे तेरा कोई काम नहीं है। अपने आपको देखो तो देतेसे दुःख दूर ही हटेंगे और फिर समाधि का अनुभव करेंगे। यह आत्मा आनन्द व ज्ञान विकासमें जब बढ़ता जायगा, बढ़ चुकेगा तो प्रभु हो जायगा। अपने स्वभाव से हटकर बाह्यको कुछ निरख कर बाह्य से लाभ देखकर बाह्य में जा पड़ते हैं तो उनको टोटा पड़ता है, नुकसान होता है। ये भोग पुण्योदय से प्राप्त हैं, निकट हैं, जरा मुड़े और भोग लिए ऐसे सुगम हैं सो ये भोग बड़े सस्ते लग रहे हैं, किन्तु ये बड़े महंगे पड़ेंगे। जैसे खेतोंमें कोई चला जा रहा है, खेतमें एक बेरका पेड़ मिले। किसी तरहसे बेरोंको तोड़ लिया। इतना काम तो बड़ा सस्ता लगा पर यदि उस खेतका मालिक आ जावे और उसे मारे तब कितना महंगा पड़ेगा? इसी तरह से ये मोह रागादिभाव सस्ते लगते हैं पर यह नहीं जानते हैं कितने महंगे पड़ते हैं? जरा सी देरमें जो कुछ करलो, सस्ते हैं, मगर स्वभाव दृष्टि से हटा हुआ रहता है ना। कर्मों के तीक्ष्ण बन्धन होते रहते हैं जिनके उदयमें महान् क्लेश हो जाते हैं। यह ज्ञान की बात, साधना की बात, स्वरूप निरखनेकी बात इत्यादि महंगी पड़ रही है।

अरे जरा सा दिमाग लगाना पड़ेगा फिर वह सस्ता है अर्थात् सस्ता ही पड़ेगा। जब चाहे अपने स्वरूप को देखो। ऐसा ज्ञानस्वरूप देखो तो सुखी रहोगे, मेरी शरण यह मैं स्वयं ही हूँ। जैसा मैं हूँ उसी रूप में अपने को देखूँ तो मेरा कल्याण हो जायगा। यह आत्मा तो जिन शिव, ईश्वर, ब्रह्म, राम, विष्णु आदि रूप है। सब ज्ञान इसी के अन्दर है। ऐसा महानिधान, आनन्द निधान यह मैं स्वयं हूँ। अपने आपको समझता हूँ और जानन स्वभाव लिए हुए हूँ। मेरे में विपदायें नहीं हैं। विपदायें तो मात्र भ्रम में, विकल्प में हैं।

इच्छा बन्धो न मे हानिज्ञानमात्रस्य दर्शिनः।

पूर्यते ज्ञानमात्रेण, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२-२०॥

अर्थ- इच्छा ही बन्धन है ज्ञानमात्र दृष्टा होते हुए मेरे कोई हानि नहीं क्योंकि ज्ञान मात्र भाव में ही मेरा तत्व पूर्ण होता है इसलिये ज्ञान स्वरूप अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

हम और आप सभी आत्मा परिपूर्ण हैं, सब प्रकार ज्ञान और आनन्दमय हैं। सब बातें इस आत्मा में ठीक है। केवल एक गड़बड़ी इस आत्मा के अन्दर है जिससे सारा बिगाड़ हो गया। वह गड़बड़ी क्या

है ? वह गड़बड़ी यह है कि इस आत्मा में इच्छायें भरी हुई हैं। चाहे सारी बातें रहे, हम किसी को मना नहीं करते। मगर एक इच्छाओंको ही निकाल दो तो सारे संकट समाप्त हो जाएंगे। इच्छाके समाप्त होनेपर कषाय भी किस पर नखरे करेंगे? इच्छायें ही एक बन्धन है जो जीवोंको बांधे हुए है। इन पुरुषोंको कौन बांधे हुए है? इनमें कैसे गांठ लगी हुई है। अरे ये सब न्यारे-न्यारे हैं, मगर अपनी-अपनी इच्छायें बनाकर बन्धनमें पड़े हुए हैं। कोई किसीसे बंधा हुआ नहीं पड़ा है। इच्छाओंने ही बांध रक्खा है।

सुकौशल कुमार विरक्त हुए। लोगों ने बहुत समझाया, अरे राजकुमार अभी तुम्हारी कुमार अवस्था है। अभी कुछ वर्ष हुए शादी हुई है, स्त्रीके गर्भ है, उत्पन्न होने वाले पुत्रके लिए राजतिलक कर जावो, फिर बादमें चाहे चले जाना। कौशल कहते हैं। पिंड बचानेके लिए कि अच्छा जो गर्भमें है उसे मैं राज्यतिलक दिए देता हूँ। कौशलको बंधनेकी इच्छा न थी तो उनके कोई बन्धन न था। इच्छायें हैं तो बन्धन हैं। गृहस्थीमें क्या बन्धन हैं। अरे नहीं गृहस्थी में बन्धन कहां है? केवल इच्छाओं के कारण ही वे फंसे हुए हैं। हमें तो बाल बच्चों की फिक्र है, घर-द्वार कुटुम्ब-परिवार की फिक्र है, इसी से हम फंसे हुए हैं।

भैया ! अपन तो स्वतंत्र हैं परन्तु बाल बच्चों में मोह होने से ही अपने मोह से फंस गए हैं। यदि हम उनमें ही फंसे रहे तो क्या उम्मीद है कि हम इन बंधनों से निकल पायेंगे? जो जो व्यवस्था हम सोचे हुए हैं क्या इनको पूरा करके विश्राम पा लेंगे? देखो मेंढक इधर-उधर उछलेगा, कोई उधर उछलेगा। वे तोले नहीं जा सकते हैं। इसी तरह क्या अपने परिग्रह में रहकर अपनी व्यवस्था बना सकते हो? कितनी ही व्यवस्था बन जायगी तो फिर सामने कोई नई बात खड़ी हो जायगी। क्योंकि बात बाहर खड़ी नहीं होती, अन्दर में ही खड़ी होती है। सो वर्तमान अन्तर उपादान अयोग्य है ही। जब तक इच्छायें समाप्त नहीं होती तब तक बंधन रहेंगे।

भैया ! एक घटना सोचो कि बगीचे में एक चिड़ीमार जाल फैलाए हुए है। जाल के नीचे थोड़े से चावल या गेहूँ, के दाने डाल दिए हैं। अब चिड़िया आती है, उस जाल में फंस जाती है। देखने वाले दो चार लोग आपस में चर्चा करते हैं कि देखो चिड़ीमार ने चिड़ियों को फांस लिया। दूसरा बोला— नहीं, नहीं चिड़ियों को स्वयं जाल ने फांस लिया है। तीसरा बोला नहीं, नहीं, जाल ने चिड़ियों को नहीं फांसा है, चावल और गेहूँ के दानों ने चिड़ियों को फांस लिया है। चौथा बोला नहीं, नहीं, चिड़ियोंने स्वयं दाने चुगने की इच्छा की, इसलिए स्वयं ही वह बंधन में फंस गयी है।

प्रभु में और आत्मा में भेद कहाँ ? सब लोग चिल्लाते हैं कि प्रभु और आत्मा में भेद नहीं है। कहते ना कि आत्मा सो परमात्मा। भेद कुछ नहीं है। आत्मा है हम और परमात्मा है कोई निर्दोष, सर्वज्ञ, शुद्ध, ज्ञानी आत्मा। उसके स्वरूप में और इसके स्वरूप में कोई भेद नहीं है। इतना समझकर आगे इतना और समझ लो कि मेरे आत्मा में अनादि अनन्त अहेतुक नित्य प्रकाशमान सहज चैतन्यस्वरूप है, वह परमात्मतत्त्व है ऐसा मैं सहज परमात्मतत्त्वरूप हूँ। सारा मामला तैयार है, केवल इच्छाओं को निकाल दो, जिनसे कि बाह्य पदार्थों से कोई मतलब नहीं है। जो जैसा है तैसा ही है, किसी के करने से कुछ होता

सुख यहाँ द्वितीय भाग,

नहीं है। मेरे सोचने से बाहर कुछ नहीं होता है। सब अपने-अपने स्वरूप के धनी हैं, अपने-अपने सत् के स्वामी हैं। केवल ये व्यर्थ की इच्छायें उत्पन्न करते हैं और दुःखी होते हैं। रात दिन के कार्यों के अन्दर अपने को देखते जावो कि मेरे लिए लोग बन्धन हैं या काम बन्धन है या इच्छायें बन्धन हैं। इच्छायें न करो तो सुख है। अच्छा देखो शुद्ध किसे कहते हैं? शुद्ध उसे कहते हैं जो इच्छाओं का संयम लिए है अथवा इच्छायें रंचमात्र भी नहीं हैं। इच्छाओं के होने न होने पर ही सुख-दुःख निर्भर हैं। अन्य पदार्थों के संयोग में सुख नहीं है, दुःख ही है। संसार में दृष्टि पसार कर देखो तो सब दुःखी ही नजर आ रहे हैं, सबको कष्ट है और किसी को यहां कितना भी आराम मिले फिर भी यहां कष्ट ही है। जितने दीन को कष्ट है उतने ही धनी को भी कष्ट है। यद्यपि जितनी असुविधायें दीन को हैं धनी को नहीं हैं, फिर भी धनी को भी उतने ही कष्ट होते हैं, कहीं-कहीं उससे भी अधिक।

अरे सुविधाओं से सुख नहीं होते हैं और न सम्पदाओं से ही सुख होते हैं। इज्जत से भी सुख नहीं होता। इच्छायें यदि न रहें तो सुख होता है। तो कैसी भी परिस्थिति आ जाय, इच्छायें कर लिया तो दुःख हो गया। इच्छायें ही एक बन्धन है। इन शिशु बालकों को देखो कैसे आजादी से फिरते हैं, कोई फिक्र नहीं है। कैसे सुखी रहते हैं? पर भाई जैसे-जैसे अवस्था बढ़ती जाती है वैसे-वैसे इच्छायें भी बढ़ती जाती हैं और इच्छाओं के बढ़ने से दुःख भी बढ़ते जाते हैं। तो भाई दुःखों का कारण इच्छायें हैं। पर बड़ा कठिन प्रश्न है कि इच्छाओं को कैसे दूर किया जाय?

भैया! गृहस्थों के द्वारा भी इस बारे में दो काम तो किए भी जा सकते हैं। एक तो यह कि मैं आत्मा इच्छारहित हूँ, ज्ञानस्वभाव वाला हूँ, मेरा स्वभाव इच्छारहित रहने का है, मैं आत्मा ज्ञानमय हूँ, आनन्दको लिए हुए हूँ, मैं इच्छायें नहीं करता, इच्छायें न रखने से मेरा कुछ मिट नहीं जायगा, मेरा तो ज्ञानस्वभाव है, जानन ही मेरा काम है, मेरा जाननहार मैं ही हूँ, एक तो यह काम गृहस्थी में भी किया जा सकता है। पर इसे ज्ञानी गृहस्थ ही कर सकते हैं। यह केवल कहने की बात नहीं है। सत्य बात कही जा रही है, पर ऐसा किया जाने में कुछ अभ्यास होना चाहिए, ज्ञान दृष्टि होना चाहिए, संसार से मुक्ति की भावना होनी चाहिए। यदि ये बातें हो सकती हैं तो गृहस्थ एक तो यह काम कर सकता है। भैया! बात भी यही सही है— मेरा इच्छारहित स्वभाव है, जानन ही मेरा स्वभाव है। जानन अगर मिट गया तो मैं मिट जाऊंगा, इच्छायें अगर हो गयी तो मैं बरबाद हो जाऊंगा। इच्छाओं के मिट जाने से मैं मिट जाऊंगा, ऐसी बात नहीं है। इच्छाओं के मिटने से मैं नहीं मिटता बल्कि इच्छाओं के मिट जाने से मुझे आनंद है। ये इच्छायें मेरा स्वभाव नहीं, मैं तो स्वभाव मात्र हूँ, भीतर मैं एक ऐसा विश्वास लेवो। एक तो गृहस्थ यह कर सकता है, दूसरे यह कर सकता है कि इच्छा माफिक यदि काम नहीं है तो इससे नष्ट हो जाऊंगा यह शंका रंच भी न करे। अरे मैं तो वही सत् का सत् हूँ। यदि ऐसा होगा तो क्या, न होगा तो क्या यह दूसरी बात भी गृहस्थ कर सकता है। बाह्य की यदि इच्छा बन गयी तो क्लेश ही क्लेश हैं? ये इच्छायें ही बन्धन हैं। यदि मैं इच्छायें न रखूँ, ज्ञाता दृष्टा रहूँ, ज्ञानमात्र रहूँ तो मेरी हानि नहीं है। इच्छाओं से ही हानि है। मेरा पूरा इच्छाओं से नहीं पड़ेगा, इच्छाओं से तो मुझे दुःख ही

मिलेंगे। मेरा पूरा तो ज्ञानमात्र भावों से ही होगा। मैं जितना हूँ, स्वयं हूँ। इससे ही मेरी ठीक व्यवस्था बनेगी। इसलिये इच्छाओं को दूर करके ज्ञानमात्र रहकर मैं अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ।

देखो हाथी, मछली, भंवरा प्रत्येक जीव बन्धन में पड़ जाते हैं, जाल में बंध जाते हैं, शिकारियों के चंगुल में फंस जाते हैं। उनकी इच्छा नहीं होती तो वे बन्धनमें नहीं पड़ते। मनुष्य भी रंग ढंगसे चलते हैं, दूसरों से मनमानी अन्याय की प्रवृत्ति नहीं कर पाते तो इस संसारी व्यवस्था का निदान भी इच्छा है। इससे एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के बन्धन में पड़ जाता है। पुत्र की इच्छा है कि मैं ठीक रहूँ, मेरा बढ़िया गुजारा बने, मेरी उन्नति बने, ऐसी इच्छाओं के कारण ही वह पिता के साथ में रहना स्वीकार कर लेता है। यह मेरा बच्चा बुढ़ापे में काम आयगा, मेरी सहायता करेगा, इच्छाओं के कारण ही वह पुत्र से मिला हुआ चलता है। इसी प्रकार स्त्री की इच्छायें अपने पति के प्रति, पति की इच्छायें अपनी स्त्री के प्रति होती हैं, इस तरह से वे सब एक-दूसरे के बन्धन बन जाते हैं। नौकर अपने मालिक के प्रति तथा मालिक नौकर के प्रति बंधन में है। इसी प्रकार बड़ा छोटे के बन्धनमें है। तथा छोटे बड़े के बन्धन में है। इसलिये इच्छायें ही बन्धन हैं।

सीता जी अग्नि परीक्षा में सफल हो गयीं तो रामचंद्र जी विनयसंहिता खंडे हुए बोले देवी माफ करो, आपको बहुत कष्ट पहुंचा, चलो अब महल चलो। लक्ष्मणने भी हाथ जोड़े, और सब लोगों ने भी हाथ जोड़े। भला सोचो कि सीता जी ने मृत्यु से भेंट कराने वाली अग्नि परीक्षा के बाद क्या अपने मनमें इच्छा के भाव बनाए होंगे? क्या सीता जी के मोह की प्रवृत्ति हो सकेगी? नहीं। इसीसे तो सीताजी को वैराग्य उमड़ा, ज्ञान का विकास हुआ तो सीता जी के लिये कुछ भी अन्य बन्धन नहीं हुआ। विरक्त हो गयी, तपस्या में लग गयीं, जब तक इच्छायें थीं तब तक बन्धन था। इच्छायें खत्म हो गयीं तब उनका बन्धन भी खत्म हो गया।

अब घर में ही देखो लोगों की इच्छा नहीं रहती है इसलिये वे व्यावहारिक सम्बन्धी भी होकर जुदा हो जाते हैं, तलाक दे देते हैं। परमार्थ से तो जब इच्छायें नहीं हैं तब मोह के बन्धन भी हट जाते हैं हमको बांधने वाले कोई पदार्थ नहीं हैं। हम बाह्य पदार्थों को अच्छा या खराब करने की इच्छा करते हैं तो अपने आपको ही बेड़ियों में जकड़ते हैं, दुःखी होते हैं।

बड़े-बड़े रईस लोग आजकल भी अपने बच्चे-स्त्री-धन-वैभव इत्यादि को छोड़कर अलग हो जाते हैं, विरक्त हो जाते हैं, यह क्यों? यों कि इच्छा का बन्धन उनके नहीं रहा, इच्छा तक साम्राज्यों से लगाव था। इच्छाओं के समाप्त होते ही वे बड़े-बड़े साम्राज्य छोड़ देते हैं। कहते हैं कि फलाना आदमी मोहप्रवृत्ति से अलग हो गया। अरे अलग हो गया तो अपने को बंधन में बांधने की इच्छा नहीं थी इसलिए अलग हो गया। बन्धन तो इच्छा से हो जाते हैं। किसी को अपना मानना कि यह मेरा है, यह अमुक का है, यह फलाने का है इत्यादि ही तो विषयायें हैं। दूसरों से लातें घूसे मिला करते हैं पर कहते हैं कि मेरा है। परको अंगीकार करने से ही सुख-दुःख हो जाते हैं।

सुख यहाँ द्वितीय भाग

यह जीव किसी-किसी बात से मौज मानता है और किसी बात से दुःखी होता है। जिन चीजों से मौज मानता है उन चीजों के साथ-साथ दुःख ज्यादा आते हैं। रात दिन के २४ घंटे के अन्दर यह बताओ कि बहुत बढ़िया मौज कितने मिनट तक रहती है? रात दिनमें २, ३ मिनट के लिए मौज आ जाती होगी बाकी समय में कष्ट ही रहते हैं। कभी कोई बच्चा हो गया उसकी प्रवृत्ति को देखकर दो एक मिनट के लिए मौज हो गयी, बाकी समय में दुःख ही रहते हैं। दुकान पर बैठे हैं कोई ग्राहक आ गया तो सौदा पटने पर दो एक मिनट के लिए मौज आ गयी सौदा न पटा, ग्राहक चला गया तो फिर दुःखी हो गए और ग्राहक की अपेक्षा में तो पहले से भी दुःखी बैठे थे। मौज और दुःख में अन्तर देखो कि मौज तो राई के समान और दुःख पहाड़ के बराबर है और दुःखों को फिर देख लो दुःख तो सारे सांचे हैं मगर मौज जो दो मिनट का है झूठा है। मौज झूठा हो गया और दुःख सांचे हो गए। इन सबका क्या कारण है? देखो भाई क्षणिक मौज मानने से ही दुःखों से दब जाते हैं। इस मौज मानने का कारण इच्छायें ही हैं। इन इच्छाओं से ही दुःख हो जाते हैं। जैसे कोई कहे कि साहब अपनी दुःखों की कहानी सुनाओ। अच्छा सुनो, ५ मिनट तक सुनाया तो उसमें यही पावोगे कि इसकी इन विषयों में इच्छा है। उसका निर्णय करो कि उसमें अमुक की इच्छा है। उन सब इच्छाओं से दुःख होते हैं, क्लेश होते हैं।

सारी बातें ठीक हैं ना, सारी बातें समझ में आयी हैं ना। सारी बात समझ में क्या सिर पर ही तो आ रही हैं। भैया अब समझते हैं यह कि ऐसा कोई उपाय बन जाय कि सारी समस्याएँ समाप्त हो जावें। हम कहते हैं कि जिनमें मोह हैं, जिनमें इच्छायें हैं उनको सभी सुख नहीं हैं, न सफलता है इतना निश्चय तो कर ही लो। एक इच्छा न हो तो आनन्द ही आनन्द है। इच्छा मिटी फिर क्या है? तो ये इच्छायें मिटें कैसे? अरे इन इच्छाओं के मिटने की तरकीब है — जो शास्त्र पूजे जा रहे हैं, उनमें इच्छायें मिटाने की तरकीबें लिखी होती हैं, इसी से हम शास्त्र के पन्ने आदर से पलटते हैं, पूजते हैं, उनका मन्त्र करते हैं और यह भगवान् की मूर्ति मन्दिर में विराजमान है, परमात्मा अरहन्त जिनन्द्र की मूर्ति विराजमान है, उसकी उपासना उन्हें आदर्श मानकर ही तो करते हैं। इच्छायें प्रभु के समाप्त हैं। सो निरीह को पूज करके हम अपनी इच्छाओं को नष्ट करें। हम गुरुओं के सत्संग करते हैं, गुरुओं की उपासना करते हैं, उपासना करें क्योंकि इच्छाओं के मिटाने की तरकीब उनके सत्संग से मिलती है। जैसी इनकी वृत्ति है ऐसा बनाकर मैं प्रसन्न होऊंगा।

जिसके इच्छायें होती हैं और बाह्य से ही मौज किया करते हैं उन्हें क्लेश ही रहते हैं। देखो भाई जिसके पास आनन्द है उसके पास हम नहीं जाते हैं और जिसके पास आनन्द नहीं है उसके पास हम जाते हैं। जिनके पास जाने से अपने को क्लेश है उनके पास हम जाते हैं। जिसके पास जो है उसके पास जाकर उसे पाना चाहिए। दरिद्रता में दुःख है यह सोचकर जिनके दरिद्रता नहीं, ऐसे धनी के पास जाते हैं लोग, जिनसे उन्हें कुछ मौज मिलता है उनके पास जाते हैं। जो जानते हैं वे इच्छाओं से दुःखी हैं जिनको ये दुःख न हों उनके पास जाते हैं। इसी तरह इच्छाओं से दुःख है। परन्तु मोही दुनियाँ में चिपटते हैं और जिनके पास दुःख नहीं है उनके पास ये मोही नहीं जाते हैं। देखो जैसे मिल चल रहे

हैं खटपट खटपट। न पेंच पुरजों को चैन, न चलाने वालों को चैन। वैसी ही चीज यहां बन रही है। देखो इस हृदय मिल के अन्दर कैसी खटपट-खटपट हो रही है। एक इच्छा यह हुई उसके बाद दूसरी इच्छा। कभी किसी की वासना, कभी किसी का ख्याल, कभी किसी का उपयोग तो कभी कोई व्याकुलता। इस तरह से ही इच्छाओं की खटपटी से भरी यह वासना मशीन कैसी चला करती है? जितने दुःख होते हैं वे सब इन इच्छाओं के द्वारा ही होते हैं और इन अटपट इच्छाओं में पड़ने से क्लेश ही क्लेश रहेंगे।

भैया ! इन इच्छाओं को हटा दो। इनसे कोई मतलब नहीं निकलता। कुछ भी इच्छा करो उससे लाभ नहीं मिलने का है। इच्छाओं का पता भी नहीं अब क्या इच्छा उत्पन्न हो जाय। जैसे ऊंट का पता ही नहीं रहता कि वह किस करवट बैठे ? बैठते भी यह पता नहीं रहता कि वह किस तरफ को बैठ रहा है। पहले तो वह जरा सा झुकेगा फिर पैर लगाकर बैठ जाता है। जब वह बैठ जाता है किसी तरह से तो फिर पता लगता है कि ऊंट किस करवट से बैठा ? पुद्गलों का ऐसा अज्ञान मामला नहीं है। पुद्गलों के चाहे लट्ठ चलो चाहे तलवार, अटपट वहां कुछ नहीं होगा और मनुष्य की तरफ जरा देखो। इस मनुष्य का पता ही नहीं कि इसका एक मिनट में ही क्या दिमाग बदल जाय या कुछ समय बाद क्या बदले ? उसका कुछ पता नहीं रहता है। वह अपनी भूल के कारण ही गलतियां कर डालता है। इन गलतियों के कारण ही इच्छायें हो जाती हैं। इन इच्छाओं की गलतियों को अगर अपने से निकाल दें तो दुःख के बन्धन छूट जायेंगे। दुःख तो इच्छाओं से ही होते हैं। इच्छायें न हों केवल ज्ञातादृष्टा मात्र में होऊँ तो उस ज्ञान से ही मेरा पूरा पड़ेगा। इच्छाओं से मेरा पूरा नहीं पड़ेगा। देख-लो सब ठीक है, परन्तु कोई इच्छा हो गयी तो बैठे ही बैठे विपदाओं से दब गए।

जब बच्चे थे तब भी इच्छा इज्जत की थी। नीचे नहीं बैठते थे, गोद में ही बैठते थे। जब थोड़ा बड़े हुए तो यह लें, वह खा लें, यह खेलें आदि इच्छायें भी हुईं और तनिक बड़े हुए तो अन्य अनेक इच्छायें आ गयीं, पढ़ेंगे, परीक्षा देंगे, यह करेंगे, वह करेंगे आदि। तनिक और बड़े हुए तो शादी की, विवाह किया, पुत्र हुए। देखो अन्य अन्य ढंग की बातें हो रही हैं। तो इच्छाओं ने आराम नहीं लिया। इच्छायें मेरे मन में बहुत सवार हुईं इन इच्छाओं ने ही हमें बहुत सताया, फिर भी हम इनका आदर करते जा रहे हैं। अरे ये इच्छायें बेकार की हैं, व्यर्थ की हैं, इनसे कोई मतलब नहीं, कुछ प्रयोजन नहीं। भला सोचो तो सही इस शरीर का तो मरण होगा ही, इस शरीर की क्या दशा होगी ? खाक कर दिया जायगा, भस्म कर दिया जायगा। ३४३ घन राजू प्रमाण लोक में पता नहीं कि वह किस जगह जायगा? फिर उसके लिए कानपुर नहीं होगा। उसका हिन्दुस्तान नहीं होगा, उसका घर द्वार इत्यादि कुछ भी नहीं होगा। वह तो ज्ञानमात्र अपने-आपके स्वरूप में अगर विश्वास कर ले तो सुखी हो जावे। तो ऐसा ही अब जान लो कि मेरा कहीं कुछ नहीं है। जो कुछ भी हो धर्म कर लो तो उसका फल है। शरण कोई नहीं होगा। इसलिए मैं इस अपने ज्ञानमय आत्मा को देखूं और अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

ॐ शान्ति, ॐ शान्ति, ॐ शान्ति:

नाना चेष्टैः न मे लाभश्चेन्न चेष्टैः न मे क्षतिः।

ज्ञानमात्रैव चेष्टा मे स्यात् स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२२१॥

अर्थ— मैं नाना प्रकार चेष्टा करूँ तो मेरे लाभ नहीं, न चेष्टा करूँ तो मेरी हानि नहीं क्योंकि मेरी चेष्टा तो ज्ञानमात्र ही है अतः ज्ञानस्वरूप निज में निज के अर्थ स्वयं सुखी होऊँ।

कुछ भी चेष्टायें करने पर भी जैसे के तैसे ही खाली हाथ रहते हो। किसी भी प्रकार की चेष्टायें करो—दुकान की, घर की, सत्संग की, रहने की, पढ़ने की, सोसायटी की, समाज की सेवा की, रहोगे वैसे के वैसे खाली हाथ। इस आत्मा में कुछ भर जाता है, बन जाता है, बड़ा हो जाता है, क्या ? कुछ नहीं होता बल्कि उन चेष्टाओं से कुछ खाली हो जाता है। नाना प्रकार की चेष्टायें करो, मगर कुछ लाभ नहीं मिलेगा।

अगर मैं कुछ चेष्टायें न करूँ तो स्वच्छ बना रहूँ। चेष्टायें न करने से कोई हानि नहीं है। मेरी तो वास्तविक चेष्टा ज्ञानमात्र ही है। भीतर के स्वरूप को देखो तो यह केवल जाननहार एक आत्मा है। अपने आपके स्वरूप में घुला मिला है। मुझ आत्मा का काम केवल ज्ञानस्वरूप है, केवल जानन का काम है। इसके आगे और कोई काम नहीं है। इसके आगे अगर और कुछ करने का स्वरूप माना है तो धोखा है। यह तो जाननहार है, जानन ही इसका काम है। ऐसा मात्र ज्ञान मैं अपने को देखूँ। भीतर में यह प्रवृत्ति बन जाय कि मैं तो सबसे निराला, भिन्न तत्त्व हूँ। इसका किसी से सम्बन्ध नहीं है। किसी के कुछ करने से हो जाय या किसी को मैं कुछ कर दूँ ऐसी बात नहीं है। सब पूरे के पूरे हैं, परिणमनशील हैं। अपने आप में परिणमते रहते हैं। परिणमना ही तो इसका काम है। इसको कहते हैं कि 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' जो बन जाय, बिगड़ जाय और बना रहे वही तो सत् है। यह प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव है। मैं किसी को बना दूँ सो बात नहीं है। मैं किसी से बन जाऊँ यह भी बात नहीं है। मेरा स्वभाव ही नहीं है पर से बिगड़ना और बनना। यह उत्पाद व्यय ध्रौव्य की कला स्वयं प्रत्येक पदार्थ में है। दुनिया के लोग नहीं समझते हैं, सो उनकी यह बुद्धि बन जाती है कि ये चीजें बन जाती हैं तो कोई बनाने वाला अवश्य है उस बनाने वाले का नाम ब्रह्मा है। देखो कोई चीज बिगड़ी, खत्म हो गयी तो ऐसा करने वाले महेश हैं। ऐसा उत्पाद व्यय हो जाने पर भी कुछ रहा करता है उसका नाम विष्णु है।

भैया ! प्रत्येक पदार्थ त्रिगुणात्मक है। मोही जीव पदार्थों के स्वभाव तो देखता नहीं, अपने स्वरूप को तो समझता नहीं, केवल बाहर में ही देखकर कल्पनायें बनाकर कहता है कि मैं अमुक को बना दूँ, बिगाड़ दूँ, अमुक को कुछ कर दूँ अथवा मेरा कोई दूसरा ही बिगाड़ दे। इन शंकाओं से सदैव दुःखी रहता है। अरे मैं तो स्वच्छ हूँ, मेरा कोई कुछ नहीं कर सकता। उत्पादव्ययध्रौव्य में पड़ा हुआ मैं स्वयं अपने स्वरूप को जानता, देखता हूँ। मेरी जानन मात्र ही चेष्टा है, बाकी काम नहीं है। सो मैं अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा में रहकर अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

तत्त्वज्ञो जायते मूको लुब्धैस्त्यक्तमिदं छलात्।

शान्तिस्तु तत्त्वतस्तत्त्वे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२-२२॥

अर्थ- तत्व का जानने वाला मूक (गूंगा) हो जाता है इस छल से मानों विषय लोलुपी प्राणियों ने यह तत्व उपयोग से अलग कर दिया है परन्तु वास्तव में तत्व में ही शान्ति है इसलिए तत्ववान इस अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ।

यह अन्तर की बात, तत्व की बात इसको जो जानता है वह मूक हो जाता है। बोल नहीं सकता मौन हो जाता है। जैसे कोई किसी को कोई चीज समझावे और वह समझता है, पर ऐसा नहीं समझता है तो समझाने वाला बराबर समझता है, पर समझने वाले की समझ में नहीं आता है। जब समझने वाला यद्यपि जानता है सब पर बता नहीं पाता है या सुनने वाला समझ नहीं पाता है तो बोलने वाला टेबुल में हाथ मार कर यों ही रह जाता है, क्या समझाया जाय, बताया नहीं जा सकता है। अच्छा मिश्री तो सबने खायी होगी। कोई भाई खड़े होकर मिश्री के स्वाद का वर्णन कर दें। अरे भई आप जान रहे हैं मिश्री के स्वभाव को, पर बताते कोई नहीं हैं। जानते सब हैं, पर बता कोई नहीं सकता। अगर कोई कहे कि उसका स्वाद मीठा होता है तो उत्तर में यह आता है, क्या रसगुल्ले, पेड़े, बर्फी इत्यादि का स्वाद जैसा होता है। जानते सब हैं पर वर्णन कोई नहीं कर सकता है। ज्ञानस्वरूप कैसा है कोई बतावेगा ?

जो तत्व का जानने वाला है वह मूक हो जाता है ठीक है। जो तत्वज्ञ है वह वचन-व्यवहार में क्यों पड़ेगा ? परन्तु मोही जीवों ने मानो एक छल पकड़ लिया कि जिस तत्व के जानने में गूंगा हो जाता है उस तत्व से हमें क्या प्रयोजन ? २०-२५ वर्ष पहले धर्म पढ़ने का रिवाज था। लड़के विद्यालय में संस्कृत पढ़ने के लिए जाते थे। घर में मां बाप कहते कि अरे देखो संस्कृत पढ़ने से कोई पंडित हो गया, कोई घर छोड़कर चल दिया, तो ऐसा पढ़ाने से क्या लाभ ? लड़के को न पढ़ावें, नहीं तो हाथ से ही चला जायगा। संस्कृत पढ़ाने से कोई फायदा नहीं है, ऐसा मां-बाप लड़कों के प्रति सोचते थे। अरे मर्म के तत्व को जिसने समझ लिया वह अगर घर से चला जाय तो उसे उत्सव मनाकर भेजो। जो ज्ञानी ध्यानी निर्णय कर रहा है कि यह तो अपने आपका कल्याण करता है और दूसरों का भी कल्याण करता है, तो उसका गौरव होना चाहिए। मान लिया कि आपने दुकान कर ली, बहुत सा साम्राज्य कर लिया तो उससे क्या होगा, बतलाओ। अरे ये तो विकल्प सर्वसाधारण के हैं ही। अगर जीव का उद्धार हो जाय तो खुशी होनी चाहिए।

भैया ! देखो- यह मूर्ख पुरुष छल करता है कि मेरे को उस तत्व से क्या लाभ होगा ? अरे भाई ऐसे तत्व में, उपयोग में ही शान्ति है, बाहर में शान्ति नहीं है। बाहरी कामों में तो अशान्ति ही अशान्ति है। अपने उपयोग में लगने से शान्ति ही रहेगी। अशान्ति का कोई काम नहीं है। क्या आप बतला सकते हैं कि किसमें शान्ति है ? शान्ति क्या सर्विस में है ? क्या दुकान में है, क्या दुनिया के और कामों में है ? अरे शान्ति कहीं नहीं है। केवल अपने आपके स्वरूप को देखो तो वहां पर शान्ति ही शान्ति मिलेगी।

वहाँ अशान्ति का नाम नहीं है। अशान्ति कितने प्रकार की होती है? एक-एक आदमी में कम से कम एक-एक हजार अशान्ति होंगी। एक आदमी में इतने प्रकार की अशान्तियाँ हैं तो दूसरों में भी ऐसी नाना अशान्ति हैं। ये अशान्तियाँ भी एक दूसरे से मिलती नहीं इनको और तरह की अशान्ति, इनको और तरह की अशान्ति। कितनी तरह की अशान्तियाँ हैं, कोई हद नहीं है। मगर शान्ति का जो रूप होता है वह केवल एक है और अशान्ति के रूप करोड़ों हैं। शान्ति अगर मिले तो उसका केवल एक ढंग है। अगर मान लिया इन लौकिक मौजों में कि हमें शान्ति मिली तो वह शान्ति नहीं हुई। शान्ति तो केवल एक प्रकार की है। तो यह तत्व जो अपने आप में विराजमान है उस ओर दृष्टि हो तो शान्ति है। तो ऐसे तत्व को जानकर मैं अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

तत्त्वज्ञ आलसी भूतो लुब्धैस्त्यक्तमिदं छलात् ।

नैष्कर्म्य एव शान्तिस्तु स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२-२३॥

अर्थ- तत्व का जानने वाला आलसी हो जाता है इस छल से मानों विषय लोलुपी प्राणियों ने यह तत्व उपयोग से अलग कर दिया है परन्तु शान्ति नैष्कर्म्य अवस्था में ही है अतः नैष्कर्म्य रूप अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

ओह, एक मनुष्य बोल रहा है कि उस तत्व के जानने से क्या फायदा ? जिस तत्व के जानने से ज्ञानी आलसी हो जाता है, तत्व को जानने वाला आलसी होता है, ऐसा आलसी होता है कि पलक गिराने में भी आलस्य आता है। आँखों के पलक अगर गिरे तो उठाने को आलस्य आया है। और की बात तो दूर रही, जिनको योगी कहते हैं उनकी भी अगर पलक गिर जाती है तो उठाने में आलस्य होता है। और अगर नजर उठी तो पलकें बन्द करने में आलस्य है याने बाह्य में दृष्टि नहीं करता। ऐसे तत्व को जानने का हमें क्या प्रयोजन है ? और ज्यादा बढ़ें तो ऐसे प्रश्न हो जाते हैं कि हम भी मुक्त हो गए तो दुनिया कैसे चलेगी ? दुनिया के क्या हाल होंगे ? अरे ऐसे सब कहाँ बन जायेंगे ? सब तो नहीं बनेंगे मगर अनन्ते बन जावेंगे। अनन्ते बनने पर भी अनन्तानन्त ही रहेंगे। अगर बाह्य में ही दृष्टि गयी तो वहाँ शान्ति नहीं मिलेगी।

भैया ! शान्ति तो वहाँ है जहाँ बाहर में दृष्टि न हो। कुछ मत सोचो, कुछ मत बोलो, कुछ मत करो। देखिए कल्पना, जल्पना, चलपना क्या हैं ? कल्पनाओं के सम्बन्ध मन से होते हैं, जल्पना का सम्बन्ध वचनों से होता है जिससे जल्प वृत्त्य बने और चलपना उठकर चल दे यह चलपना हुई। न कोई चलपना हो, न कोई जल्पना हो, न कोई कल्पना हो, केवल स्वरूप का ही परिग्रह ही, तत्त्वज्ञान की प्रवृत्ति बढ़े, शान्ति तो वहाँ है। लोग कहते हैं कि उस तत्व के जानने से क्या फायदा जिसको जानकर आलसी हो जाते हैं। भैया ! शान्ति तो उस निर्विकल्पतत्व में ही है। मैं अपने ही तत्व को निरखकर उसमें ही उपयोग देकर अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

मनो मे न स्वभावोऽहं मनः कार्यं न तत्फलम्।

औपाधिकमस्तत्वेऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२-२४॥

अर्थ— मन मेरा स्वभाव नहीं और मैं मनका कार्य भी नहीं अथवा मन का फल भी नहीं, मन तो औपाधिक है और वह निज में किसी गुणादि रूप नहीं अतः उपाधि रहित अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

मन मेरा स्वभाव नहीं, मेरी वस्तु नहीं, मैं तो मैं ही हूँ। मेरे स्वरूप का मुझे पता न हो, यह कैसी अनहोनी बात है ?

एक राजा था। घोड़े पर चढ़ा जा रहा था। दीवान के घर पर से निकला। दीवान बुद्धिमान था। राजा बोला — दीवान ! मुझे यह समझा दो कि आत्मा क्या चीज है और परमात्मा क्या चीज है ? जो प्रसन्न होता है वह बड़ी बातें करता है। राजा भी प्रसन्न थे, घोड़े पर बैठे हुए दीवान से बातें कर रहे थे। बड़े आदमी प्रायः जब प्रसन्न होते हैं तो बहुत बोलते हैं। राजा बोला — जल्दी समझा दो कि आत्मा क्या चीज है और परमात्मा क्या है ? दीवान बोला — अच्छा, समझा दूँगा। राजा बोला — नहीं, ५ मिनट में ही समझा दो। दीवान बोला — राजन् माफ करो तो मैं ५ मिनट में नहीं आधा मिनट में ही समझा दूँगा कि आत्मा क्या है और परमात्मा क्या है ? सो राजा का कोड़ा उठाया और ४-६ कोड़े राजा के जमा दिए। राजा बोले — अरे भगवान्, अरे भगवान् ! दीवान बोला — जिसको तुम अरे अरे कहते हो वह है आत्मा और जिसको भगवान् कहते हो वह है परमात्मा।

हे आत्मन्, अपने से बाहर न जाओ, अपने से बाहर दुःख हैं। खुद के जानने में ही सुख है। सबको मानो कि भगवान् सबमें है। अत्यन्त यथार्थ रूप में आत्मा है। यदि उस अपने यथार्थ रूप को देखो तो तुम्हारा परमात्मा तुम्हारे सामने है।

यत्रैव भाति रागादि सोऽहं रागादि नैव हि।

रागादौ निर्ममस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२-२५॥

अर्थ— राग आदि भाव जहाँ प्रतिभासमान होता है वह तो मैं हूँ परन्तु रागादि मैं नहीं हूँ इसलिये राग आदि भावों में ममता रहित होता हुआ अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

जहाँ यह रागादिक प्रतिभासित हों वह तो मैं हूँ, किन्तु रागादिक मैं नहीं हूँ। मैं तो एक ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व हूँ। इस ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का जब नयों से हल न हो सका तो एक-एक एकान्त दर्शन बन गया। सब प्रकार से देखने पर आत्मतत्त्व का सही ज्ञान हो सकता है कि मैं आत्मतत्त्व यह हूँ, निज उपादान वाला हूँ, किन्तु माने यह कि मैं अमुक के कारण सुखी हूँ तो इसी को कहते हैं निमित्तदृष्टि और जो दृष्टि अपने आपके लिए अपनी जुम्मेदारी लिए हुए होती है इसी को कहते हैं उपादान की दृष्टि।

एक पुस्तक है, उसमें एक गधे की कहानी लिखी है। मैंने बचपन में ही उसे पढ़ा था। अब चाहे दूसरा एडीशन तैयार हुआ हो या नहीं, उस कहानी की पुस्तक में बहुत सी शिक्षायें थीं। एक उपकहानी

यह है कि एक धोबी के पास एक गधा था और एक कुतिया थी। कुतिया के बच्चे २०, २५ दिन के हो गए। धोबी कुतिया के बच्चों को उठा भी लेता था, प्यार भी करता था। वे पिल्ले अपने पंजे मारकर धोबी को प्रसन्न करते थे। कभी मुंह में धोबी के हाथ पैरों को भर लेते थे। वह धोबी उस कुतिया के बच्चों से बहुत प्यार करता था। गधे ने यह देखा कि धोबी कुतिया के बच्चों से तो प्यार करता है जो बिल्कुल काम नहीं करते हैं और हम तो बहुत काम करते हैं फिर भी हमसे प्यार नहीं करता है। उसने इस बात को सोचा कि आखिर हमसे प्यार क्यों नहीं करता है? सोचा तो गधे ने समझ लिया कि पिल्ले धोबी को लातें मारते हैं और दांतों से काटते हैं इस वजह से वह उनसे प्यार करता है। चलो ऐसा हम भी करते हैं तो हमसे भी मालिक प्यार करेगा। गधा अपने स्थान से चला और धोबी के पास पहुंच गया। सोचा कि लातें मारें तो शायद मालिक खुश होगा सो यह सोचकर खूब लातें मारने लगा, खूब दांतों से चबाने लगा। अब धोबी ने डंडा उठाया और पीटना शुरू किया। उस गधे ने सोचा कि अरे पिल्ले तो जब लातें मारते हैं तब प्यार करता है और हम जब लातें मारते हैं तब हमें पीटता है।

तो भाई सबकी बातें न्यारी-न्यारी हैं, उपादान न्यारे-न्यारे हैं। कोई जीव किसी तरह की पीड़ाओं में रहकर शांत हो सकता है तो कोई अशान्त हो सकता है। इसकी परख बाहरी बातों में नहीं होती, भीतर तत्व में होती है। ऐसा उपादान तत्व अगर समझ में आ गया तो सब कुछ ठीक है और जिसकी समझ में न आया तो मोह होगा। जैसे कोई नाव से नदी में जावे, कभी इस दिशा में कभी उस दिशा में तो लक्ष्य बिना भटकता ही रहता है। उसी तरह इस जगत के जीव, जिनका कोई शुद्ध लक्ष्य नहीं है वे भटकते ही रहेंगे। इतना धन चाहिए, इतनी इज्जत चाहिए, बाल- बच्चे चाहियें। अरे ये सब क्या हैं? वे भी बूढ़े होंगे और मरेंगे। क्या ज्ञानस्वरूप यह आत्मा यहां से निकलकर नहीं जायगा? यहां कौनसी चीज सारभूत है, जिसमें गड़े हुए हैं। सारी चीजें छोड़कर जाना पड़ेगा, यहां कुछ रहता नहीं है।

एक सेठ था, उसके चार लड़के थे। अपनी चाबी किसी को वह सेठ देता नहीं था। अपने पेट में चाबी को बांधकर वह सेठ रखता था। किसी बच्चे पर वह विश्वास नहीं करता था। सेठ जब खत्म होने लगा, गुजरने लगा तो बच्चों से बोला बच्चो ! लो चाबी ले लो ? बच्चे कहते हैं कि नहीं पिता जी, चाबी हमें नहीं चाहिए, आप अपने साथ में लेते जाइए।

शांति का मार्ग प्राप्त कर लें, ऐसी कोई चीज दुनिया में है क्या? बाहरी बात कुछ भी हो उसमें तो असंतोष न करो। अरे भोजन करते हैं तो पूछते हैं कि क्या बना दें? तब पुरुष उत्तर देता है कि कुछ भी बना दो। उड़द की दाल बनाओ, चाहे मूंग की बनाओ, चाहे मसूर की बनाओ, चाहे चने की बनाओ, चाहे अरहर की बनाओ, जो होगा सो खा लेंगे।

भाई ! जैसे खाने में संतोष है उसी तरह यदि बाहरी व्यवस्थाओं से संतोष हो तो ठीक है। संतोष तो अंत में सब करते ही हैं। कोई गुजर जाता है तो कहते हैं कि इतनी ही अवस्था थी। यदि भेदज्ञान से संतोष करें तो लाभ है। ४-६ हजार का टोटा पड़ जाय तो वहां यों संतोष करते हैं कि हमने तो

किसी से कर्जा लिया था सो-चुक गया। अरे धन आए तो क्या न आए तो क्या ? वह सब तो सर्वथा भिन्न है। इस भेदज्ञान से ही संतोष करें तो ठीक है। उसमें भेद तो रहता है, जबरदस्ती में क्या है ? भैया ! बात तो भेदविज्ञान की ही एक पक्की है और वही रोज-रोज चल रही है। अब कुछ भाइयों की मर्जी है कि भक्तामर स्तोत्र का अर्थ एक हफ्ता चले। ठीक है, चलेगा, किन्तु भैया, बात पक्की भेदज्ञान की ही है। एक कथा याद आ गयी।

एक रंगरेज था। बहुत बढ़िया पगड़ी रंगता था। आसमानी, लाल रंग की पगड़ी रंगना बहुत बढ़िया जानता था। कोई उससे आकर बोलता कि हमारी पगड़ी हरी रंग दो, कोई बोलता कि सुनहरी रंग दो इत्यादि। रंगरेज सब पगड़ी रख लेता है और कहता है कि अच्छी रंग तो देंगे, किन्तु रंग आसमानी ही ठीक खिलेगा। सो भाई कुछ भी पढ़ लो आनन्द तो भेद विज्ञान से ही मिलेगा। चमत्कार तो तभी बनेगा जब ज्ञानस्वभाव के विकास की पूंजी हो। सो मैं अपने आप में स्वयंनिधि रूप हूँ, ज्ञानानन्द धन हूँ अथवा शरण हूँ। अगर यह समझ में आ जाए तो मेरा भविष्य सफल है।

अन्यथानुपपत्तेः स्याद्रागादेः कर्म कर्तुं हि।

तत्कर्मव्याहतिर्ज्ञातो स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२-२६॥

अर्थ— अन्यथा अर्थात् अभाव में न होने से कर्म (क्रिया) रागादि का कर्ता होओ परन्तु निश्चय से निज क्रिया जो ज्ञप्ति है उसमें उस क्रिया का अभाव है इसलिये मैं ज्ञप्ति मान इस अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

ऐसी दृष्टि बनाकर कि कोई समय आयगा जबकि यह मैं आत्मा इस शरीर से न्यारा होकर चला जाऊंगा। उस शरीर की क्या स्थिति होगी ? मिल जुलकर यह मित्र मण्डल इसे खाक कर देगा। इस शरीर से जीव निकला उस समय क्या स्थिति होगी ? ज्ञान ज्योतिमात्र यह आत्मा इस स्थूल शरीर से रहित होगी। उस समय तो यह शरीर छूट गया, दूसरा शरीर मिला नहीं तो जो बीच के क्षण हैं वे क्षण किस प्रकार के होवेंगे ? एक ज्ञानानन्दधन का पिंड जैसा उस समय में परिणमता है वैसा ही परिणमता हुआ होऊंगा। एक भावस्वरूप पदार्थ होऊंगा। ऐसा भाव पदार्थ रूप मैं शरीर में हूँ, अब भी हूँ, दूसरे शरीर में जब जाऊंगा तब भी मैं भावस्वरूप पदार्थ ही रहूंगा। शरीर में रहकर भी मैं शरीर से न्यारा हूँ। मुझमें जो परिणमन तत्त्व है वह भी चित्स्वभाव मात्र मुझसे न्यारा ही स्वरूप रूप रहेगा। उन परिणम तत्वों की याने रागद्वेष की छाया न हो, शुद्ध ज्ञानमात्र सबसे न्यारा मैं होऊँ।

ये रागादिक ऐसे कैसे हो गए हैं ? मुझमें स्वभाव से ही ये रागादिक नहीं हैं। मेरा स्वभाव तो रागादिक करने का नहीं, केवल जानन का है। जैसे पानी का स्वभाव बहने का है याने द्रवता का है, पर ठंडा होने व गर्म होने का नहीं है। ठंडा करने से पानी ठंडा हो जाता है और गर्म करने से पानी गर्म हो जाता है। पर पानी सर्वत्र द्रव ही है, बहने वाला है। पानी अपने स्वभाव से न तो गर्म ही होगा और न ठंडा ही होगा। पानी तो कूलर या ठंडा करने वाली मशीन से ठंडा होगा, और अग्नि के द्वारा गर्म होगा। ऐसी स्थिति में भी पानी द्रव है, बहने वाला है। इसी तरह यह आत्मा चाहे क्रोध परिणमन में रहे, चाहे

लोभपरिणमन में रहे, चाहे विषयकषाय रूप परिणमता रहे, पर अपने ज्ञानस्वभाव को नहीं छोड़ता । केवल जानने के स्वभाव में रहता है। इसी कारण विषयकषाय यद्यपि आ जाते हैं तो भी जानन रहता है। तो जानने वाला नहीं है उसमें विषयकषाय के परिणमन नहीं आते। ये विषयकषाय मेरे स्वभाव से नहीं आ रहे हैं बल्कि उपाधि पाकर आ रहे हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि हो जाते हैं तो उनका भी करने वाला मैं नहीं हूँ।

जैसे एक दर्पण सामने है। दर्पण का स्वभाव तो केवल स्वच्छता है, केवल झलक है, झिलमिलाते रहने का स्वभाव है। अपनी चमक बनी रहे यही उसका काम है। जो चीज सामने लाकर रखो तो उसकी छाया दर्पण में सही-सही पड़ती है। दर्पण में ही प्रतिबिम्ब पड़ जाता है। अगर मुक्का बनाओ तो मुक्का ही दर्पण में दिखाई देगा। इसी तरह होठ तो होठों का प्रतिबिम्ब भी सामने आ जायगा। आंखें तिरछी बनाओ तो आंखों का प्रतिबिम्ब सामने आयगा। दर्पण क्या करे ?

इसी तरह क्या तेरी आधीनता की बात है कि क्रोध कर ले, मद कर ले। मैं अपनी आधीनता से यह कुछ नहीं कर पाता हूँ किन्तु जैसी उपाधि सामने आती है वैसा कर डालते हैं। इसी तरह दर्पण का परिणमन केवल शुद्ध स्वच्छ है। आत्मा के परिणमन में राग द्वेष नहीं, विषयकषाय नहीं केवल शुद्ध, स्वच्छ एवं ज्ञानस्वरूप है। हे आत्मन्! मलीन बनने का तेरा काम है क्या ? आत्मा का उत्तर है कि मेरा काम नहीं। मेरा काम तो प्रभु की तरह शुद्ध ज्ञान में परिणमते रहने का है, पर क्या करूँ ? जब यह उपाधि का उदय होता है तब खुद की अशुद्ध योग्यता में यह मैं परिणम जाता हूँ। अशुद्ध विकारमय, रागादिक, क्रोधादिक हैं तो मैं इनको करता नहीं हूँ, इनके करने वाले तो कोई दूसरे ही हैं। इस बुद्धि से अपने को ज्ञानस्वरूप की ओर ले जाया जाता है, इसका कर्त्ता तो कर्म है, मैं तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप ही हूँ मैं तो जाननस्वरूप हूँ। मेरे में रागादिक भाव नहीं। विपरीत परिणमन में बड़ी विचित्रतायें हैं। उनका कर्त्ता कर्म है। प्रकृति कहो या कर्म कहो। जैन सिद्धान्त में प्रकृति भी कहते हैं और कर्म भी कहते हैं। अपने को शुद्ध स्वभाव की ओर ले जाने वाली इस दृष्टि में कितना आराम मिलता है? विषय कषाय होते हैं वे कर्म के उदय से होते हैं। यह मेरा काम नहीं है। मेरा काम तो ज्ञानस्वरूप मात्र होने का है, जानन का है। जिनमें मेरा अधिकार नहीं उन्हें मैं अंगीकार नहीं करता। ये रागादिक होते हैं होने दो, इन्हें होकर मिटने दो। इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। उन बाहरी विषयों का, वस्तुओं का, ज्ञान तो हो जाना मेरा काम है पर विकल्प मेरा काम नहीं। जब अपने को ज्ञानमात्र का अनुभव होगा तो ये रागादिक कर्म नष्ट हो जावेंगे। सो मैं ज्ञानमात्र अपने स्वरूप को देखूँ और अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

जागृतिः शयनं पानमत्तिर्वाग्दर्शनं श्रुतिः।

ज्ञप्तिक्रियस्य किंकृत्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२-२७॥

अर्थ- ज्ञप्ति ही है क्रिया जिसकी ऐसे मुझ आत्मा के जागरण शयन पान भोजन वचन दर्शन श्रवण आदि क्या कृत्य हैं ? नहीं तब, फिर मैं तो अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

कहते हैं कि मेरा काम तो जानन है, मैं कितना क्या हूँ, अपने को देखने से ही पता पड़ेगा, मैं तो जानन मात्र हूँ। ये विकल्प की तरंगें उपाधि के कारण आती हैं। मेरा काम विकल्प करना नहीं है। जगत् के जीव तो विकल्पों के कारण हैं उनसे मेरा क्या ताल्लुक है। मैं तो ज्ञानमात्र हूँ जानन मात्र रहना ही मेरा काम है। बिगड़ रहे हैं। ये रागादिक उठते हैं तो उठें। उनसे मेरा क्या काम है, जानन ही मेरा काम है। मुझ आत्मा में न जागरण है। न सोना है, न वचन बोलना है, न खाना है, न पीना है। मेरा काम तो यह है कि मैं जानन मात्र हूँ, ज्ञातादृष्टा हूँ। कर्ता भोक्तापन की ख्याति तो दंड के लिए है। उसका चाव करना तो विपत्ति है।

जैसे कभी स्कूल में बच्चे से कोई काम बिगड़ जाय तो उस बिगाड़ने वाले बच्चे का पता लगाने के लिए मास्टर उस काम की प्रशंसा करता है। मास्टर यह कहता है कि वाह यह तो बड़ा अच्छा काम किया है, बड़ी बुद्धिमानी का काम किया है। इतना सुनते ही जिस बच्चे ने काम बिगाड़ दिया है वह झट्ट कह देगा कि मास्टर साहब मैंने यह काम किया है। मास्टर तो केवल यह जानना चाहता था कि किस लड़के ने काम बिगाड़ा, इसलिए प्रशंसा करता था पर बच्चों ने समझ लिया कि मेरी तारीफ मास्टर कर रहा है, सो भ्रम में आकर बच्चा अपराधी हो जाता है।

इसी तरह से जगत् के जीव मास्टर बने रहते हैं, प्रशंसा दूसरों की किया करते हैं। जैसे वाह, यह तो बड़ी बुद्धिमानी का काम है, यह तो बड़ा ही सुन्दर काम है, यह भी बड़ा ही सुन्दर काम है आदि। यह पता नहीं है कि प्रशंसा के फल में मेरे को विपदा ही आवेगी। बाल बच्चों को पढ़ा लिखा दिया। अरे उन बच्चों के जीवनभर दास बने रहे, उनकी सेवा की, उनको खिलाया, पिलाया, उनका क्या किया? अरे वे तो स्वयं ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व है। केवल जानन ही उनका काम है। जगत् के दस बीस हजार आदमियों के बीच में जरा अच्छा सुन लिया तो क्या इज्जत बढ़ गयी? यदि यहाँ न रहते, अन्यत्र कहीं रहते तो यह समागम मेरे को क्या था? अगर कहीं कीड़े-मकोड़े होते, पेड़ वनस्पति होते या अन्य किसी पर्याय होते तो इस ढंग का ख्याल भी आता? अरे मनुष्य हो गये तो अपने को समझो कि अपने कार्य के लिए पैदा हुए हैं। हम दूसरों की दिखावट के लिए बनावट के लिए तथा सजावट के लिए नहीं पैदा हैं। हम कहीं अन्यत्र पैदा हो गए हों तो ऐसा तो नहीं है। यह मैं किसी भी क्षण अपने विकल्पों को छोड़कर अगर काम करूँ तो अपने आप में आनन्दमग्न हो सकता हूँ। यदि मैं विकल्परहित होकर कार्य करता हूँ तो ठीक है, नहीं तो सब दुर्दशा हो जायगी। इस जगत् में कोई किसी का मोह करता, कोई किसी का मोह करता पर मोही प्रायः सभी हैं। इसी कारण दुःखी भी सभी हैं। देखो थोड़ा ही ज्ञान हो, पर सही ज्ञान हो तो ठीक है। पर हो तो बहुत ज्ञान किन्तु आत्मा में विवेक न हो तो ठीक नहीं है। उल्टा ज्ञान हो तो विकार है। थोड़ा ज्ञान हो, पर सही ज्ञान हो तो सबसे न्यारा, ज्ञानमात्र अपने आपमें समझ रहती है। बहुत से शास्त्रों का ज्ञान-हो, तीन लोक की रचनाओं का ज्ञान हो, बहुत ज्ञान हो पर विचार उल्टा हो, विवेक साथ न हो तो सही ज्ञान नहीं है।

एक बुढ़िया के दो लड़के थे। दुर्भाग्य से उन दोनों लड़कों की आंखों में रोग था। एक को कुछ

कम दीखता था और एक को ज्यादा दीखता था पर पीला दीखता था। दोनों बच्चों को बुढ़िया वैद्य के पास ले गयी। वैद्य ने दोनों की एक ही दवा की। कोई सफेद सफेद भस्म सी थी। कहा कि चांदीके गिलास में गाय के दूध में इस पुड़िया को इतनी-इतनी खुराक दवा मिला कर देना। दोनों ही ठीक हो जावेंगे। बुढ़िया दवा लेकर गयी। दोनों को चांदी के गिलास में गाय के दूध में भस्म हो डालकर देने लगी। पहले उस लड़के को दिया जिसको पीला दीखता था। लड़के ने कहा— मां, 'क्या हम ही तुम्हारे दुश्मन हैं? इस पीतल के गिलास में जहर डालकर हमें दे रही हो। हम तो नहीं पीवेंगे। अब उस लड़के को दिया जिसे कम दीखता था। उसने देखा कि चांदी का गिलास है, दूध है, भस्म पड़ी हुई है। उसने उस दवा को पी लिया। उस दवा के पी लेने से ही आंखों का रोग दूर हो गया। जो ज्यादा देखता था, ५० हाथ, १०० हाथ दूर तक देखता था, उसकी उल्टी दृष्टि थी इसलिए दवा नहीं पी और उसका भला नहीं हुआ।

जिसका ज्ञान ज्यादा है मगर प्रयोग व उपयोग उल्टा है तो भला नहीं होगा। मेरा भला तो निजी आत्मा के अनुभव से होता है। जो सही ज्ञान है, जो ज्ञान ज्यादा है पर सही नहीं है तो उससे भला नहीं हो सकेगा। जिसकी अपनी दृष्टि होती है, अपने चरित्ररूप परिणमन की दृष्टि होती है वह ही दृष्टि सही मानी जाती है। ज्ञानी पुरुष यह सोचता है कि जानन ही मेरा काम है। सोने, उठने, बोलने इत्यादि का मेरा काम नहीं है। ये मेरा काम सर्वत्र जानन ही जानन है। केवल जानन ही इस मुझ आत्मा का काम है। मैं करूंगा क्या? अरे इस आत्मस्वरूप को उपयोग में घोल लो। इसको देख लो। देखोगे कि यह आत्मा तो केवल जानन का ही काम कर रहा है। जानन सबमें रहता है। केवल जानन ही मेरा काम है। मैं सब ओर से जानता हूँ। सर्वत्र ऐसी ही पद्धति जाननस्वरूप की है।

ससुराल जाने वाली बहुत सी लड़कियां हंसी-खुशी से जाती हैं। मगर रोना पड़ता है। भीतर से तो यह होता है कि घर ठीक करना है, श्रृंगार करना है, यह करना है, वह करना है, कुछ खुशी होती है। मगर यह जानती है कि रोना चाहिए, यही ठीक है। इसी तरह दुकानदार का मुनीम ग्राहकों से ये बात करता है कि तुम पर मेरा इतना दाम गया है। इस तरह मेरा भी कह रहा है, परन्तु श्रद्धा यह है कि मेरा कुछ नहीं है, यह सब सेठ का है। अरे मेरा यह काम नहीं, मेरी यह झूटी नहीं। यह तो सेठ का काम है। और भी देखो विवाह इत्यादि में पड़ोस की स्त्रियां बाजा बजाने के लिए आ जाती हैं। गाने गाती हैं, मेरे बना सरदार, राम जैसी जोड़ी आदि सो तो ठीक है। अगर कहीं दूल्हा की घोड़े से गिरकर टांग टूट जाय तो, उनको कोई दर्द नहीं होगा और अगर मां को पता लग जाय तो वह कितना दुःख करती है? उसके दुःख का ठिकाना नहीं रहता है।

सो भैया अगर परपदार्थों को मान लें कि मेरे हैं तो तो दुःख होगा और अगर यह समझ में आ जाय कि मेरे नहीं हैं तो दुःख न होगा। मेरा काम केवल जाननमात्र है। ऐसे जाननमात्र स्वरूप वाले आत्मा का काम ही केवल जानन है। हे प्रभो, मैं जानन के काम में ही संतोष पाऊं और अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

संकल्पेऽजनि संसारो ज्ञाने नश्यति कल्पितः।

निर्विकल्पे रतो भूत्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२-२८॥

अर्थ— संकल्प में ही संसार पैदा हुआ और कल्पित वह संसार, ज्ञान होते ही नष्ट हो जाता है इसलिये निर्विकल्प स्वरूप ज्ञान में रत होकर मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

अहा हा, यह सारी दुनिया, यह मेरा सारा संसार संकल्प में ही उत्पन्न हो गया व कल्पना मिटते ही नष्ट हो गया। यह मेरा है क्या? संसार केवल कल्पनाओं रूप ही बना हुआ है। कल्पनाओं से ही यह उत्पन्न हुआ और यहां से मरकर अकेले ही चला जायगा। मैं इस शरीर में हूँ यह मेरा है, यह उसका है, इस संकल्प में ही मैं संसारी बन गया हूँ। केवल संकल्प ही हो गए हैं। यह मेरा मकान है, यह मेरा परिवार है आदि। जब ये जुदा हो जावें तो फिर दुनिया भर को पता चल जाय। ज्ञानस्वरूप आत्मा इस देह से निकल जाता है। यह तो सबसे न्यारा है, पर महसूस करता है कि मेरा है, यही तो संकल्प है। यह सारा संसार संकल्पों में ही बैठा हुआ है। अरे सारे संस्कार ज्ञान होने से ही नष्ट हो जावेंगे।

एक बुढ़िया का छोटा बेटा मर गया। उसी छोटे बेटे को वह सबसे अधिक प्यार करती थी। जब छोटा पुत्र मर गया तो वह बुढ़िया उसे जलाने नहीं देती। उसको अपनी छाती से लगाए रही। उस बुढ़िया को एक जगह साधु मिला। साधु से बुढ़िया ने बताया कि महाराज मेरा पुत्र मर गया है, जिन्दा कर दीजिए। साधु बोला कि अच्छा जिन्दा हो जायगा। मगर एक काम यह करो कि जिस घर में कोई मरा न हो उस घर से पाव भर सरसों के दाने ले आओ। बुढ़िया जल्दी से जल्दी दूसरे घर गयी। बोली कि हमें एक पाव सरसों के दाने दे दो। घर वाले बोले, हां हां एक पाव नहीं ५ सेर ले लो। बुढ़िया ने पूछा, मगर यह तो बताओ कि इस घरमें कोई मरा तो नहीं है। घर वाले बोले कि मां इस घरमें तो बहुत लोग मर गए। दादा मर गए, भाई मर गया, बहिन मर गयी आदि। बुढ़िया बोली, तो हमें यह सरसों नहीं चाहिए। अब बुढ़िया तीसरे घर गयी बोली, एक पाव सरसों चाहिए। घर वाले बोले हां हां १० सेर ले जाओ। बुढ़िया बोली, मगर यह तो बताओ कि कोई इस घरमें मरा तो नहीं है। वे बोले, अरे यहां तो बहुत मर गए हैं। इसी तरह से बुढ़िया ने १०-२० घर दूढ़ लिए। सभी जगह वही एक उत्तर मिला।

इतना पूछने के बाद उसके ज्ञान जगा कि अरे सारी दुनिया में यही हाल है। इतना ज्ञान जब बुढ़िया के जग गया तो वह प्रसन्न हो गयी। वह बोली, कि अरे ये तो सब न्यारे-न्यारे पदार्थ हैं, न्यारे के वियोग होने का क्या विषाद करना? बुढ़िया प्रसन्न चित्त होकर साधु के पास गयी और साधु को नमस्कार किया। साधुने पूछा, मां। तुम प्रसन्न दीखती हो, क्या तुम्हारा बच्चा जिन्दा हो गया? बुढ़िया ने उत्तर दिया कि हां हमारा बच्चा जिन्दा हो गया बात क्या हुई, आपको सुनाया था पहले कि सारी बातों में तीन प्रकार हुआ करते हैं— (१) शब्द, (२) अर्थ, (३) ज्ञान। जैसे पुत्र तीन हैं—शब्दपुत्र, अर्थपुत्र और ज्ञानपुत्र। अगर शब्दपुत्र कहो तो वह यह है जो केवल पुत्र शब्द लिखा हुआ है। अर्थपुत्र वह है जो दो हाथ पैर वाला है। घर में बैठा हो या कहीं हो और जो पुत्र के बारे में ज्ञान होता है वह ज्ञानपुत्र है। तो हुआ

सुख यहाँ द्वितीय भाग

क्या कि बुढ़िया का पहले ज्ञानपुत्र मरा था और अब वह जिन्दा हो गया। साधु से बुढ़िया बोली कि मेरा तो ज्ञानपुत्र था, ज्ञानपुत्र की ही मृत्यु हो गयी। वह अब जिन्दा हो गया है। वह तो मेरे अपने आपमें है, वह जीवित हो गया है। सो भाई इस सारे विश्व में मेरा कुछ नहीं है। यह बात सत्य मानो, नहीं तो धोखा ही धोखा है। जगत की व्यवस्था यह है कि कोई किसी की चीज बनकर नहीं रहती और न छुड़ाई जा सकती है। तब सोच लो कि बाहर में मेरा कहीं कुछ नहीं है। इतना सोच लेने से ही क्या बिगाड़ हो जायगा? जैसे बुढ़िया को ज्ञान आ गया कि ये मेरा ज्ञानपुत्र है वह सावधान हो गयी। सो बोली महाराज मेरा ज्ञान पुत्र जिन्दा हो गया है। मैं भी ठीक हूँ, मेरा ठीक करने वाला जगत में अन्य नहीं है। यह ध्यान अपने आपमें रखना चाहिए कि मेरा मात्र मैं ही हूँ। ये जगत के सारे पदार्थ हमसे छूट जावेंगे, मेरा कोई इस जगत में नहीं है। यह मैं सदा ज्ञानमात्र स्वतः परिपूर्ण हूँ। मैं जैसा हूँ तैसा ही हूँ। इस प्रकार सच्ची दृष्टि के बल से मैं अपने आपमें अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभवूँ और सहज सत्य आनन्द से ओतप्रोत होऊँ।

परायत्ताः परार्थाः स्वायत्तं ज्ञानस्य वेदनम्।

पराप्तये न धावानि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२-२६॥

अर्थ- पर पदार्थ उन्हीं पर के अधीन हैं ज्ञान का वेदन स्व के अधीन है इसलिए मैं परपदार्थ की प्राप्ति के लिये नहीं दौड़ूँ और अपने में अपने लिये स्वयम् सुखी होऊँ।

अपने आपको छोड़कर बाकी जगत के जितने भी पदार्थ हैं वे पदार्थ क्या आपके आधीन हैं? वे आपके आधीन नहीं हैं। वे स्वयं सत् हैं, उनके चतुष्टय में उनका परिणमन होता रहता है। वे तो आपके आधीन हो ही नहीं सकते हैं। यदि कुछ आपकी इच्छा के अनुकूल हो गया तो वह काकतालीय न्याय है।

जैसे कोई नारियल का ऊँचा पेड़ है, नारियल लगे हुए हैं। पथिक ग्रहण करना चाहता है तोड़ने का साधन नहीं है। इतने में एक कौवा नारियल के पेड़ पर से उड़ता है। उसके उड़ते समय ही नारियल नीचे गिर पड़ा तो वह ऐसा सोचता है कि कौवे ने नारियल को गिराया। अरे वह तो अपने आपसे गिर गया है। कौवे के गिराने से नहीं गिरा है। एक दफा अगर ऐसा समय आ गया तो बार-बार नहीं आता है। कोई कभी आपके माफिक काम बन गया, आपके मित्रजन आपके अनुकूल हो गए, आपके परिवार के लोग आपके अनुकूल हो गए, ऐसी बात तो शायद ही कभी हो जाय, नहीं तो सर्वथा आपके अनुकूल कुछ नहीं होगा। देखो भाई उस नारियल के गिर जाने में क्या कौवे की करतूत थी? नहीं, वह तो स्वयं ही गिरा था। मगर लोग कहते हैं कि कौवे के चले जाने से गिरा। सो भाई परपदार्थ स्वयं परिणमते हैं। जितने भी परपदार्थ हैं, वे किसी दूसरे के आधीन नहीं, बल्कि स्वयं ही अपने आधीन हैं। बड़ों-बड़ों के भी ऐसा नहीं हो पाता कि जैसे वे चाहें वैसा अन्यत्र परिणमन हो जावे।

जिन लड़कों बच्चों से तुम प्रेम करते हो, वे आज्ञाकारी भी हैं, फिर भी वे अपने विषयकषायों

को लिए रहते हैं। वे अपने स्वार्थ के लिए आज्ञाकारी बने हुए हैं। वे मेरे आधीन नहीं हैं। भाई कोई किसी के आधीन नहीं हैं। वे स्वयं ही परिणमते रहते हैं। मेरे आधीन मेरा ज्ञानस्वरूप है। मैं अपने ज्ञानस्वरूप को जानूँ तो मेरी रुकावट करने वाला कोई नहीं है। हम ही स्वयं विषयकषायों में पड़कर अपने ज्ञान में रुकावट पैदा करते हैं। बाहरी पदार्थों में पड़ने से ज्ञान की रुकावट होती है। कभी-किसी चीज की इच्छा हो जावे कि अमुक चीज खालें, अमुक चीज खालें। न जाने कौन विघ्न आ जायें कि वह चीज कहीं न-मिले। भाई परपदार्थों के संयोग में नाना विघ्न होते हैं।

भैया ! मेरे काम में दूसरे पदार्थ कोई बाधा नहीं डाल सकते हैं। हम स्वयं अपने कामों में बाधा डाल लेते हैं। जैसे बाय वाला पुरुष खुद ही खटिया से उठकर बाहर को भागता है। इसी तरह विषयकषायों की वेदना से हटकर बाह्य में भागते हैं। बाह्य के उपयोग से ही विषयकषाय बन गए और दूसरी बात नहीं है। अरे तू तो अत्यन्त स्वाधीन है। तू अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव तो कर। लोक के व्यवहार की सारी बातें पराधीन हैं। तू अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव तो कर। लोक के व्यवहार की सारी बातें पराधीन हैं। स्वाधीन तो केवल अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव है। लेकिन देखो जो स्वाधीन बात है, सरल बात है, निर्विकल्प बात है उसकी और तो दृष्टि ही नहीं जाती। जो पराधीन है, दुर्गम है, जिनमें विघ्न ही भरे होते हैं, ऐसे बाह्य पदार्थों के संयोग के लिए कमर कैसे है ? भैया ! अपने को ज्ञानानन्दमय स्वयं सर्ववैभव सम्पन्न समझकर बाह्यपदार्थों को उपयोग में न लाकर अपने आप में ही विश्राम पाकर अपनेमें अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ।

राज्ये क्लेशः क्षणं यत्नं भिक्षा वृत्तौ तु तत्त्वतः।

तत्त्वं हि नोभयत्रास्ति स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२-३०॥

अर्थ— राज्य में महान् क्लेश है और भिक्षावृत्ति में क्षणमात्र का प्रयत्न है परन्तु वास्तव में तत्त्व दोनों जगह नहीं है-अतः मैं तो अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

देखो राज्य में महान् क्लेश है। राज्य का मतलब केवल राज्य से न लो। राज्य का मतलब दुकान से, व्यापार से, आजीविका इत्यादि से है। ये सब बाहरी बातें हैं। इनमें पड़ने से क्लेश ही क्लेश है। भाई करोड़ों रुपयों का धन एकत्रित कर लें तो उससे भी क्लेश ही क्लेश है। धन कमाने में, रोजगार करने में, राज्य करने में हुक्मत करने में देखो कितने क्लेश हैं। अनन्त क्लेश उन्हें हो जाया करते हैं। अब योगी संन्यासियों भिक्षावृत्ति वालों को देखो, कोई पुरुष ज्ञान उत्पन्न करके अन्तर से विरक्त हो जाय, अपने ध्यान में लीन हो जाय, वह योगी संन्यासी है। उसे कभी क्षुधा लगे तो उन्हें क्लेश नहीं होते। क्योंकि जब भूख लगे तब वह बच्चों की भांति एषणा को निकलता है। वह किसी गांव में निकल जाय, यदि कोई आदर से बुलाए, कुछ खाने को मिल जाय तो खाले, नहीं तो संतोष करे, यही भिक्षावृत्ति कहलाती है। भिक्षावृत्ति में केवल क्षणमात्र का यत्न है। फिर भी तत्त्व तो इन दोनों में भी नहीं हैं।

बड़े बड़े राजा महाराजा २४ घण्टे क्लेश ही उठाया करते हैं पर एक संन्यासी मुश्किल से पौन घंटे में ही अपना काम कर लेता है। उसे कोई क्लेश नहीं होते हैं। ऐसा काम तो वे ही कर सकते हैं

सुख यहाँ द्वितीय भाग

जिनके पास हिम्मत है। आहार मिले तो ठीक है और न मिले तो ठीक है। दोनों में राजी होवे तो काम चलेगा नहीं तो नहीं चलेगा। भाई भिक्षावृत्ति से तो क्लेश नहीं होंगे पर बड़े-बड़े धन वैभव के होने पर क्लेश ही रहेंगे। परन्तु परमार्थ से शांति न तो भिक्षावृत्ति में है और न धन वैभव से है वरन् अपने-अपने ज्ञानस्वरूप के दर्शन में है। भाई जब ज्ञान का अनुभव हो तभी स्वाधीनता है। जब इच्छा हो तब ज्ञान का अनुभव कर लो। ये प्रत्येक पदार्थ अगर तुम्हारे संयोग में हैं तो यह पराधीनता है। मैं किसी भी धन वैभव, परिवार इत्यादि के साथ न-रहूँगा, क्योंकि ये सब मिट जावेंगे। आज न तो राम ही दिखते हैं, न तीर्थंकर ही दिखते हैं, और न कृष्ण ही दिखते हैं। जो महान् पुरुष अभी १००-२०० वर्ष पहिले पैदा हुए थे वे भी नहीं दिखते हैं, ऐसी ही जगत की स्थिति है।

भैया ! देखो जो इस समागम में रहते हैं, समागम में ही मस्त हैं, उन्हें यह खबर नहीं रहती कि इससे क्लेश होंगे। इन समागमों से अचानक वियोग ही होता है। इन समागमों से ही बड़े-बड़े क्लेश उत्पन्न कर लेते हैं। ये सब पदार्थ जुदा-जुदा हैं, उनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, कुछ भी तो गुंजाइश नहीं कि कोई परपदार्थ मेरा हो जावे, मैं तो जाननस्वरूप हूँ। जितनी भी चीजें हैं वे सब अपने धर्म में हैं। मेरा किसी भी पदार्थ से सम्बन्ध नहीं है। यदि मेरा उपयोग बाह्य में होगा तो मुझे सुख नहीं होगा। देखो भैया ! यदि इन समागमों के बारे में यह विश्वास हो जाय कि इनका वियोग होगा तो उनके वियोग से दुःख न होगा। जैसे कोई मित्र ऐसा हो कि जिसके प्रति यह ख्याल आ जाय कि यह तो धोखा देने वाला है। ऐसा ख्याल उसका पहिले से ही बन गया है। यदि वह मित्र उसे धोखा दे देवे तो उसे ज्यादा दुःख नहीं होगा क्योंकि पहिले से ही मालूम था और जिसके प्रति कोई शंका नहीं वह अचानक ही धोखा दे देवे तो उसे बहुत क्लेश होगा। बाहरी पदार्थों का जो समागम है वह भिन्न है, अहित है, विनाशक है ऐसा जानें तो क्लेश न होगा। वस्तुतः मैं तो केवल अपने आत्मा के अन्दर स्थित तत्व को जानता हूँ। सो मैं ज्ञानमात्र का अनुभव करके स्वयं सुखी होऊँ।

देखो यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान से ही इसकी रक्षा होती है। सहजस्वरूप आनन्द ही इसमें भरा हुआ है। इसमें कोई अधूरापन नहीं है। ज्ञान का नाम ही आत्मा है। आनन्दमय ही यह आत्मा है। कोई पिंडरूप चीज तो मैं नहीं हूँ, जो पकड़कर दिखाया जा सके। भैया ! जो मेरा स्वरूप है वह जानन है। इसी के मायने आत्मा है। ज्ञानमात्र भाव को छोड़कर अगर हम बाह्य में झुकें तो दुःख ही मिलेंगे। हम तो बिल्कुल ठीक हैं, हमारेमें कोई कमी नहीं है! मामला बिल्कुल तैयार है। खाना बिल्कुल तैयार है, खाओ चाहे न खाओ, यह तुम्हारे विवेक की बात है। सारा मामला तैयार है, मगर तुम इस अपने आत्मस्वरूप को नहीं देखते हो। अरे ये बाह्यपदार्थ जो मेरे कुछ नहीं है, जिनसे मेरा ताल्लुक नहीं है, अपने स्वरूप को न देखकर उन बाह्य में दृष्टि लगने से बरबादी ही बरबादी है। उन्हीं की ओर झुकना यह अपने प्रभु पर न्याय है। अगर अपने स्वरूपको देखना चाहो तो देखो और अगर न देखना चाहते हो तो न देखो, यह तुम्हारे विवेक की बात है। अधूरापन तो कुछ है नहीं। मामला तो पूर्ण अनादि से है।

परस्थितेः परं स्थानं पराभावो हि स्वस्थितेः।

तत्त्वं तु नोभयत्रास्ति स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२-३१॥

अर्थ—परपदार्थ में उपयोग द्वारा ठहरनेसे परस्थान प्राप्त होता है और निज में उपयोग ठहराने से पर का अभाव होता है परन्तु तत्त्व दोनों प्रयत्नों में नहीं है इसलिये उपयोग ठहराने के प्रयत्न को छोड़कर मैं अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

जिस पदार्थ में यह जीव अपना उपयोग देता है वही पदार्थ इसको मिल जाता है। कभी बैठे-बैठे अनुभव किया होगा कि कोई नीबू बड़ा हो एक आने का एक वाला, उसकी छोटी-छोटी फांके करो। ऐसा उपयोग में सोचो और उसके स्वभाव की कल्पना करो तो नीबू की खटास गले में उतरती है। जिसे कहते हैं कि मुँह में पानी आ जाता है। तो क्या आपने नीबू के रस का स्वाद लिया, इसलिए गले में खटास आयी नहीं, नीबू के प्रति ज्ञान किया, ध्यान किया तो उससे गले में खटास आयी। बाहर में से इस आत्मा को कुछ नहीं मिलता। स्वयं में ही कुछ मिलेगा, क्या मिलेगा ? जो सोचोगे वह मिलेगा। वह अपने ज्ञान की चीज है। पदार्थों में लोग मान लेते हैं, परन्तु पदार्थों के उपयोग से कुछ नहीं मिलता है। केवल अपना ज्ञान परपदार्थों के जानने में लगता है। सो उसके लगाने से स्वयं में ही कुछ मिलता है। मेरा आत्मा में किसी चीजका प्रवेश नहीं है। परपदार्थों के उपयोग से तो परस्थान ही प्राप्त होता है और निज के उपयोग से परका अभाव होता है। इसने तो बाहरी पदार्थों को सोच लिया तो खुद का उपयोग नहीं रहेगा। अपने आपको यदि सोचो तो परिणाम अच्छा रहेगा। अब यह विवेक कर लो कि कहां उपयोग लगाना चाहिए? अगर इज्जत चाहोगे तो मोह में फंसे रहोगे। मोह में फंसने से पराधीन रहना पड़ेगा। पर में लगने से देख लो लाभ है क्या ?

भैया ! परपदार्थों से कोई लाभ नहीं है। अरे समागम में फंसा रहा तो पराधीन होना पड़ेगा सब अपनी-अपनी भावनाओं से पर की आधीनता का विकल्प करके रहते। ये सब न जानें किस किस गतिसे आकर एक ही जगह पर इकट्ठा हो गए हैं। किसी दिन ये सब यहां से चले जाएंगे। इस भव में जिसने जन्म लिया है, क्या यहां कोई रह जावेगा ? नहीं, इस जगत् के प्राणी अपने अपने सत् से हैं, अपने आपमें ही परिणमते रहते हैं। उससे किसी भी पदार्थ का रचमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। वे सब इस जगत् में स्वयं ही आये हैं और स्वयं ही विमुक्त हो जाएंगे। देखो यह पर्याय ही मिटेगी। सत् तो शाश्वत् ही रहता, मगर उसे जानता बिरला ही कोई है। इस जगत् में कोई किसी गति से आया है, कोई किसी गति से आया है। कितना समय इन प्राणियों का यहां गुजर गया। इस संसार में प्राणियों ने अपने विवेक को भुला दिया है। इस संसार के समागमों को अपना लिया है। अपने को समागम में ले जाने में कोई विवेक नहीं है। इन सब समागमों से हटकर मैं अपने उपयोग को अपने ज्ञानमात्र, ज्ञायक स्वरूप में लगाऊँ, यही विवेक है। मैं निज जानने में रमूँ, यही प्रभु का दर्शन है। अपने सत्य का आग्रह हो तो सत्य का दर्शन होगा ही।

सुख यहाँ द्वितीय भाग

देखो भाई ग्वाला सत्य का आग्रह लेकर बैठा था कि पहले मैं भगवान को खिला दूंगा, फिर बाद में मैं खाऊंगा। इसलिए भगवान न सही तो किसी ने भी प्रत्यक्ष तो दर्शन दिए।

मैं अगर सत्य का आग्रह करके रहूँ कि मेरा ज्ञानस्वरूप एक सत् पदार्थ है, मैं ज्ञानमय हूँ, मेरा प्रभु मैं ही हूँ, मेरा अन्य से कोई वास्ता नहीं है। मैं यथार्थ रूप हूँ, नाना रूपों में नहीं हूँ। मेरा काम तो केवल जानन का है, मैं अपने ज्ञान तत्व में रहता हूँ। ऐसा यदि सत्य का आग्रह होगा तो यहां बैठे ही अपने प्रभु का दर्शन होगा। अन्यथा अपने प्रभु के दर्शन होना असंभव है। मैं अपने को यह विश्वास न करूँ कि मैं बाल बच्चों वाला हूँ, परिवार वाला हूँ, नष्ट हो जाने वाला हूँ, पराधीन हूँ। ऐसे विचार यदि होंगे तो ये तो छोटे विचार हैं, छोटे परिणाम हैं, मोह है, मिथ्यात्व है। इस प्रकार का असत्य का आग्रह करने से अपने निज प्रभु का दर्शन नहीं हो पायगा। आजीवन क्लेश ही नजर आवेंगे। इस प्रकार के यदि विचार रहे तो संसार में रुलना ही पड़ेगा।

भाई ! अपना शुद्ध आग्रह करो तो भला होगा नहीं तो भला नहीं होगा। परपदार्थों का आग्रह करने पर अशांति प्राप्त होगी, अपने आत्मस्वरूप का अनुभव नहीं हो पायगा। अपने उपयोग में लगने से ही भलाई है। मैं अपने आपके स्वरूप में ही अपना उपयोग ठहराने की कोशिश करूँ तो मेरा कल्याण होगा अन्यथा नहीं होगा। जैसे कहते हैं ना कि वहां न जाओ, वहां पर क्लेश ही क्लेश हैं। ऐसे ही परपदार्थों में न जाओ वहां विपदा ही विपदा हैं। तो मैं आत्मा अपने आपके सत्य के आग्रह को ठहराने की कोशिश करूँ और अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

मैं संकल्प विकल्पों को दूर करूँ तो मेरा कल्याण होगा अन्यथा नहीं। जैसे कहते हैं ना कि कौवे के कोसने से ढोर नहीं मरते। जैसे कौवा मांस खाना चाहता है तो कौवे के कोसने से क्या गाय मर जायगी? इसी प्रकार मेरे सोचने से क्या पर का वैसा परिणमन होगा? नहीं। सो मैं अपने को अपने उपयोग में लगाने की कोशिश करूँ तो शांति प्राप्त हो सकती है। इस आत्मा में किसी बाह्य चीज का प्रवेश नहीं। मेरा आत्मस्वरूप ही मेरी दृष्टि में रहे जिससे मैं अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

जनैषे वाङ्मनः कर्म चैकाग्र्यावसरोवने।

तत्त्वं तु नोभयत्रास्ति स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२-३२॥

अर्थ- मनुष्य के समूह होने पर वचन मन की प्रवृत्ति होती है व वन में एकाग्रता का अवसर होता है परन्तु तत्त्व दोनों स्थान में नहीं हैं इसलिए आवास के विकल्प को छोड़कर अपने में अपने लिये स्वयम् सुखी होऊँ।

मैं कहां रहूँ तो सुख हो सकता है। इस प्रश्न के कितने ही उत्तर हो सकते हैं।

बहुत से मनुष्यों के बीच में रहे, मित्रमंडली के मध्य में रहें, सब लोगों के अनुकूल अपने आपको बनाए रहें, उन सबसे मिल जुलकर रहें, सबकी वाणी सुनें तो सुख मिलेगा, यह भी एक उत्तर हो सकता है। परन्तु यह उत्तर गलत है, सो स्पष्ट ही है। मनुष्यों के मध्यमें रहने पर मन, वचन कार्य की

तो करेगा ही। जब बहुत-से मनुष्यों के बीच में है तो मनुष्यों से वचनों से बोलेगा ही मन से सोचेगा ही, शरीर से चेष्टायें करेगा ही, अन्यथा मनुष्यों के बीचमें रहने की वृत्ति बने ही क्यों? फिर कहां रहा जाय तो सुख हो सकता है। तब तो जंगल में ही रहा जाय, जहां पर कोई नहीं है, तब मन, वचन, कार्य की चेष्टायें न आवेंगी। ध्यान को एकाग्रचित्त में रखने का अपने को अवसर मिलेगा। उस वन में भी रहकर क्या लाभ उठा सकेगा कोई? जिसका उपयोग अपने स्वरूप में नहीं लग सकता। वह बाहर में बहुतसे विकल्प किया करेगा। यहां अमुक अमुक सुविधायें नहीं हैं। इसी तरह के कितने ही विकल्प बनाए जा सकते हैं। इस वन के बीच में बैठे ही मित्रों का ख्याल कर, घर का ख्याल कर दुःखी रह सकते हैं।

जैसे एक कथानक आता है कि पुष्पडाल मुनि पूर्वमित्र श्री वारिषेण मुनि को आहार कराकर पहुंचाने गए, वन तक पहुंच गए। वहां मित्र जैसी वृत्ति बनाकर आत्मकल्याण का भाव हो गया। वे मुनि हो गए। साधु होते हुए भी पुष्पडाल के यह चिन्ता रही कि मेरी स्त्री (जो कानी थी) अब वह क्या कर रही होगी? वन के अन्दर रहकर भी विकल्प बनाया तो वन में रहना किस काम का है? तब फिर कहां रहा जाय? मनुष्यों के समुदाय में रहते हैं तो वहां भी दुःख हैं और जंगल में रहते हैं तो वहां भी दुःख हैं। तब फिर कहां रहा जाय तो सुख हो सकेगा। निज तत्व में। अपने आनन्द की बात दोनों जंगह नहीं मिलती। तब फिर आनन्द कहां मिले। आनन्द तो अपने आप में मिलता है, अन्यत्र नहीं मिलता है। निर्जन स्थान में रहना एक सहायक वातावरण है। निर्जन स्थान में आत्मतत्व मिलता ही हो ऐसी बात नहीं है।

आत्मतत्व तो अपने ज्ञानस्वरूप में मिलता है। तब मैं कहां रहूँ तो सुख हो सकता है। भाई! अपने ज्ञानस्वरूप को ही उपयोग में लाऊँ तो सुख हो सकता है। वह मेरा स्वरूप क्या है? वह स्वरूप क्या वह है जो कि मैं मिट जाऊँ? कोई यह नहीं चाहता है कि मैं मिट जाऊँ जो मिट जाने वाला है वह मैं नहीं हूँ। मैं कहीं ले जाया जाऊँ ऐसा किसी से बंधा हुआ नहीं हूँ। मेरा मिटने का स्वभाव नहीं है। मैं वह हूँ कि कभी नष्ट नहीं हो सकता। मैं कभी नष्ट नहीं हो सकता वह मैं क्या हूँ? विचार कीजिए—क्या ये पर्याय जो अनेक द्रव्य कहलाते हैं वह मैं हूँ। पशु, पक्षी, जीव जन्तु, कीड़े मकौड़े, पेड़ पौधे इत्यादि क्या मैं हूँ? अरे यह भी मिट जाने वाले हैं। मैं मिट जाने वाला नहीं हूँ। तो अन्तरमें जो सूक्ष्म स्कन्ध भरे हुए हैं, कार्माणशरीर, विमलसोपचय, मन, वचन, काय इत्यादि क्या मैं वह हूँ? वह पर हैं, भिन्न हैं, मैं भिन्न हूँ स्वयं हूँ। तब क्या मान, माया, मोह, लोभ इत्यादि मैं हूँ? अरे ये सब मैं नहीं हूँ। ये सब तो नष्ट हो जाने वाली चीजें हैं। चीजों का जो स्वरूप है वह चीजों के संकट के लिए नहीं होता। विषयकषाय इत्यादि जो विकार हैं उन रूप क्या मैं हूँ? नहीं, उन रूप भी मैं नहीं हूँ, ये विषयकषाय इत्यादि तो मेरे दुःख के लिए ही हो रहे हैं। यह परिणाम मेरा नहीं है क्योंकि ये सब मिट जाने वाले हैं। दूसरे मेरे संकट के लिए हों ऐसी बात नहीं है। मेरे लिए मैं ही सब कुछ हूँ। फिर जो भिन्न चीजों से ज्ञान हुआ? फुटकर ज्ञान हुआ तो यह जाननस्वरूप है क्या? ये भिन्न-भिन्न चीजें तो मिट जाने वाली होती हैं। यह चौकी है, यह अमुक चीज है।

भैया ! जो मिट जाने वाला है वह मैं नहीं हूँ। जो बाह्य की जानकारीयाँ हैं वह भी मैं नहीं हूँ। तब फिर मैं क्या हूँ? जो निजस्वरूप भगवान् का ज्ञानस्वरूप है वह मैं हूँ। पूर्ण विकासरूप केवल ज्ञान पर्याय भी मैं नहीं हूँ। अन्य की तो बात ही क्या कहें? यद्यपि यह पूर्णविकासमय तत्त्व मेरे स्वरूप में विकासमय है तथापि सूक्ष्मदृष्टि से देखो वह विनाशीक है। प्रतिक्षण सदृश परिणमन होता रहता है।

जैसे एक दीपक ८ बजे जलता है ९ बजे तक दीपक जला। देखने वाले लोग कहते हैं कि दीपक ने वही काम किया जो ८ बजे किया सवा आठ बज गए, साढ़े आठ बज गए, पौने नौ बज गए, नौ बज गए, वही काम दीपक कर रहा है। अरे वह एक समान परिणमन है पर प्रकाशमय परिणमन तो न्यारा न्यारा है। प्रत्येक तेल की बूंदों से अलग-अलग परिणमन होता है। मगर लगातार बूंदों का परिणमन चल रहा है। परिणमन प्रत्येक बूंद का न्यारा न्यारा है। और काम सब बूंदों का प्रकाश देना होता है। प्रकाश समान हो रहा है और नया नया हो रहा है। प्रत्येक बूंद का खर्चा हो रहा है और काम हो रहा है।

इसी तरह ज्ञानका काम जानन है। नया नया परिणमन है। तब तो मैं चेतनस्वरूप वाला हूँ। मैं वह तत्त्व द्रव्य हूँ जिसका परिणमन लगातार चलता रहता है। जानन चित् स्वभावमात्र मैं आत्मतत्त्व हूँ—ऐसा विचार यदि मैं बना लूँ तो सुखी हो सकता हूँ। और अगर अपने स्वरूप से बाहर दृष्टि रहे तो जगह जगह विपत्तियाँ हैं। जगह जगह क्लेश हैं सो अपने आपके स्वरूप में ही मेरा सर्वस्व नजर आए, अपने आपके प्रभु पर ही विश्वास हो तो मुझे आनन्द है। बाह्य पदार्थों में विकल्प कर लेना यह ओछी बात है। जिन पदार्थों से लेना देना नहीं, जो अपना अस्तित्व जुदा रखते हैं उनसे दृष्टि लगाकर यह प्राणी एक जगह बैठे बैठे ही व्यर्थ की कल्पनायें कर लिया करता है। अरे बाहर के पदार्थ तो असार होते हैं। उनमें कोई सार नहीं होते हैं। उनमें पड़ने से कोई लाभ नहीं है। मैं इन बाह्य पदार्थों से परमाणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं रखता हूँ। भाई! यह है सम्यक्त्व की बात। यदि सम्यक्त्व हो गया, सम्यग्दर्शन हो गया तो अपना भला होगा। भला करने वाले पुत्र मित्र परिवार आदि कोई नहीं होंगे। इनसे सम्बन्ध बना लेने से तो क्लेश ही रहेंगे। वे हमारे तड़फाने का कारण ही बने रहेंगे। ये मेरी शान्ति के कारण नहीं हो सकते हैं। आत्म शान्ति का कारण तो अपने आपके स्वरूप का परमात्मतत्त्व है। ऐसी दृष्टि अगर बन जाय तो सम्यग्दर्शन है। ऐसा सम्यग्दर्शन है तो मनुष्य का जीवन सफल रहेगा, अन्यथा जीवन सफल न हो सकेगा।

इस प्राणी का धर्म के कारण ही महत्व है। यदि धर्मशील न हों तो मनुष्यों से पशु पक्षी ही श्रेष्ठ हैं। धर्मशील होने के कारण ही मानव की प्रशंसा है। मनुष्य की श्रेष्ठता तो केवल धर्मके ही कारण है। मनुष्य की चाम किसी काम में आती है? बतलाओ। मनुष्य का कोई भी अंग क्या किसी काम में आयगा? मनुष्य का शरीर भी किसी काम में आयगा? इन मनुष्यों को मन, वचन, काय आदि मिल गये हैं, कुछ साहित्यिक ढंग आ गये हैं कुछ बोलने-चालने का ज्ञान आ गया है, इसमें छल करने की निपुणता हो गयी है। जो कोई ज्ञान की बात जानते हैं वे विकास नहीं कर पाते हैं। इस मनुष्य का पता ही नहीं कि वह कैसा है? मरखना बैल तो मालूम हो जाता है, इसलिए १०-२० हाथ दूर से निकल जाते

हैं, पर इस मनुष्य का पता ही नहीं कि यह कब क्या कर दे? मनुष्य की श्रेष्ठता केवल धर्म के कारण है। धर्म कहीं बाहर नहीं होता है। धर्म से बाहर रहने पर दुःख ही दुःख हैं, बाह्यकी जितनी कल्पनायें होती हैं वे सब धर्मके पोषण के लिए हैं। भगवान् की पूजा अथवा शास्त्रों का पढ़ना, उपदेश सुनना, सत्संग को जाना, धर्म के काम करना तथा जीवों के प्रति दया का भाव होना ये सब आत्मविकास के बाणकों को दूर करने के लिए हैं। धर्म है वीतराग परिणाम। सारी विपदायें इस धर्म से ही दूर हो जाती हैं। ऐसी योग्यता रहे, ऐसे धर्ममें रहे तो यही धर्म है, हाथ जोड़ना धर्म नहीं। पर हाथ जोड़ने के लायक रहेगा तो धर्म हो सकता है। अपने धर्म की ओर झुकाव ही तो सुख हो सकता है।

ज्ञान दृष्टौ क्व मोक्षाध्या क्वार्थः कामः क्व धर्मकः।

सहजानन्ददृष्टिः सन् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी, स्वयम्॥२-३३॥

अर्थ- ज्ञानदृष्टि होने पर कहाँ तो मोक्ष का मार्ग है (खोज का कष्ट है) कहाँ धन है कहाँ काम है कहाँ पुण्य है ज्ञानदृष्टि तो सहज आनन्द स्वरूप है अतः सहज आनन्द की दृष्टि वाला होता हुआ मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

ऐसी ज्ञानदृष्टि यदि होगी कि मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ, इसमें न पिंड है, न कोई पकड़ने की चीज है, यह न चखने की चीज है, न सूँघने की चीज है, यह तो एक जाननमात्र है, जानन ही इसका स्वरूप है, ऐसा मैं एक सत् पदार्थ हूँ, ऐसे जानन की जिसमें शक्ति आ गयी उसको मोक्ष का मार्ग प्राप्त हो सकता है। मोक्ष के मार्ग को खोजने में कष्ट कहाँ है? वह तो मोक्षमार्ग में स्थित है और आनन्दमय बर्तता है। ऐसा न सोचो कि मोक्षमार्ग कहाँ है? कहाँ चलूँ? ज्ञानदृष्टि कीजिए, इससे ही आनन्द का अनुभव है। ज्ञान के उदय के साथ आनन्द का अनुभव अविनाभावी है।

एक वेदान्त कथा टीका में आती है कि सास बहू थी। बहू के गर्भ था, बच्चा होने को था। अब बहू घबड़ा गयी कि बच्चा होने में तो बड़ी तकलीफ का काम है। किसी किसी को तो जान भी चली जाती है, सो बहू बोली-मां जब बच्चा हो तब जगा देना। सास बोली कि बेटी घबड़ाओ नहीं, जब बच्चा होगा तो वह जगाता हुआ ही होगा। किसी दूसरे को जगाने की जरूरत नहीं है। सो जब सत्य ज्ञान उत्पन्न होता है तो शुद्ध आनन्द को जगाते हुए ही पैदा होता है। ज्ञान मुझे सही हो जाय और फिर आनन्द की खोज में रहूँ ऐसा होता ही नहीं है। यदि ज्ञान कर लें और सुख न मिले तो ऐसा होने की शंका ही नहीं है। सही ज्ञान है तो आनन्द अवश्य है। ज्ञान तो वही है जिसमें मोह न हो। जिस ज्ञान में मोह हो वह ज्ञान नहीं है। चाहे सत्य ज्ञान कर लो, चाहे मोह के थपेड़े सह लो।

मैं अमुकचंद हूँ, मेरा काम ठीक चलता रहे, मोह का काम भी मेरा चलता रहे, घर का काम भी चलता रहे और मोक्ष का मार्ग भी मिल जाय सो दोनों काम नहीं हो सकते। इन मोह के थपेड़ों में सार नहीं। मोहदृष्टि हटते ही सर्वप्रकाश हो जाता है। मोह दूर होने पर ही राग दूर हो सकते हैं। मोह का काम अलग है और राग का काम अलग है। मोह का काम यह है कि इससे अपने में और दूसरे में भेद

नहीं नजर आता है। यह तो हुआ मोह का काम। राग का काम यह है कि पदार्थ सुहावना लगता है। ये जीव जितने हैं सब भिन्न हैं। फिर भी परिस्थिति ऐसी होती है कि राग करना पड़ता है। इस राग का काम बेवकूफी से होता है। मोह को दूर करने पर राग कब तक रहेंगे ? जैसे वृक्ष की जड़ काट देने पर वृक्ष कब तक हरा रहेगा ? वृक्ष हरा नहीं रह सकता है। राग से, मोह से पूरा नहीं पड़ेगा इनसे सुख नहीं हो सकता है। अंत में इन्हें छोड़ना ही पड़ेगा। अगर शुद्ध आनन्द मिलेगा तो राग मोह आदि को छोड़कर ही मिलेगा।

भैया ! जब घर में तुम्हारा भाव रहता है तो धन वैभव, ईंटें, पत्थर, दो चार लोगों में ही तुम फंसे रहते हो, उन्हें तुम अपना समझते हो। अरे कोई ऐसी क्या व्यवस्था है जिससे कहा जाय कि यह आपका घर है, यह आपकी वस्तु है। आप कहते हैं कि मेरा घर है, कोई कानूनी गुज्जाइश ऐसी निकले कि यह मेरा ही घर है तो बताओ। हम आत्मा के कानून की बात कर रहे हैं, नगरमहापालिका की बात नहीं कर रहे हैं। अब कौन सी ऐसी उक्ति है कि आप कह सकें कि यह मेरी पूंजी है, यह मेरा घर है। अरे इस ज्ञानस्वरूप अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के चतुष्टय में रहने वाले का इस ज्ञानस्वरूप से बाहर कुछ वास्ता नहीं है, कुछ ताल्लुक नहीं है। मोह की नींद में ही लोग कहते हैं कि मेरा घर है। अरे मोह हट गया तो जीवन सफल है, अन्यथा दुर्गति ही दुर्गति है। फुटबाल की तरह एक लात सहकर दूसरी जगह भग गया, दूसरी जगह पर लात सहने पर फिर दूसरी जगह चला गया। फुटबाल है किसलिये? वह लातें सहने के लिए है। इसी तरह हम और आप संसारी प्राणी फुटबाल बने रहते हैं। जिसके पास शरण के लिए पहुंच गए वहां भी शरण नहीं है। वहां पर विपदायें ही विपदायें हैं। फिर दूसरे के पास शरण के लिए पहुंच गए, वहां भी शरण न मिली। लातें ही फुटबाल की तरह सहता हुआ यह प्राणी नजर आता है। कहीं किसी के द्वारा कष्ट हुआ, कहीं किसी के द्वारा कष्ट हुआ, शान्ति नहीं मिलती। शान्ति तो अपनी ही निजदृष्टि में मिलेगी अन्यत्र कहीं शान्ति नहीं मिलेगी। परमार्थदृष्टि होने पर मोक्षमार्ग प्राप्त होगा। ज्ञानदृष्टि तो सहज आनन्द को लिए हुए है। वहां पर न तो विकल्प है और न क्लेश है। ऐसे सहज आनन्द को प्राप्त कर मैं अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

किं कृत्यं क्व रमै चित्तमस्थिरं चाहितं जगत्।

ज्ञानमात्रे रतो भूत्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२३४॥

अर्थ- मुझे यहाँ करने योग्य कार्य क्या है कहाँ चित्त लगाऊँ यह जगत् तो अस्थिर और मेरे हितरूप नहीं है इसलिये मैं तो ज्ञानमात्र में लीन होकर अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

मेरा यहां करने योग्य क्या काम है ? मैं अपना चित्त कहां लगाऊँ ? इन दो बातों की खोज में निकलो। मेरा यहां काम क्या है ? जिसके करने से सदा के लिए संतुष्ट हो जाऊँ। फिर कोई बाधा ही न रहें ऐसा करने योग्य काम क्या है, बतलाइए।

यह मकान चार पांच माह में बन जायगा तो क्या मकान बन जाने से आपकी समस्त बाधाएँ

हट जावेगी ? मकान बन जाने से क्या आपकी इच्छाओं की पूर्ति हो गयी ? क्या मकान बन जाने के बाद बाधाएँ न रहेंगी ? कौन सा ऐसा काम है जो कर लें और सदा के लिए झंझटों से मुक्त हो जायें। इन पंचेन्द्रियों के विषयों में ऐसी कोई चीज है जिसके भोग से सदा के लिए दुःख मिट जायें ? नहीं। तो फिर क्यों आशा की जाती है कि अमुक बात मिल जाय, कुछ मिल जाय तो क्या कुछ ऐसा है कि जिसके मिलने से, करने से झंझट न रहे। ऐसा जगत् के परपदार्थों में कुछ भी नहीं है कि जिसके कुछ हो जाने से सारे झंझट खत्म हो जायें।

भैया ! सारभूत बात एक निज है। उस एक की दृष्टि हो जाय तो मौज हो जाय। बचपन में बच्चे को कितनी चाह है, परीक्षा हो जाये, पास हो जाये, डिग्री मिल जाय, अफसर हो जायें, सब काम हो जावें, फिर यह करना है, वह करना है आदि। कौन सा काम ऐसा दुनिया में है जिसको एक बार कर लेने से सारे झंझट न रहें, कौन से ऐसे पदार्थ हैं जिनको अपना चित्त दे दें, अपने स्वभाव को सौंप दें और फिर सारे झंझट समाप्त हो जावें, कोई भी पदार्थ ऐसे नहीं है। यह सारा जगत् अस्थिर है, अहितरूप कल्याणरूप नहीं है। इन बाह्यपदार्थों में उपयोग होने से शुद्ध ज्ञान का काम नहीं होता है। अशुद्ध दृष्टि हटे और शुद्ध ज्ञान हो जाये तो ज्ञान का काम कभी खत्म नहीं होगा। शुद्ध ज्ञान का ही काम ऐसा है फिर और कुछ नहीं करना पड़ता। ज्ञानदृष्टि रहने पर झंझट नहीं रहेंगे। राग द्वेष में झंझट ही झंझट हैं।

श्री कुन्दकुन्द भगवान ने कहा है कि 'जो जीव राग करेगा वह बन्धेगा और जो राग न करेगा वह कर्म से छूट जायेगा।' अतः किसी कर्म में राग न करो। जिसमें राग नहीं उसमें क्लेश नहीं व जिसमें राग है उसमें क्लेश है। राग के फंदे में कष्ट जरूर है। क्योंकि जिस काम को वह राग से करेगा उस काम में वह घुल जायगा। राग यदि नहीं है तो कुछ भी करते रहें क्लेश नहीं है। वे तो उस ही प्रत्येक वस्तु की परिणति है। मेरे अनुकूल बाह्य में नहीं होता है, तो काम में मैं बाधा मान लेता हूँ। उसमें बाधा मानकर मैं दुःखी होता हूँ। दुःख न तो मेरे स्वरूप में है और न मेरे ज्ञान का काम है। केवल सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्य करने लायक हैं, बाकी सब दुःख हैं। सौ सब पदार्थों से हटकर मैं अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होता हूँ।

कर्तृत्वं न स्वभावो मे क्रिया एता उपाधितः।

वातवच्छुष्कपर्णस्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२-३५॥

अर्थ— मेरा कर्तापन स्वभाव नहीं है ये क्रियायें उपाधि से होती हैं जैसे सूखे पत्ते में स्वयं क्रिया नहीं परन्तु वायु के आघात से सूखा पत्ता भी गतिशील होता है इसलिये जानने की क्रिया वाले अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

पदार्थ तो सब अपनी-अपनी सत्ता लिए हुए अलग-अलग हैं। इसी कारण कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ में परिणति नहीं करता। जैसे मान लिया कि दोनों हाथों की अंगुलियों ने किसी सींक को तोड़ दिया तो लोग कहते हैं कि अंगुलियों ने सींक तोड़ दिया। पर ऐसा नहीं है। सींक स्वयं इस प्रकार की

चेष्टा करती हुई अंगुलियों का निमित्त पाकर टूट गयी हैं। अंगुलियों ने मात्र चेष्टा की अपनी। बीच में सीक थी सो उस संयोग का निमित्त पाकर सीक ने अपनी परिणति कर लिया। इसी तरह प्रत्येक जीवमात्र अपने जानन की चेष्टायें करेगा, दूसरों की जानन की चेष्टायें कभी नहीं करता है। ऐसा सत्य ज्ञान हो तो सम्यक्त्व है। यहां के परपदार्थों से क्या कोई वास्ता दीखता है। सम्यक्त्व में ही आनन्द है। कर्तापन से मेरा स्वभाव नहीं है। पर यह जीव मानता है कि मैंने किया। जो ऐसा मिथ्या मानता है वह भी पर को नहीं करता है। मिथ्यादृष्टि कर्तृत्व परपदार्थों के करने की मान्यता की दृष्टि से है। जिसकी जो परिणति होती है उसकी परिणति उसमें ही रहती है। इस जीव में जो कुछ भी कार्य होते हैं वे सब अपने आप होते हैं। कोई किसी को कुछ करता नहीं है।

जैसे कोई १० हाथ की दूरी पर है। कोई किसी को अंगुली दिखाकर चिढ़ाए तो वह अंगुली देखकर अपने आप ही यह कल्पनायें बना लेता है कि यह तो मुझे चिढ़ा रहा है। यह देखकर वह दुःखी हो जाता है। चिढ़ाने वाला तो अपने आप ही अपनी अंगुलियां चलाता है पर चिढ़ने वाला अपने आप ही कल्पनायें बनाकर चिढ़ता है।

तीन चोर थे। चोरी करने गए। एक नया चोर रास्ते में मिला। वह चोरी करना नहीं जानता था। पर वे सब चोरी करने चले। अब चार चोर हो गए। चारों चोर एक गांव में जाकर एक बूढ़े आदमी के घर में घुसे। कुछ देर बाद घर के अन्दर उस बूढ़े आदमी ने खांस दिया। तीन चोर तो भाग गये। एक जो नया चोर था वह भाग न सका। घर में ऊपर एक टांडी में जाकर बैठ गया। अब गांव के बहुत से आदमी इकट्ठे हो गए। कोई पूछता था क्या चला गया, कोई पूछता कैसे क्या हुआ? दसों प्रकार के प्रश्न पूछे गए। उस घर के बूढ़े आदमी ने झुझला कर कहा कि हम क्या जानें ऊपर वाला जानें। ऊपर वाले का मतलब यहां पर भगवान से था। पर चोर ने समझा कि मेरे लिए कह रहा है। बोला कि अरे मैं ही क्या जानूं, वे तीन क्यों न जानें? अब तो वह चोर पकड़ा गया। मारा पीटा गया, सजा हो गयी।

भाई ! कोई हमें आपको दुःखी नहीं करता। केवल कल्पनायें बनाकर ही हम दुःखी हो जाते हैं। दूसरे जीव जो कुछ करते हैं वे अपने आपका करते हैं। उनका किसी दूसरे से कुछ सम्बन्ध नहीं है। वे स्वयं ही कल्पनायें बनाकर फंस जाते हैं। कोई भी परपदार्थ किसी को दुःखी नहीं कर सकता है। कहीं आग नीचे जल रही है। ऊपर बटलोही में पानी रखा हुआ है। ऐसी स्थिति में पानी गर्म हो जाता है तो पानी को आग गर्म नहीं करती, पानी स्वयं आग के निमित्त से गर्म हो जाता है। पर ऐसे संयोग को देखकर लोग कहते हैं कि आग ने पानी को गर्म किया। पानी स्वयं आग के निमित्त को पाकर अपने ठंडे पर्याय को छोड़कर गर्म पर्याय में आ गया। इसी को कहते हैं कि पानी गर्म हो गया तो आग ने गर्म किया। पानी में गर्म होने की योग्यता थी। आग का निमित्त पाकर गर्म हो गया।

यदि हाथ की अंगुलियों की छाया कहीं पर पड़े तो क्या वह अंगुलियों की छाया है? नहीं। वह

तो अंगुलियों की छाया नहीं है। वह तो छाया पृथ्वी की है। अंगुलियों का निमित्त पाकर वह छाया हो गयी है। वह छाया अंगुलियों की छाया नहीं है। उस छाया पर अगर चाकू मारा जाय तो क्या कुछ असर अंगुली पर पड़ेगा? उस अंगुली पर असर कुछ न पड़ेगा जिसकी छाया है उस पर ही असर होगा। पृथ्वी की छाया है तो पृथ्वी पर असर होगा। अगर किसी से पूछें कि यह छाया किसकी है तो कहेंगे कि हाथ की है। पर है क्या हाथ की छाया? नहीं, वह तो पृथ्वी की छाया है। इसी तरह यदि किसी पेड़ की छाया को देखते हैं तो लोग कहते हैं कि यह पेड़ की छाया है। अरे यह छायारूप परिणति वृक्ष की नहीं है, वह छाया तो पृथ्वी की है। केवल पेड़ को निमित्त पाकर यह छाया हो गयी है।

और भी देख लो। दीपक के प्रकाश का निमित्त पाकर कमरे में पड़ी हुई वस्तुयें प्रकाशित हो जाती हैं। तो क्या वह पड़ा हुआ प्रकाश दीपक का है? यह बात बहुत मर्म की कह रहा हूँ। यहां प्रश्न हो सकता है कि दीपक निमित्त है तभी तो ये पदार्थ चमकते हैं। ठीक है, पर यह प्रकाश उन वस्तुओं का है जो प्रकाशित हो रही हैं अन्यथा यह बताओ कि दर्पण अधिक क्यों चमकता है? अन्य घट-पटादिक क्यों कम चमकते हैं? इनमें योग्यता के अनुकूल प्रकाश मय बनने की सामर्थ्य है। दीपक का प्रकाश निमित्त है और ये सब वस्तुएँ निमित्त पाकर प्रकाशित हो गयीं। देखो दीपक अपने आप में प्रकाश से जगमग है; जलता है, पर ये पदार्थ उसके प्रकाश की सन्मुखता पाकर याने दीपक का निमित्त पाकर प्रकाशित हो जाते हैं।

अब और इसके आगे चलो जिसमें बिल्कुल हैरानी हो जायगी। यह सूर्य है, प्रकाशमान चीज है। देखो दिन में ये सारी वस्तुयें प्रकाशित हो जाती हैं। लोग कहते हैं कि इन वस्तुओं को सूर्य ने प्रकाशित किया, पर सूर्य तो अपने प्रकाश में है। उस सूर्य का निमित्त पाकर प्रत्येक पदार्थ अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार प्रकाशित हो गए। इसकी बढ़िया एक उक्ति यह है कि अगर सूर्य इन पदार्थों को प्रकाशित करे तो सारी वस्तुएँ एक सी प्रकाशित होवें, पर ऐसा नहीं है। कोई वस्तु किसी प्रकार प्रकाशित है तो कोई किसी प्रकार प्रकाशित है? अगर सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होते तो एक ढंग से प्रकाशित होते? अब देखिये दर्पण को। वह भी तो प्रकाशित है, पर उसका प्रकाश अंधकार में भी फोकस पहुंचा सकता है तो भाई यह फर्क किस बात का है? सूर्य का निमित्त पाकर ये स्वयं प्रकाशित होते हैं। दर्पण तेज योग्यता वाला है, इसलिए यह अधिक प्रकाशित होता है। घटादिक कम योग्यता वाले हैं सो ये कम प्रकाशित होते हैं। अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार ये पदार्थ प्रकाशित होंगे।

यह वस्तुस्वतंत्रता की बात कही जा रही है, जो ज्ञान की मौलिक बात है। दर्पण को आगे करके मुंह देखा गया तो दर्पण में जो प्रतिबिम्ब छाया रूप है, क्या वह मुंह की छाया रूप है, दर्पण की छायारूप है? अगर मुंह की छाया होती तो हम बिना मुख के हो जाते। क्योंकि हम तो शीशे के अन्दर चले गए। अब अलग जगह हम क्या रहे? सो भैया! वह प्रतिबिम्ब तो दर्पण का है, मुंह का प्रतिबिम्ब नहीं है। हमारा मुंह निमित्तमात्र है। परिणमन दर्पण का है, मेरा नहीं है, पर किसी से पूछो तो यह कोई नहीं कहेगा।

यह है स्वातंत्र्यवाद का सिद्धांत। इसको बड़ी सूक्ष्मदृष्टि से देखकर सोचो तो ये परपदार्थ अपने परमाणुओं के मालिक हैं। परपदार्थ अपना काम करते हैं। मगर यह वस्तुस्वरूप आवे तो मोह नहीं रह सकता है। मोह से अगर भगवान् को हाथ जोड़ें तो क्या कुछ मिलेगा ? कुछ नहीं। परवस्तुओं से मोह हटाना हो तो हटाओ और अगर न हटाना हो तो न हटाओ। मोह को हटाने के लिए समर्थ तो निजस्वरूप का ज्ञान है ? उस निजस्वरूप के ज्ञान से ही मोह छूटेगा। सब सिद्धान्त की यह खूबी है कि वस्तु की स्वतंत्रता का स्वरूप विशद बता देता है। रस्सी को सांप जान लेने से बड़ी घबड़ाहट होती है। पर देखो रस्सी को रस्सी जान लेने से ही सारे फंद खत्म हो जाते हैं। जब ठीक समझ लिया तब यथार्थ ज्ञान हो गया।

अच्छा और देखो— इस दीवार का रंग बता दो। अगर लोगों से पूछा जाय तो यही कहेंगे कि दीवार हरी है। अरे दीवार हरी नहीं है, रंग ही हरा है। केवल दीवारों का आश्रय पाकर यह रंग फैल गया है इसी तरह समझ लो कि भैया ! पानी के भीतर आग की गर्मी नहीं, इन वस्तुओं का प्रकाश सूर्य का प्रकाश नहीं है, पृथ्वी पर होने वाली छाया पेड़ों की छाया नहीं है, फिर निमित्तनैमित्तिक भाव भी परे रहने वाले जिसको आप अपना लड़का कहते हो वह आपका कैसे होगा ? दीवार का रंग हरा नहीं है, दीपक का यह प्रकाश नहीं है, पेड़ों की छाया नहीं है, तो फिर तुम्हारे बच्चे कैसे हो गए, तुम्हारा परिवार कैसे हो गया ? ये तो बिल्कुल भिन्न चीजें हैं, ये सब एक आफत हैं। बिल्कुल अपने को यह समझो कि यदि राग द्वेष का धन्धा चल रहा है तो बैरी-बैरी आपस में मिल-जुल गए हैं। देखो एक तो मोह के मारे मरे और दूसरे यहां श्रम व विकल्प के मारे मर गए।

कहते हैं कि कर्तापन का मेरा स्वभाव नहीं है। ये जो कुछ हो जाते हैं, पर का निमित्त पाकर हो जाते हैं। जो सूखे पत्ते उड़ते हैं तो क्या अपने स्वभाव से उड़ते हैं ? नहीं। वे तो हवा का निमित्त पाकर उड़ने लगते हैं। सूखे पत्तों की बात कह रहा हूँ जो प्रायः उड़ते रहते हैं। उनका उड़ने का स्वभाव नहीं है। हवा चली और पत्ते अपने आप बाहर में उड़ने लगे। इसी तरह जब कर्म के उदय का निमित्त होता है तब माया, मोह, लोभ, आदि उठ जाते हैं। उस अवस्था में मोही प्राणी के कर्तृत्वबुद्धि होती है। ऐसी मिथ्या कर्तृत्वबुद्धि को त्यागकर अपने आपके स्वरूप को देखकर मैं अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

वृत्ति दृष्टौ तपो व्यर्थ निवृत्तौ न क्षतिः कुतः ।

ज्ञप्तिरेव निवृत्तिश्च स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२-३६॥

अर्थ— प्रवृत्ति की ओर दृष्टि होने पर तप व्यर्थ है। निवृत्ति रूप उपयोग में कहीं से भी हानि नहीं और वह निवृत्ति जानने रूप दशा ही है अतः ज्ञप्तिमय अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

प्रवृत्ति की दृष्टि रहे तो सब व्यर्थ है। तपस्या भी करे, प्रवृत्ति की दृष्टि रहे तो उसे मुक्ति नहीं प्राप्त होगी। निवृत्ति होवे तो वहां लाभ ही लाभ है। हम मन्दिर में दर्शन करने के लिए जाते हैं। वहां

यह दृष्टि करना मात्र कि हमारा नित्य का काम है इसलिए जाते हैं तो वह तो प्रवृत्ति की दृष्टि से सब चीजें व्यर्थ की हैं।

सो भैया! अपनी दृष्टि को सोचो, दृष्टि को ठीक करो तो ठीक है। हम भगवान के दर्शन के लिए दर्शन करते हैं तो वह प्रवृत्ति हुई। इससे कुछ लाभ नहीं होगा और अगर रागद्वेष त्यागने की दृष्टि हुई तो यह निवृत्ति हुई। अतः यदि मैं निवृत्ति से देखू तो लाभ मिलेगा वरना कुछ नहीं मिलेगा। अब आप लोग भोजन बनाते हैं। यदि वहाँ अतिथि साधु जनों के आहार दान की दृष्टि है तो इस शुद्धदृष्टि होने के कारण आप धर्म ही कर रहे हैं। बाह्य वस्तुओं में यह दृष्टि न रहे कि यह मेरी वस्तु है यह उसकी वस्तु है ऐसा परिणाम होने से भला नहीं होगा। यदि प्रवृत्ति की दृष्टि हो तो तप आदिक भी व्यर्थ है और अगर निवृत्ति की दृष्टि है तो लाभ है।

रस्सी में जब तक साँप का भ्रम था तब तक घबड़ाहट थी, पर जब रस्सी को रस्सी जान लिया तब घबड़ाहट दूर हो गयी। यथार्थ जानन हो गया तो इसी के मायने निवृत्ति है। यथार्थ बात को जानना ही कटाव कहलाता है। यथार्थ बात को जानकर मैं अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

पर दृष्टे न दृष्टः स्वः स्वे दृष्टे न विकल्पना।

अविकल्पे न संतापः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२-३७॥

अर्थ- पर के देखे जाने पर स्व देखा रहा नहीं रहता। स्व के देखे रहने पर अन्य कुछ भी कल्पना नहीं रहती। कल्पनाओं के अभाव में संताप नहीं होता इसलिये निर्विकल्प स्वरूप अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

परपदार्थों को ही देखो तो निजपदार्थ समझ में नहीं आ सकता है। और निज पदार्थ को देखो तो विषयकषायों की कल्पनायें नहीं बन सकती हैं, विकल्प नहीं रह सकते हैं। सो जो देखना चाहो वह निर्णय कर लो। अगर निजपदार्थ देखना चाहते हो तो निजपदार्थ देखो और परपदार्थ देखना चाहते हो तो परपदार्थ देखो। अगर अपने आपके पदार्थ को देखो तो संकल्प-विकल्प न रहेंगे और परपदार्थ को देखो तो क्लेश ही रहेंगे, संकल्प, विकल्प, मान, माया, लोभ इत्यादि ही रहेंगे। अब यहां उपयोग लगाना हो सो निर्णय कर लो।

मैं अपने आप में हूँ। मेरे में किसी अन्य चीज का प्रवेश नहीं है। मैं तो अपनी आत्मा की इज्जत चाहता हूँ। आत्मा की इज्जत यह है कि अपने आपका जैसा स्वरूप है तैसी ही दृष्टि रहे। यही स्वयं की इज्जत है। परपदार्थों को देखने से बेइज्जत एक दुःख है। परपदार्थों को जहां देखो, कल्पनायें उन वस्तुओं के प्रति बनी तहां दुःख आ जाते हैं। जहां पर निर्विकल्पभाव हों वहां पर सुख हो सकता है।

अरे इतनी अवस्था ४०-५० वर्ष की विकल्पों में ही गुंजर गयी। क्या परपदार्थ तुम्हारे साथ में जावेंगे? नहीं। ज्यों ज्यों विकल्पों में आसक्ति है त्यों त्यों आनन्द दूर है। परपदार्थों के अनुराग से विकल्प ही होते हैं। इसलिए भीतर से यह इच्छा होनी चाहिए कि मेरा ज्ञान का उपयोग बने किसी परपदार्थ

सुख यहाँ द्वितीय भाग

को अपने उपयोग में न लाऊं । अपने आप में भाव ऐसा होना चाहिए कि मैं ज्ञान में ही रहूँ, ऐसी भीतर में उत्सुकता रहनी चाहिए । यदि यह भी ध्यान हो कि मैं इस समय ज्ञानस्वरूप में नहीं हूँ, तो भी यही समझिए कि ज्ञानस्वरूप सामने है । जैसे मान लो कि कल जो रसगुल्ले खाये थे वैसा स्वाद आज रसगुल्ले खाने में नहीं आया । तो ऐसा ख्याल आपका हो जायगा कि जो स्वाद कल के रसगुल्लों में था वह आज के रसगुल्लों में नहीं है । इस ख्याल से बढ़िया रसगुल्ला उसके दिमाग में सामने है ।

जैसे किसी से कहें कि भाई चौकी पर समयसार पुस्तक रखी है सो ले आओ । वह गया वहां पुस्तक नहीं थी सो वह कहता है कि वहां समयसार नहीं है । देखो पुस्तक वहां पर है भी नहीं तब भी फोटो उस पुस्तक का उसके सामने आ गया ।

जैसे कहें कि भाई तिजोरी में गहना रखा है, ले आओ । यद्यपि वहां पर गहना है भी नहीं, तब भी गहने का फोटो तो आपके सामने आ गया । भाई परपदार्थों में आनन्द नहीं है । परपदार्थों से अगर मैं आनन्द प्राप्त करता हूँ तो वह वास्तविक आनन्द नहीं है । आनन्द तो तभी है जबकि अपने आपके स्वरूप की प्रतीति रहेगी तो चाहे बाहर में भी रहना पड़े, पर प्रसन्नता बनी रहेगी ।

एक कथानक है कि बादशाह और वजीर बैठे थे । बादशाह ने कहा कि वजीर, आज मैंने एक स्वप्न देखा कि अपन दोनों घूमने जा रहे थे । मार्ग में दो गड्ढे मिले, एक शक्कर का और एक गोबर का । मैं शक्कर के गड्ढे में गिर पड़ा और आप गोबर में गड्ढे में गिर पड़े । वजीर बोले— हजूर, मैंने भी स्वप्न ऐसा ही देखा, पर इसके आगे थोड़ा सा और देखा कि मैं आपको चाट रहा था और आप मुझे चाट रहे थे याने मैं तो शक्कर चाट रहा था और आप गोबर चाट रहे थे ।

इसी तरह गृहस्थ लोग गृहस्थी की गंदगी में पड़े रहकर भी अपने ज्ञान का स्वाद लें । इसमें उनका क्या बिगाड़ ? इसके लिए ज्ञान ऊंचा होना चाहिए । घरदार, मित्रजन, परिवार ये सब मोह के निमित्त अर्थात् आश्रयभूत कारण हैं । स्वयं के स्वरूप को देखने में कल्याण है । सो अब मैं स्वयं के स्वरूप को देखकर अपने में अपने लिये अपने आप स्वयं सुखी होऊँ ।

मयि सौख्यं मया मे मत् ज्ञप्तिभिन्नं न साधनम् ।

आगृह्णन् कथं वृत्तौ स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।२-३८।।

अर्थ— मेरा सुख मेरे द्वारा मुझ से मुझ में है उसका साधन जानने की क्रिया से भिन्न और कुछ नहीं है तब मैं वृत्ति में क्या आग्रह करूँ । अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ ।

मेरा सुख मेरे में है और मेरे द्वारा होता है । क्योंकि जितने भी जगत् में पदार्थ हैं वे सब अनन्तशक्ति से सम्पन्न हैं एवं अपनी-अपनी शक्तियों के परिणाम ही करते हैं । इसी प्रकार मैं भी एक वस्तु हूँ, कैसी वस्तु हूँ अद्भुत वस्तु हूँ । ज्ञानानन्दरस निर्भर एक अमूर्ततत्व हूँ, जिसके अन्दर अन्य कोई पदार्थ नहीं, ऐसा मैं ज्ञान भावात्मक तत्व हूँ । मैं कोई पिंड नहीं कि जो पकड़ा जा सकूँ, कोई रूप, रस इत्यादि नहीं कि जो इन्द्रिय के द्वारा जाना जा सकूँ, केवल ज्ञानज्योतिरूप केवल आनन्दस्वरूप हूँ ? दो ही तो इसके

मुख्य धर्म हैं — ज्ञान और आनन्द। ज्ञान किसे कहते हैं ? जो जाननकार्य करे, जिसका अविनाभावी आनन्द हो ऐसा ज्ञानानन्दघन आत्मतत्त्व हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ। लोगों ने जानन को ब्रह्म का स्वरूप बताया है, किन्हीं ने ब्रह्म को आनन्दस्वरूप बताया है।

ऐसा ही मैं आत्मतत्त्व हूँ। मैं ज्ञानमात्र हूँ, मेरा आनन्द मेरे से ही प्रकट होता है। उस आनन्द को प्रकट करने के साधन क्या हैं ? क्या रसोई बन जाय तो आनन्द है ? क्या रसोई से आनन्द मिलता है ? क्या घर, परिवार, मित्रजन इत्यादि से आनन्द आता है ? नहीं, ऐसा नहीं है। ज्ञान को छोड़कर अन्य कोई साधन नहीं है आनन्द के लिए। मात्र जानन ही आनन्द का साधन है। जिसका उपयोग बाह्य में है, जिसमें राग द्वेष आदि हैं उसको आनन्द नहीं मिलता है। जहाँ पर केवल जानन हो, मोह न हो तो वहाँ पर आनन्द मिलता है। जब मात्र जानन ही आनन्द का साधन है तो फिर प्रवृत्ति में आग्रह क्यों करूँ ? प्रवृत्ति चलती है तो चले, पर उसमें आग्रह क्यों हो ? मोही लोग ऐसा आग्रह करते ही हैं, उन्हें ऐसा किए बिना चैन नहीं आती है। कौन ऐसे पदार्थ हैं जो मेरे लाभकारी हैं, जिनसे मेरा कल्याण हो जाता है। ऐसी जगत् में कोई चीज नहीं है। सो भैया ! किसी चीज में आग्रह नहीं होना चाहिए। प्रवृत्ति का आग्रह न करो। बल्कि उस-अपने आनन्दस्वरूप को देखो और यह विश्वास रखो कि मैं आनन्दस्वरूप हूँ। मेरा आनन्द तो मेरे द्वारा ही प्रकट होता है। मेरे आनन्द का अन्य कोई साधन नहीं है। मात्र जानन ही आनन्द का साधन है।

जीव में ज्ञान गुण है जो कि खूब अनुभव में आ रहा होगा कि आत्मा में एक ऐसी शक्ति है जिसके कारण जानन वृत्ति होती है, वह ही तो आत्मतत्त्व है और दूसरे पदार्थ नहीं जानते हैं, क्योंकि आत्मा में ज्ञान शक्ति मौजूद है और किसी दूसरे में ज्ञानशक्ति नहीं है। आत्मा में ज्ञान होता रहता है, जानकारियाँ होती रहती हैं। इसी तरह आत्मा में एक आनन्द शक्ति है और पदार्थ तो आनन्द नहीं मना सकते। क्या चौकी, टेबुल, घड़ी इत्यादि आनन्द मनावेंगे ? आनन्द तो मनाने-वाला एक जीव ही है। क्योंकि उसमें आनन्द की शक्ति है। जैसे ज्ञान शक्ति जीवों में है तैसी ही आनन्दशक्ति भी जीवों में है।

भैया ! जैसे ज्ञानशक्ति की पांच परिणतियाँ हैं— मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान व केवलज्ञान। इसी तरह आनन्दगुण की तीन परिणतियाँ होती हैं— १. सुख; २. दुःख और ३. आनन्द। इनमें सुख और दुःख विकृत परिणमन हैं और आत्मीय आनन्द शुद्ध परिणमन है। विकृत परिणमन सुख और दुःख क्यों हैं ? यों कि सुख तो वह है जो इन्द्रियों को असुहावना लगता है। यह विकार स्वयं नहीं होता किन्तु कर्मोदय का निमित्त पाकर होता है। केवल आत्मा तो शुद्ध है, शुद्ध परिणमन का आनन्द भगवान् का है। सुख सदा नहीं रहता है और न दुःख ही सदा रहता है। सदा की बात छोड़ दो। २४ घंटे में शायद आधा घंटा मिलजुल कर समय सुख से व्यतीत होता हो, शान्ति प्राप्त हो जाती हो, बाकी साढ़े तेईस घंटा दुःख ही दुःख रहते हैं। तो आनन्दशक्ति का जो शुद्ध विकास है वह आनन्द है। उस आनन्द के लिए लोगों को आग्रह करना चाहिए। प्रवृत्ति के लिए आग्रह नहीं करना चाहिए।

सुख यहाँ द्वितीय भाग

किन्हीं-किन्हीं जगहों में तो देखो लोग धर्म प्रवृत्ति में कलह करते लोग व्यवहार में मिले-जुले रहते, विवाह के समय तो लोग मिल-जुलकर हंसी खुशी से रहते, पर धर्म के कामों में उनमें आपस में लड़ाई होती है। अरे धर्म के कामों में तो सबको आपस में मिलकर काम करना चाहिए और विवाह आदि में चाहें लड़ें, पर देखो कितना उल्टा काम करते हैं? क्यों ऐसा उल्टा होता है? क्योंकि वास्तविक धर्म से रुचि नहीं है। धर्म एक है, शास्त्र एक है, गुरु का स्वरूप एक है, पूजा की पद्धति एक है। जितने व्यवहार धर्म हैं उनकी पद्धतियां सब एक हैं। तो फिर झगड़ा किस बात का? प्रवृत्ति चाहे धर्म विषय की भी हो वहां भी मतभेद हैं परन्तु निवृत्ति में क्या मतभेद? निवृत्ति ही एक ऐसा धर्म है जिसकी कोई बराबरी नहीं। निवृत्ति का मतलब हट गया, अलग हो गया।

कोई साधु एक पुस्तक बांच रहा है। किसी ने पूछा कि कौनसा ग्रन्थ यह पढ़ रहे हैं। दूसरे का मनोभाव व उपकार जानकर साधु वह पुस्तक उसे पढ़ने को दे देगा। यही उसकी निवृत्ति होगी। वह अपने आपको अपने आप में विश्राम पाता हुआ देखकर आनन्द पा लेगा, अपने आपके ही आनन्द में मस्त हो जायगा क्योंकि उस साधु को प्रवृत्ति का आग्रह रंचमात्र भी नहीं है। प्रवृत्ति में आग्रह न रहे तो वही साधु है। गृहस्थी की तो प्रवृत्ति की बात होती है पर साधुओं की नहीं होती है। साधु जानते हैं— मेरा आनन्द मेरे से ही प्रकट होता है आनन्द का साधन तो केवल ज्ञान है, ओर कोई दूसरा अन्य साधन आनन्द का नहीं है। सो मैं स्वयं में रमकर ही अपने आप सुखी होऊँ।

नाहं देहो न जातिर्मे न स्थानं न च रक्षकाः।

गुप्तं ज्ञानं प्रपश्यामि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२-३६॥

अर्थ— मैं देह नहीं हूँ मेरी जाति नहीं है मेरा स्थान नहीं है और मेरे रक्षक भी कोई नहीं है। मैं तो अपने गुप्त अर्थात् जो दूसरों के द्वारा जाना नहीं जा सकता ऐसे ज्ञान को देखूँ और अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

मैं शरीर नहीं हूँ, यहां भीतर में देखो, क्या है? यह कौन सुखी दुःखी हो रहा है? शरीर या जीव। कल्पनायें और द्वन्द्व कौन कह रहा है? जीव कर रहा है या शरीर कर रहा है? शरीर नहीं कर रहा, जीव कर रहा है। शरीर भी मैं नहीं हूँ, फिर जाति मेरी कहां हो जायगी? मैं खंडेलवाल जाति का हूँ, मैं अग्रवाल हूँ इत्यादि, ये जातियां कैसे बन गयीं? कोई कहता है कि हम ब्राह्मण हैं, कोई कहता कि हम बनिया हैं। ये जुदा जुदा वर्णव्यवस्थायें शरीर के आधार पर हैं। मैं तो शरीर नहीं हूँ और न शरीर में हूँ। तो मेरा स्थान कहां है? मेरे रहने की जगह क्या है? मेरा स्वरूप ही मेरे रहने की जगह है। मेरा रक्षक कौन है? किसी में मेरी रक्षा करने की ताकत है ही नहीं। कोई भी जीव मेरी रक्षा करने की ताकत रखता है, ऐसी आशा करना व्यर्थ है। क्या मेरी रक्षा माता-पिता, दादा-दादी इत्यादि करेंगे? देखो वे गुजर गए पर उनका मेरी तरफ ध्यान भी नहीं है। अगर वे जिन्दा ही होते तो क्या मेरी रक्षा कर सकते थे? मेरी रक्षा तो मैं ही कर सकता हूँ। इस जगत में मेरी रक्षा कोई दूसरा नहीं कर सकता है। मैं अपने गुप्तज्ञान को देखकर अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी हो सकूंगा।

मेरा ज्ञान गुप्त है। कोई दूसरा जाननहार, पहिचाननहार नहीं है। अगर कोई पहिचाननहार बन जाय तो वह ज्ञाता दृष्टा बन जायगा।-उसमें रागद्वेष करने का लगाव नहीं रहेगा। मैं ऐसे ज्ञानस्वरूप को देखूँ और अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

केवलज्ञानमात्र के अनुभव के तरीके को पाकर अन्य सबको छोड़कर मैं यह विचार बनाऊँ कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरा स्वरूप ज्योतिमात्र है प्रतिभासमात्र है, आकाश की तरह अमूर्त है, किसी से पकड़ा जा सकने वाला नहीं है, किसी-से छेदा नहीं जा सकता है, भेदा नहीं जा सकता है, इस पर तलवार नहीं चलाई जा सकती। मैं तो निर्लेप आकाश की तरह शुद्ध, स्वच्छ चैतन्यस्वरूप हूँ। केवल जानन जानन ही मेरा स्वभाव है। इस पद्धति को जब मैं देखता हूँ तो आत्मानुभव की पहिचान होती है। मैं अपने इस गुप्त ज्ञान को देखकर अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

क्वान्योऽहं क्व च चिंता क्व क्वैकाग्र्यं क्व शुभाशुभम्।

इमे स्वस्माच्च्युतेस्तर्काः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२-४०॥

अर्थ—कहाँ अन्य है कहाँ मैं हूँ और कहाँ चिंता कहाँ एकाग्रता कहाँ शुभ कहाँ अशुभ ये सब अपने आपसे च्युत होने से तर्क होते हैं मैं तो अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

कहाँ तो अन्य हैं, कहाँ मैं हूँ? देखो प्रत्येक पदार्थ में कितना फर्क है। प्रत्येक पदार्थ अपने आप में झुके हैं। प्रत्येक पदार्थ अपनी-अपनी ओर ही मुड़े हैं। प्रत्येक पदार्थ का उसमें ही सत्व निहित है। परपदार्थ तो हमसे अत्यन्त जुदा हैं। उनसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। कोई परपदार्थ यदि हमसे १०० कोस की दूरी पर रहे तो १०० कोस का अंतर है। ऐसा क्या जो मेरे क्षेत्रावगाह में पर है उसमें अन्तर नहीं। वे भी हमसे जुदा हैं। जितना जुदा दूर का पदार्थ है उतना ही जुदा समीप का पदार्थ है।

दूध और पानी अलग-अलग गिलास में दूर-दूर पर रखे हैं। दूध और पानी में अन्तर समझ में आ रहा है। पर दूध और पानी दोनों को मिला दिया जाय तो क्या दोनों एक हो गए? नहीं, दूध में दूध है और पानी में पानी है। अगर किसी से पूछा जाय तो यही कहेंगे कि दूध और पानी एक में मिले हुए हैं। पर ऐसा नहीं है। दूध में दूध है और पानी में पानी है। इसके जाननहार परीक्षक हैं। परीक्षक यंत्रों के द्वारा जान लेते हैं कि दूध में दूध है और पानी में पानी है। बहुत भीतर सूक्ष्म अंशों में परीक्षा करने वाले ही यह अन्तर जान पाते हैं। दूध में पानी नहीं है और पानी में दूध नहीं है। देखो और भी भेदविज्ञान की बात। दूध में दूध है और पानी में पानी है, वे एक नहीं होंगे। दूध में घी है पानी में घी नहीं है। अन्तर पूरा का पूरा है। इसी प्रकार-इस शरीर में और इस जीव में कितना अन्तर है? अगर कोई यहां का लड़का हो और कोई दूसरा इंग्लैण्ड का हो तो क्या भिन्न होने में उनमें कोई अन्तर है? अन्तर कोई नहीं है। पर लोग लड़कों में अन्तर मानते हैं। वस्तु तो जैसी है वैसी ही है। सब कुछ तो ज्ञान की कलापर ही निर्भर है।

भैया! स्वरूपस्मरण ही वास्तविक सगुन है। सगुन तो कहते हैं पवित्र वीतराग को। मोहीजन

पति सहित स्त्री को तो सगुन मानते हैं और पतिरहित स्त्री को असगुन मानते हैं। अरे देखो भैया लोग कितना उल्टा कर रहे हैं ? जो स्त्री पतिरहित है, तपस्या करती है, आराधना करती है उसको लोग असगुन कहते या मानते हैं और जिसमें राग है उसे सगुन मानते हैं। अरे राग करने का क्या फायदा पावोगे, कोई कठिन अवस्था होगी, मरण सम्मुख रहेगा। इन रागों से आत्मा को कोई चीज मिलती हो तो बतलाओ। कुछ भी तो नहीं मिलता है।

अरे बाह्यक्रिया तो धर्म करने के लिए आलम्बन मात्र है। भगवान् अरहंत की मूर्ति को देखकर जिसको उनके स्वरूप की मुद्रा की खबर न हो, तो वह मूर्तिदर्शन नहीं है। अरे इस मूर्ति को देखकर अगर स्वरूप का ज्ञान आ जाय तो चारों ओर तुम्हें वैसा ही सब दिखाई देगा। शारीरिक वैभव आत्मप्रसाद पर निर्भर है। पूर्ण निर्मल अरहंत प्रभु हैं उनका परमौदारिक शरीर है जिनसे उनके चारों ओर मुख दीखते हैं, हैं नहीं। पूर्ण निर्मल भगवान् के चार मुख हो जावें ऐसा नहीं है। मुंह आगे पीछे ही अगल-बगल हो, ऐसा नहीं है। जैसे स्फटिक में दर्शन करने से स्फटिक मूर्ति के दोनों ओर एक सा मुख दीखेगा। एक मुख आगे नजर आयगा, एक पीछे। प्रभु के पवित्र शरीर में इससे भी अनुपम स्वच्छता है। उनका मुख चारों ओर से दीखता। आगे से पीछे से और दो मुख अगल-बगल नजर आवेंगे। जिनका शरीर पवित्र होगा उनको जहां से देखो तहां से ही उनके मुख दिखाई देंगे। देखो भैया ! यदि प्रभु का यह अतिशय न होवे तो दर्शकों में झगड़ा हो जावे और यह भावना हो जाय कि हम आगे बैठेंगे तो कलह ही तो होगा। किसी ओर बैठो तो क्या विवाद है क्योंकि दर्शन तो चारों ओर होंगे। तभी तो कहीं भी बैठ जाते हैं किसी को भी दर्शन में कोई रुकावट नहीं होती है। इन्द्र की रचना, कुबेर की रचना अद्भुत है तभी तो झगड़े का नाम नहीं है। यदि भगवान् के स्वरूप की ठीक-ठीक दृष्टि हो जाय तो यह शुभ काम कहलाता है। अगर ज्ञानी पुरुष को शुद्ध ज्ञान का अनुभव है और कदाचित् अपने स्वरूप से हटे तो यह अशुभ की बात है। स्वयं के स्वरूप में न शुभ है न अशुभ, न सगुन न असगुन। स्वरूप में तो शुद्ध ज्ञान है जो कि परम आनन्दमय है।

अरे यह प्रभु तो ज्ञानस्वरूप है। अपना ही अनुभव कर रहा है। भगवान् के दर्शन करने का प्रयोजन राग न रहे, ऐसा ध्यान न करो। अगर मिथ्यादृष्टि हटे, सम्बन्ध बुद्धि हटे तो शुद्ध विकास के कारण परमात्मस्वरूप का ध्यान हो जायेगा। आत्मा का स्वरूप तो शुद्ध ज्ञान है। यह स्वरूप स्वयं आनन्दमय है। मैं इस ही आत्मस्वरूप में रमकर स्वयं आनन्दमय होऊँ।

को दूरे कश्च सामीप्ये को बाह्य को मयि स्थितः।

ज्ञानमात्रमहं यस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२-४१॥

अर्थ— कौन दूर है और कौन समीप है और कौन मुझ में स्थित है क्योंकि मैं तो ज्ञान मात्र हूँ और इसीलिये मैं निज में निजार्थ स्वयम् सुखी होऊँ।

कौन मुझसे दूर है और कौन मेरे नजदीक है ? ज्ञानस्वरूप आत्मा को लक्ष्य में लेकर सोचो कि

कौन दूर है और कौन नजदीक है ? जब इतना ध्यान है कि ये जीव और शरीर जो मिले-जुले हैं वे भी अत्यन्त भिन्न हैं तब कौन दूर है और कौन समीप ? मुझ में तो मैं ही हूँ, देह भिन्न है। मेरे अन्दर केवल जाननहार आत्मा है जो कि विलक्षण पदार्थ है। इस आत्मतत्त्व की जिसे पकड़ होगी उसका जीवन सफल रहेगा। खूब धन वैभव बढ़ा लेने से कुछ नहीं मिलेगा। प्रवृत्ति का आग्रह नहीं छूटता।

भैया ! कहां क्या प्रवृत्ति करते हो ? अपने स्वरूप से सब अलग हैं। फिर हमसे क्या दूर है ? और क्या नजदीक है ? क्या हमसे दूर इलाहाबाद है और कानपुर नजदीक है ? अरे जिस शरीर के अन्दर हम रहते हैं वह भी अत्यन्त भिन्न है। अच्छा हम पूछते हैं ? बतलाओ कि क्या हम कानपुर में रहते हैं ? क्या हम हिन्दुस्तान में रहते हैं। नहीं, हम अपने आपके प्रदेश में रहते हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप में है। कोई पदार्थ किसी जगह नहीं है। हम आकाश में भी नहीं हैं। आकाश में हमारा होना तब कहलाता जब हम पहिले तो आकाश से बाहर होते फिर आकाश में आते। तो भाई हम आकाश में भी नहीं हैं।

मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसी अपने आप में अपने ही स्वरूप की खबर रहे, अपने ही स्वरूप की पकड़ रहे, अपने ही स्वरूप का अनुभव रहे तो मैं अंत में अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी हो सकता हूँ।

संचितं कर्म चेदस्तु तेन स्पृष्टोऽपि नो ह्यहम्।

अद्वैतोऽहमयं तस्मात्स्यां स्वस्मै सुखी स्वयम्॥२-४२॥

अर्थ— संचित हुआ कर्म है तो होओ निश्चय से मैं उसके द्वारा छुआ हुआ भी नहीं हूँ यह मैं तो अकेला अद्वैत हूँ इसलिये मैं अपने आप अपने में अपने लिये सुखी होऊँ।

इस आत्मा के साथ बहुत से कर्मों का बन्धन हो गया है। कहते हैं कि कर्मों का बन्धन है तो बना रहे पर हम उन कर्मों से छुवे हुए ही नहीं हैं, उनसे जुदा ही हैं। अच्छा बताओ, आकाश भीत से छुवा है क्या ? कैसे छुवा जा सकता है। यह भीत तो मूर्त है और आकाश अमूर्त है। एक मूर्त वस्तु अमूर्त वस्तु से छुई हुई नहीं हो सकती। मूर्त अमूर्त की बात तो दूर रही मूर्त मूर्त से भी छुवा हुआ नहीं होता। यह पुस्तक क्या चौकी से छुई हुई है ? अरे यह पुस्तक अपने स्वरूप में है और चौकी अपने स्वरूप में है। इसी तरह परमार्थदृष्टि से देखो विशिष्टाद्वैत कर्मों का संचय आत्मा में है तो रहे, मैं कर्मों से छुवा हुआ नहीं हूँ। मैं तो अद्वैतस्वरूप हूँ। किसी भी पदार्थों के बारे में विकल्प किया कि अच्छा है, तो हम फंस गए। अपने उपयोग से आप ही हम फंस गए। मैं तो कर्मों से छुवा हुआ नहीं हूँ। सो मैं इस अद्वैत स्वरूप को देखकर अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

ये कर्म क्या चीज हैं? कार्माणवर्गणायें सूक्ष्म भरी हुई हैं। जब कर्मबन्धन होता है तो वे कार्माणवर्गणायें कर्मरूप हो जाती हैं। मैं उन कर्मों से छुवा हुआ नहीं हूँ। मैं अद्वैतरूप हूँ, सो मैं इस अद्वैतरूप को देखकर अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

ग्रामे वने निवासो मे विकल्पोऽनात्मदर्शिनः।

स्वे ज्ञाने ज्ञस्य वासोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२-४३॥

अर्थ— मेरा ग्राम में निवास है यह विकल्प अनात्मदर्शी (अज्ञानी) के होता है निश्चयसे आत्मदर्शी का निवास ज्ञानमय स्वयं में होता है इसलिये मैं इस ही ज्ञानमय स्वमें स्व के लिये स्वयम् सुखी होऊँ।

मेरा ग्राम में निवास है अथवा मेरा वन में निवास है, ऐसा विकल्प कौन करेगा ? जिसकी अनात्मदृष्टि है। पर ज्ञानी देखता है कि मेरा तो ज्ञान में निवास है। लोक भी अनादि से है और हम भी अनादि से हैं। मैं कैसे लोक में हूँ। अरे मैं तो अपने ज्ञानस्वरूप में हूँ। ये दुनिया भरके जितने समागम मिलते हैं, अंत में कुछ रहने का नहीं है। भैया ! जब इन समागमों को त्यागोगे तभी मुनाफा मिल पायगा अन्यथा इस संसार में ही भटकना बना रहेगा। तुम अपने स्वरूप को देखकर बतलाओ कि तुम कहां रहते हो ? अरे यह कहीं नहीं रहता। यह अपने ज्ञानस्वरूप में ही रहता है। इस ज्ञान के स्वरूप में जिसकी नजर रहती है उसके परपदार्थों से मोह नहीं रहता है। तब ग्राम में निवास हो कि वनमें निवास हो ? ऐसा विकल्प अनात्मीय जीव के होता है। ज्ञानी तो अपने ज्ञानस्वरूप को देखकर अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होता है। तब मैं अन्यत्र हूँ ही नहीं, केवल ज्ञान में ही रहता हूँ। ऐसा मानकर सारे विचार खत्म करो और अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ।

यातायाताणुपुब्जोऽयं देहोऽहं तु स्थिरः परः।

मे प्रवेशो न कस्मिंश्चित्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२-४४॥

अर्थ— यह देह यात आयात अणुओं का समूह है परन्तु मैं स्थिर और सारभूत अथवा देहादि से जुदा द्रव्य हूँ मेरा किसी भी अन्य द्रव्य में प्रवेश नहीं है और किसी भी अन्य द्रव्य का मुझ में प्रवेश नहीं है इसीलिये मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

यह शरीर जो है, वह आने-जाने वाले परमाणुओं का समूह है बहुत से परमाणु आए और बहुत से गए— ऐसे यातायात, अणुओं का समूह शरीर है। मैं तो एक स्थिर चीज हूँ। आज मिलाप हो गया, कल बिछुड़ गया, ऐसी यह चीज है। मैं तो शाश्वत अद्वैत सारभूत चीज हूँ और देहादिकं से जुदा हूँ। मेरा किसी अन्य में प्रवेश नहीं है। किसी अन्य द्रव्य का मुझमें प्रवेश नहीं है। अतः मैं अपने ही स्वरूप को देखकर अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है। यही कारण है कि कोई किसी के विरुद्ध या अविरुद्ध कुछ भी परिणति नहीं कर सकता है। क्योंकि सब अपनी अपनी परिणति से ही परिणमते हैं। हैरानी व्यर्थ को कर लेते हैं कि यह मेरा बच्चा है। है नहीं यद्यपि उनका बच्चा। पर मोहीजन व्यर्थ में ही सोच लेते हैं कि मेरा बच्चा है। अरे तुम अपना काम करते हो, वह अपना काम करता है। बच्चा अपने अस्तित्व में परिणमता, तुम अपने कषाय में मस्त हो रहे हो।

यहां बच्चे लोग गेंद खेलते हैं, नाली के पास गेंद जा रही है। १०,२० हाथ पर गेंद है पर बच्चे

उसे अपना हाथ हिला-हिलाकर रोकना चाहते हैं। गेंद अपने आप आगे बढ़ती जा रही है पर बच्चे हाथ हिलाहिला कर उसे रोकना चाहते हैं। गेंद इस तरह से तो नहीं रुकेगी। कोई खाता हो और खाते में गले में उसका लगता हो तो माँ भी गले में ठसका लगाने लगती है। और माँ के गले में ठसका लगने से क्या उसके गले का ठसका ठीक हो जायगा। नहीं, फिर भी कर्तृत्वबुद्धि के ये नाच होते हैं। अरे ये तो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। किसी के कहने से कुछ होता है क्या ? केवल विकल्प किए जाओ। भैया ! अपना किसी भी परपदार्थ से सम्बन्ध नहीं है। अतः मैं अपने में ही रहकर अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

व्यवहारे परावस्था निश्चये ज्ञानमात्रता।

ज्ञानमात्रे पराश्रयः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२-४५॥

अर्थ— परपदार्थ की अवस्था अथवा आत्मा की विभाव अवस्था या आत्मा की क्रियाकारक दशा व्यवहार में ही है निश्चय में तो ज्ञानमात्र अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

परकी अवस्था विभाव की अवस्था जो है वह व्यवहार से मानी गयी है। निश्चय में तो ज्ञानमात्र आत्मा है। पदार्थों का किससे निर्माण होता है? स्ट्रक्चर क्या है आत्मा का और किससे इसका निर्माण है, इस बात को तो देखो। भैया! ऐसा विचित्र गुण आत्मा का है जो अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है। ज्ञानरूप परिणमन रहता है। मेरी ज्ञानमात्र अवस्था है। यह जीव ज्ञानस्वरूप है सो ज्ञान से ही निर्मित है, अनादि से निर्मित है स्वभाव से निर्मित है। गति, इन्द्रिय, काय, योग, विषय, कषाय इत्यादि ये सब व्यवहार से माने गए हैं। ये सब आत्माका स्वरूप नहीं हैं। आत्मा का स्वरूप तो ज्ञानमात्र अवस्था है। ये जो व्यवहार में रूप, रंग, इज्जत, क्रोध, मान, कषाय, राग, द्वेष आदि हैं ये सब मेरे में नहीं हैं। मेरा स्वरूप तो केवल ज्ञानमात्र है। अपने स्वरूप का पता लग जाय तो कहना चाहिए कि समीचीन दृष्टि हो गयी। अपना स्वरूप अन्य सर्व अचेतनों से न्यारा है, यदि यह समझ में आ जावे तो आकुलतायें मिट जावेंगी। निश्चय से मेरा स्वरूप ज्ञानस्वरूप है। तो उत्कृष्ट शान्ति तो स्वरूप के देखने में है। किन्तु मोह में कैसी कैसी विचित्र परदृष्टियाँ हैं।

यथार्थ जीव का क्या स्वभाव है ? इसको पहिचानो और बाह्यपदार्थों से हटकर अपनी यथार्थ बुद्धि में आवो। मेरा यहां क्या ? मेरा यहां क्या हो सकता है? मैं यहां क्या कर सकता हूँ? केवल ज्ञान की वर्तना ही ज्ञान का आत्मा का स्वभाव है। यहां जितने कषायोंका परिणमन है वह कुछ भी इस ज्ञानस्वरूप में नहीं होता है। शान्ति तो ज्ञानमात्र के दर्शन में ही है। क्यों शान्ति है? ज्ञानमात्र में ज्ञानमात्र स्वरूप को सोचो कि मैं केवल जाननमात्र हूँ जानन ही मेरा कार्य है तो वहां विकल्प नहीं हो सकते। सो शान्तिका मार्ग शीघ्र मिल जायगा। अपने आपको जैसा मानता है तैसा ही बन जाता है।

इन्द्रिय विषय शान्ति के लिए हों तो बतलाओ। लोग यद्यपि साधारणतया जानते हैं कि सब मिट जावेंगे फिर मोह करते हैं। अगर मोह बाह्य से है तो ज्ञान कैसे प्राप्त होगा ? अब भीतर से बोध हो तब तो भीतर वह असर करता है। मैं कुछ नहीं करता। मेरा कोई काम नहीं है। मेरा काम तो शुद्ध

सुख यहाँ द्वितीय भाग

होनेका है, निर्विकल्प होने का है। यदि यह विचार न बना तो संसार में भटकना ही पड़ेगा और ऐसा ज्ञान बने कि मेरा काम शुद्ध होने का है, निर्विकल्प होने का है तो शान्ति मिल सकती है। सो मैं अपने ज्ञानमात्र स्वरूप को देखकर अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

रागादिवर्णतः प्रत्यग्ज्ञाते ते प्राप्स्यामि शशिवम्।

विकल्पो विघ्नकृद्यातु स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२-४६॥

अर्थ— रागादि विभाव व वर्णरसादि से भिन्न मेरे ज्ञान लिये जाने पर शिव स्वरूप सुख प्राप्त करूँगा विघ्न करने वाला विकल्प जाओ हटो मैं तो स्वयम् स्व के लिए स्व में सुखी होऊँ।

पदार्थ स्वयं अपने आप जैसे हैं वैसे ही रूप में उनका ज्ञान हो जाना, यही ज्ञानयोग है, समाधि है, कल्याण है। मैं आत्मा अपने आप स्वयं अपनी सत्ता से क्या हूँ, इस बात की समझ ही सर्व शिव है। जगत में क्या क्लेश होंगे ? परपदार्थों के परिणमन चलते हैं, उनको लक्ष्य में लेकर, ध्यान में लेकर बहिर्मुख बनकर यह आत्मा अटपट ख्याल बनाया करता है— इतना ही तो दुःख है। इसके आगे हम और आपको क्या दुःख है ? ख्याल बनाना इतना ही हमारा ऊधम है। परपदार्थों का ख्याल कर लिया और दुःखी हो गये। कुछ करने को काम पड़ा है, इतनी पर्यायबुद्धि की कि विवश हो गए। इसीलिए भाई ! पर्यायबुद्धिता हो तो दुःखी होना ही पड़ेगा। अभी देखो प्रायः प्रत्येक बन्धु अपने भीतर बड़ी-बड़ी अटक बनाए हुए हैं। घर की अटक है, रोजगार की अटक है, इज्जत की अटक है और नहीं तो दुःख कहां है ? दुःख नाम की चीज क्या बताओगे ?

कुछ सोच लो, देख लो, बता दो कि वास्तव में दुःख क्या है ? जिन युक्तियों से अच्छी तरह बताया जा सके कि भाई यह दुःख है। भाई इन समस्त दुखों का एक ही आधार है। वह आधार है अज्ञान।

जब एक अपने आपके सही स्वरूप का पता पा लिया तो बाह्य में कुछ हो, ज्ञानी तो अन्तर में प्रसन्न रहता है। जब यह समझ में आ जाय कि मैं क्या हूँ तब धर्म का मार्ग भी प्रकट होता है। यथार्थ ज्ञान किये बिना अपने आपके दिल को जबरदस्ती कहीं लगाओ, व्रत, तप आदि में लगा लो, केवल जबरदस्ती की बात है। आपने अगर अपना उपयोग धर्म में लगाया तो यह सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के सीधे रास्ते की बात यह है कि अपने आपकी सहज स्वरूपसत्ता को पहिचान लो। इसी से सब ठीक हो जायगा। मोक्ष का मार्ग प्राप्त हो जायगा।

केवल एक अपने आपके स्वरूप का पता सही नहीं है, बाह्यपदार्थों में अपना उपयोग लगा रहे हैं, और धर्म के कार्य भी कर रहे हैं। कार्य क्यों कर रहे हैं ? वह धर्म के वास्ते दिनचर्या बन गयी है।

सत्य की झलक आ जाय, आनन्द का अनुभव हो जाय तो सारी परेशानियों की झलक विलीन हो जायगी। जब तक अपने सत्यस्वरूप का अनुभव नहीं है, अपने सही स्वरूप का परिचय नहीं है, यह नहीं पता है कि मैं क्या हूँ तो उसे क्लेश ही रहेगा।

भैया ! परपदार्थों का अवलम्बन छोड़ दो तब आत्मस्वरूप का अनुभव कर सकोगे। मैं अपने आप क्या हूँ, यह जानना चाहूँ और बाह्यपदार्थों का अवलम्बन राग द्वेष बनाए रहूँ तो अपने आपके स्वरूप का पता नहीं चलेगा। सबसे बड़ा और मोटा काम जल्दी कर लेने का यह है कि पर को पर जानो, अहित जानो और पर से उपेक्षा करो। परपदार्थों को अपने उपयोग में लाने की जरूरत नहीं। इतना करने पर अपने भीतर में दृष्टि डालो तो अपने स्वरूप का पता लग जायगा। बाह्यपदार्थों को अपने उपयोग में लाने की जरूरत नहीं। भीतर में ज्ञान और शान्ति का अथाह सागर लहलहा रहा है बाह्यपदार्थों को अपने उपयोग से छोड़ोगे, उन्हें पर जानोगे तो अपने आपके स्वरूप का पता सुगमतया लग जावेगा, कल्याण होगा। परको अपनाना और शान्ति पाना दोनों एक साथ नहीं हो सकते।

एक कथानक आता है कि दो चींटी थी। एक रहती थी शक्कर के बोरो में, खूब शक्कर खाया करे और दूसरी चींटी एक नमक की दुकान में रहती थी, वह भी जब भूख लगती तो जो कुछ नमक मिलता वह खा लेती थी। किसी तरह से नमक आदि से अपना पेट भर लेती थी। एक बाद शक्कर के बोरो में रहने वाली चींटी नमक की दुकान में रहने वाली चींटी के पास गयी। बोली कि बहिन! यहां तो तुम्हें बड़ा दुःख है। यहां पर खारा खाना है, मैं तो यहां पर एक घंटा भी नहीं ठहर सकती। नमक की दुकान में रहने वाली चींटी बोली - क्या कहती हो, यहां तो बड़ा आनन्द है, मौज है। अरे यहां से ज्यादा आनन्द वहां है जहां पर मैं रहती हूँ। यह बताकर शक्कर के बोरो में रहने वाली चींटी नमक की दुकान में रहने वाली चींटी को लेकर अपने यहां गयी। नमक की दुकान में रहने वाली चींटी को यह विश्वास न हुआ कि वहां पर कोई बढ़िया चीज मिलेगी सो अपने मुंह में नमक की डली दबाकर चली। इस तरह अपना दिन का नाश्ता साथ में ले लिया। शक्कर में रहने वाली चींटी ने कहा कि बहिन! विलक्षण आनन्द आया यहां या नहीं ? फिर पूछा कि क्या आनन्द आया तो नमक की चींटी बोली कि कोई आनन्द नहीं आया। शक्कर की चींटी बोली कि तुम चोंच में क्या लिए हो ? बोली कि नमक की डली। अरे तुम तो नमक की डली दबाए हो इसलिए आनन्द नहीं आया। नमक की दुकान में रहने वाली चींटी बोली कि मैंने सोचा था कि शायद वहां कुछ न मिले इसलिए उसे साथ में ले लिया था। शक्कर में रहने वाली चींटी बोली कि अरे इसे हटा दो। अपनी चोंच को साफ कर लो, तब शक्कर के कणों को खावो तो आनन्द आयेगा।

तो हम करते हैं धर्म में क्या कि मन्दिर रोज जाते हैं और अपनी चोंच में, अर्थात् अपने दिमाग में बाह्य चीजों को बसाए हुए रहते हैं। अगर हम बाह्य चीजों को मन्दिर में दर्शन करने में भी बसाए रहते हैं तो उससे कोई लाभ नहीं होता है। न तो शान्ति ही प्राप्त होती है और न आनन्द ही मिल पाता है। प्रभु के दरबार में आए हैं, प्रभु की भक्ति को तैयार हैं तो एक बार तो हृदय साफ होना चाहिए।

दिमाग दिल की सफाई यही है कि अपनी सहज सत्तास्वरूप में अपने को देख लो। जिसमें अपना चतुष्टय हो, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव हो, अन्य सबसे जो विविक्त हो उस अपने आपको जानो कि मैं क्या हूँ ? पर को जानने से कोई प्रयोजन नहीं। परपदार्थों से तुम्हारा नाता ही क्या है ? जिनका जैसा स्वरूप

सुख यहाँ द्वितीय भाग

है वैसा ही मानना, ये ही ज्ञान है। ऐसी हिम्मत करो, ऐसा साहस करो, ऐसा उपयोग बनाओ, ऐसी स्वच्छ, साफ निर्लेप भूमिका बनाओ कि बहिर्मुखी दृष्टि हट जाय तो अपने आपके स्वरूप का पता लगाना सुगम है। अपने आपको यह पता लग जायगा कि मैं क्या हूँ? मैं एक ज्ञानमात्र विलक्षण वस्तु हूँ, दुनिया में सब पदार्थों से विलक्षण, समस्त जीवों में एक रस, चैतन्यमात्र हूँ, ऐसी जब जीव के स्वरूप की दृष्टि पड़ती है तो बाह्य चीजों से कुछ लगाव नहीं रह जाता है। तो जब मैं अलग हूँ तो मेरा जगत् में कुछ नहीं रहा।

जब मैं भीतर में उठने वाले रागादिक भावों से न्यारा होऊँ, परपदार्थों से प्रकट न्यारा होऊँ और अपने आप में यह भाव बने कि मैं केवल जाननमात्र हूँ, जानन ही मेरा स्वभाव है। जानन के अतिरिक्त मेरा कोई काम नहीं है। मैं एक हूँ, अछूता हूँ, ऐसा विलक्षण पदार्थ मैं एक चेतन हूँ, ऐसा ज्ञान यदि अपने आप में आवे तो शान्ति प्राप्त होगी, अनुपम आनन्द प्राप्त होगा। यदि मैंने इतना अपने आपको जान लिया तो शुद्ध स्वरूप की पहिचान पूर्णरूपेण हो सकती है। विघ्न डालने वाली चीज केवल विकल्प है।

भैया ! ये विकल्प सताने के लिए आते हैं, विघ्न डालने के लिए आते हैं। ये विकल्प ही दुःखों की परम्परा को बनाया करते हैं। सो अपने सहज स्वरूप का विचार कर विकल्पों से रहित तथा रागादिक भावों से रहित अपने आपको देखूँ व यह अनुभव करूँ कि मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ। अपने को केवल ज्ञानस्वरूप नजर आए तो अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी हो सकते हो। अगर अपने इस स्वरूप का पता नहीं है तो जगत् में रलना ही बना रहेगा, शान्ति नहीं मिल सकेगी। यदि अपने स्वरूप की दृष्टि रहे इस दुनिया में अपने आपके स्वरूप को जान लिया तो असीम आनन्द प्राप्त होगा। यदि व्यर्थ की बातें सोचते रहे तो सदा दुःख ही प्राप्त होते रहेंगे। बाह्य वस्तुएं मायामयी चीजें हैं। उन बाह्य वस्तुओं से पूरा नहीं पड़ने का है। यदि अपने स्वरूप को जान लिया तो मैं सुलझ गया फिर कष्ट मुझे सता नहीं सकते। इतना साहस हो जायगा कि यदि कभी कष्ट आ जायें तो उनको झेलने के लिए तैयार हो जाऊंगा।

यह सब अपने ज्ञानस्वरूप के कल्याण का प्रताप है। अगर ज्ञान है तो सब कुछ है और अगर ज्ञान नहीं है तो कुछ नहीं है। जन्म हुआ, फिर मरण हुआ। फिर वही शरीर आ गया। फिर वही हाल हो गया। इस जन्म मरण के चक्र से मुक्ति के लिए स्वाधीन उपाय करने का काम है, भीतर में ज्ञान उत्पन्न करने का काम है। बनावट, दिखावट, सजावट इत्यादि का काम नहीं है। जिसमें अपने कल्याण की भावना हो गयी है वह छिपे छिपे ही अपने आप सुखी हो जाता है अपना शुद्ध धर्म कर लेता है।

एक बुढ़िया थी। उस बुढ़िया का एक छोटा लड़का रलिया था। रलिया से बुढ़िया ने कहा कि बेटा जाँ बाजार से साग खरीद ला। रलिया बोला कि बाजार मुझे न भेज, क्योंकि बाजार में मैं रल जाऊंगा।

बुढ़िया बोली कि अच्छा बेटा ! लो यह धागा कलाई में बांध लो तब फिर तुम नहीं रलोगे। मां बोली— बेटा, अब तुम निःशंक होकर जाओ। जब तक यह धागा कलाई में है तब तक नहीं रलोगे।

अब वह रुलिया धागा बांधकर बाजार चला। भीड़ भड़क्का में वह धागा, कच्चा होने के कारण टूट गया। अब तो रुलिया रोने लगा। बोला - देखो मां मैंने तुमसे कहा था कि मुझे मत भेजो, मैं रुल जाऊंगा। लो अब मैं तो रुल गया। बुढ़िया बहुत परेशान हुई। बुढ़िया बोली - अच्छा बेटा तू सो जा, थक गया होगा। रुलिया के सोते में ही बुढ़िया ने धागा कलाई में बांध दिया। जब सोकर रुलिया जगा तो बुढ़िया बोली कि देख बेटा तेरा धागा कलाई में है तो। रुलिया बोला कि हां मां! मेरा मैं मिल गया।

देखो जैसे रुलिया धागे को न देखकर अपनी मां से कहता है कि हाय मैं तो रुल गया, उसी प्रकार से ये जगत् के मोही प्राणी अपने चैतन्यस्वरूप को न देखकर कहते हैं कि हाय मैं तो रुल गया। भैया! परवस्तु में ज्ञान आनन्द ढूँढ़ना ही तो रुलना है। हम चेतन पदार्थ हैं, हमारा यह कर्तव्य है कि जो यह उपयोग तूफान मचा रहा है उसको अपने चित् स्वरूप से बांधे रहो।

हम अपने ज्ञानस्वरूप को खोल लें और अपने आपको यह अनुभव करें कि मैं आनन्दमय हूँ, विलक्षण पदार्थ हूँ, किन्तु सर्व जीवों में एकस्वरूप ज्ञानमात्र पदार्थ हूँ। दृष्टान्त के अनुसार यहां समझो कि जिनवाणी माता ने मुझ बच्चे के उपयोग रूपी कलाई में चैतन्यस्वरूप का धागा बांध दिया है। देखो वह मां तो बुढ़िया थी पर अब यह मां भी वर्द्धमान याने बढ़ी हुई सर्वोत्कृष्ट हो गयी है। अब तो मां तुमको समझा रही है। धागा बांधती है, बार-बार प्यार करके कह रही है कि जिसमें चैतन्यस्वरूप है वही तू है। जब चैतन्यस्वरूप की दृष्टि टूट जाती है तब तू रुलता फिरता है। सो अब अपने को देख और सुखी हो।

मैं अपने आनन्द की तलाश में इधर-उधर घूमता हूँ, फिर भी आनन्द नहीं मिलता है। अरे मैं तो स्वयं आनन्दमय हूँ। मेरे में आनन्द कहीं बाहर से नहीं लाना है। मैं तो ज्ञान और आनन्द को लिए हूँ। ऐसा ज्ञानमात्र, सबसे निराला जाननस्वरूप हूँ, जानन ही मेरा काम है। जानन के अतिरिक्त मेरा अन्य कोई काम नहीं है। मैं सबसे अच्छा एक विलक्षण पदार्थ हूँ। इतना पता होने से मेरा कल्याण हो सकता है।

देशो देहश्च भिन्नात्मा विकारस्तस्य योगतः।

सर्वे भिन्नाः स्वतस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२-४७॥

अर्थ- देश, देह और परमात्मा तथा पर के आश्रय से होने वाला विकार ये सब निज आत्मा से भिन्न है इसलिये पर दृष्टि को छोड़कर स्वयं ही अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊं।

देश और देह ये भिन्न स्वरूपी हैं। इनसे मेरा सुधार बिगाड़ नहीं है, किन्तु उनके योग से अर्थात् उनको विषयभूत बनाकर इस आत्मा में विकार ही उत्पन्न किये जाते हैं। ये सबके सब मुझ इस स्व से भिन्न हैं। मैं यह स्व केवल चैतन्यस्वरूप हूँ। इसमें तो विकार को भी अवकाश नहीं है, इसी कारण स्वरसतः आत्मा में आत्मा के स्वरूपास्तित्व के कारण विकार नहीं होते। विकार होते हैं, किन्तु ये दर्पण में प्रतिबिम्ब छाया कि तरह होते हैं ये अपने आधार में जमाव नहीं रखते। इन परभावों को अपनाने

सुख यहाँ द्वितीय भाग

के ही अपराध में यह विकार बढ़ता रहता है। यह विकार कैसे मिटे, तो इसका प्रारंभ ज्ञान से ही होता है और ज्ञान भी ऐसा ज्ञान जो ज्ञान के स्वरूप के ही जानने में समर्थ हो जाय। यह बात भी तब हो पाती है जब हम ज्ञानातिरिक्त भावों के स्वरूप का परिचय पा लें। पृथक् प्रदेशवान् देह देशादि की तो कथा ही क्या की जावे, जब तक आत्मभूमि में प्रतिभास विकार भावों का भी अंगीकार है तब तक यह अज्ञानी है।

देखो भैया ! प्रत्येक मनुष्य में यह इच्छा होती है कि मैं पदार्थों का सही-सही ज्ञान करूं। किसी भी मामले में जब तक यह शक होता है कि जो मैं जान रहा हूं वह सच है या नहीं। इसमें ही उसे आकुलतायें हो जाती हैं और जब तक ये आकुलतायें रहती हैं तब तक उसे चैन नहीं मिलती है। उसे चैन तब तक नहीं मिलती है जब तक कि पदार्थों को सही न जान जाय। इस कारण पदार्थों को सही सही जानना ही आनन्द प्राप्त करने का उपाय है। पदार्थों को सही सही जानने की तरकीब क्या है ? इस तरकीब को जैन सिद्धान्त ने स्याद्वाद याने अपेक्षावाद माना है। अन्य वैज्ञानिक विद्वानों ने भी अपेक्षावाद नाम से कहा है। जैसे हम किसी मनुष्य के बारे में सही जानकारी करना चाहते हैं तो उस मनुष्य के बारे में नाना अपेक्षाओं से ज्ञान करेंगे। यह जानेंगे कि यह अमुक का पिता है, अमुक का लड़का है, अमुक व्यापार करने वाला है, अमुक सभा सोसायटी का मेम्बर है आदि अनेक बातों की जानकारी करनी पड़ती है। बीसों बातें उसकी जानकारी के लिए ज्ञात करनी पड़ेंगी। ये ज्ञान अपेक्षा लेकर है। जैसे यह पिता है तो सबका पिता नहीं है, यह पुत्र है तो सबका पुत्र नहीं है। यह पुत्र तो अमुक बुद्धे का है। पीछे अपेक्षा की बात लगा लगाकर इसकी बात कही जा रही है। जैसे चौकी को जानना है तो कहेंगे कि यह चौकी कैसी है ? तो यह ५ फिट लम्बी है, ३ फिट चौड़ी है और २ फुट ऊंची है तो ५ फिट लम्बाई की अपेक्षा है, ३ फिट चौड़ाई की अपेक्षा है और २ फिट ऊंचाई की अपेक्षा है। किसी अन्य पदार्थ की जानकारी करना होती है तो नाना बातें जाननी होती हैं। कैसे सही जानूं और कैसे बात मैं स्वयं समझूं ? इसका किसी एक हठ से ज्ञान नहीं होता है।

जैसे एक दृष्टान्त है कि ४ मनुष्य जो अंधे थे एक हाथी की परीक्षा करने को चले। एक अंधे ने पैर पकड़ा तो बोला कि अरे यह तो खम्भा जैसा है। एक अंधे ने कान पकड़ा तो बोला कि यह तो सूप जैसा है। एक ने पेट पकड़ा तो बोला कि यह तो मोटे ढोल जैसा है। एक अंधे ने पूंछ पकड़ी तो बोला कि हाथी तो कंटीला होता है। चारों के भिन्न-भिन्न उत्तर आए। चारों में विवाद हो गया, लड़ाई हो गयी, मार पीट हो गयी। पेट पकड़ने वाला अंधा बोला कि हाथी तो ढोल का जैसा है पैर पकड़ने वाला अंधा बोला—नहीं यह तो खम्भा जैसा मोटा है, पूंछ पकड़ने वाले अंधे ने कहा—नहीं, नहीं यह तो कंटीला है, कान पकड़ने वाले अंधे ने कहा कि अरे नहीं यह तो सूप जैसा है। इस तरह से चारों अंधों में लड़ाई हो गयी। बाद में कोई सूझने वाला आया, बोला— हां, भाई सबकी बात ठीक है। उन्हें अपेक्षा समझा दी अन्य अंगों का स्पर्श करा दिया। इसी तरह भैया ! किसी पदार्थ के बारे में सच्चा निर्णय जब अनेक अपेक्षाओं से किया जाता है तब सच्चा निर्णय कहलाता है।

अब भैया ! आत्मा के सम्बन्ध में जानकारी करना हो तो स्याद्वाद का प्रयोग करना कि यह आत्मा क्या पदार्थ है ? जिस आत्मा में ज्ञान और आनन्दभाव ही नजर आता है। ज्ञान और आनन्दस्वरूप को जानने से ही आत्मा की जानकारी होती है सो यह ज्ञानानन्दघन आत्मतत्त्व के बारे में प्रश्न किया जाता है कि बतलाओ यह आत्मा नित्य है या अनित्य, अर्थात् आत्मा सदा रहने वाली चीज है या मिट जाने वाली चीज है ? क्या उत्तर आयेगा ? आत्मा एक सत् है जो सदा रहने वाला है, कभी नाश नहीं होता है इस दृष्टि से तो आत्मा नित्य है। कोई भी वस्तु हो वह सदा रहती है सिर्फ शक्ल बदल जाती है। हवा का पानी बन जायगा, पानी की हवा बन जायगी, हवा गैस बन जायगी। कुछ भी परिवर्तन हों मगर जो चीज है उसका कभी नाश नहीं होता है। जो सत् है उसका विनाश नहीं होता है। यह आत्मा सदा रहने वाला है, अविनाशी है। मगर एक ओर से देखो जो चीज होती है उसका प्रतिक्षण दशा में परिवर्तन हुआ करता है। जैसे कि वर्तमान समय में आदमियों की कई शक्तें हैं। हम और आप में देखो कितनी शक्तें बनी रहती हैं। विषयकषायों में रत रहते हैं। पशु-पक्षी इत्यादि नाना योनियों में भ्रमण किया करते हैं। यही उनकी परिणतियां हैं। जो बात उनकी अब हम देखते हैं वह सदा नहीं पायी जाती है। जब परिणति के आधार को देखो तो अनेक परिणतियों में रहकर भी अपनी स्वरूप सत्ता में चलते हैं।

जैसे एक अंगुली को कोई पूछे कि कैसी है तो कहेंगे कि अंगुली सीधी है, टेढ़ी है, नाना रूपों में बन जाती है, तो नाना रूपों में अंगुली बदलती है, सो ठीक है। मगर नाना रूपों में बदलने वाली अंगुली एक है कि नाना हैं वह तो एक है। जो पर्याय है वह माया है, अनित्य है और जो एक कुछ है वह परमार्थ है। परमार्थ से ब्रह्म और व्यवहार से माया में कैसा सम्बन्ध है कि ब्रह्म के बिना माया नहीं ठहरती और माया बिना ब्रह्म नहीं ठहरता। सत्य के समय में असत्य भी है और असत्य के समय में सत्य भी है। असत्य तो यह विकल्प संसार है। तो आत्मा क्या है? सत्य दृष्टि से देखो तो आत्मा नित्य है और परिणति की दृष्टि से देखो तो आत्मा एकरूप में टिकने वाली नहीं, अतः आत्मा अनित्य है।

अब बताओ आत्मा एक है कि नाना है। आत्मस्वभाव को देखो तो आत्मा एक है, किन्तु जब पर्याय दृष्टि से देखो तो नाना छायारूप बनाने वाले नाना रूपों के कारण बन गए और चतुष्टय की अपेक्षा से भी आत्मा नाना हैं। इस कारण आत्मा के बारे में पूछो कि यह आत्मा एक है कि अनेक है तो उत्तर दोनों होंगे। आत्माका स्वरूप चैतन्य है, चित्स्वभाव है। उस चिदानन्द शक्ति में दृष्टि दो तो आत्मा एकस्वरूप मालूम होता है, कोई अन्य रूपों में नहीं मालूम होता है। देखो भैया, इन शक्तों का भारी अन्तर पाया जा रहा है ? आपका दिमाग और प्रकार है, इनका दिमाग और प्रकार का है। भिन्न-भिन्न परिणतियाँ लिए हुए हैं। परमार्थ दृष्टि से देखो तो ये सब एकस्वरूप हैं। आत्मा केवल नजर नहीं आता है। जो उसका स्वरूप है वही स्वरूप मेरा है। जो आपका स्वरूप है वही सब जीवों का स्वरूप है। स्वरूप की दृष्टि में एक का दूसरे से कोई अन्तर नहीं नजर आता है। जिस दृष्टि से स्वरूप में अन्तर नहीं नजर

सुख यहाँ द्वितीय भाग

आता है उस दृष्टि से अहंकार मिट जाता है। इज्जत और पोजीशन अहंकार बढ़ाते हैं। इसी से योगीजन पोजीशन का विकल्प छोड़कर अपने आत्मस्वरूपमें रमते हैं।

‘रमन्ते योगिनो यस्मिन्निति रामः’—जहाँ पर योगी जन रमते हैं वही राम है। इसे ही आत्माराम कहते हैं। आत्मा के साथ राम शब्द लगा हुआ है। वह आत्मा स्वरूप से एक है, परन्तु जब अनुभव से देखते हैं, परिणति से देखते हैं तो सुख, दुःख, भ्रम, शांति सबके न्यारे-न्यारे अलग-अलग होते रहते हैं, जुदा-जुदा अनुभव होता रहता है। जब परिणति की दृष्टि से देखते हैं तो आत्मा अनेक नजर आते हैं। अपनी आत्मा के बारे में यह प्रश्न है कि आत्मा एक है कि अनेक हैं ? उत्तर में आता है कि स्वरूप दृष्टि में तो आत्मा एक है और अनुभव की दृष्टि से आत्मा अनेक हैं।

भैया? आत्मा के बारे में जितने अधिक से अधिक धर्म जान सकें उतने अधिक धर्म जानने चाहियें। फिर जानने के बाद उन सबको छोड़ देना चाहिए और अपने आप में अनुभव आवे कि मैं आत्मा ज्ञायकभावमात्र हूँ। आत्मा की पहिचान के नाना उपाय हैं। नाना उपायों से जानो और जब जान चुको तो विकल्प छोड़ दो, फिर आनन्द प्राप्त करो। जैसे भोजन बनाते समय कितना ख्याल रखना पड़ता है ? घी इतना हो, शक्कर इतनी हो, हलुवा इतना बने आदि विकल्प हर तरह से कर लेते हो, पर खाते समय यह ख्याल न रहे कि यह ऐसा बना है, यह ऐसा बनना चाहिए था। वहाँ तो केवल स्वाद का ही अनुभव रहे। उस स्वाद के अनुभव में नाना जानकारियां करनी होती हैं। उसी तरह आत्मा के जानने के लिए नाना जानकारियां करनी पड़ती हैं। यदि बाह्य की उपेक्षा रहे, सबको भूलकर अपने में रमता रहे, ज्ञानज्योति का अनुभव करता रहे, तो आत्मा को यथार्थ जान जायगा वह कभी मुक्ति प्राप्त कर लेगा।

यह तो अन्तर वृत्ति रहे और बाह्य में हमारी वृत्ति क्या होनी चाहिए तो इसके लिए आवश्यक ६ कर्तव्य हैं— गृहस्थी का पहला काम क्या है कि हृदय में प्रभु की भक्ति रहे। प्रभु की भक्ति बिना हृदय साफ नहीं होगा। राग द्वेष आदि ऐबों से परे केवल ज्ञानमात्र उत्कृष्ट, परमपावन प्रभु उपयोग में रहे। प्रभु का ही ध्यान करें तो हृदय स्वच्छ होता है, पवित्र होता है। इससे गंदगी दूर होती है और फिर धर्म के आचरण में मन होता है। यही है तुम्हारी प्रभु भक्ति। गृहस्थी का दूसरा काम है गुरु की उपासना करना। प्रत्येक गृहस्थ को अपने गुरु की उपासना करनी चाहिए। ऐसा निर्णय करे कि किसी भी प्रकार की बाह्य भाववृत्ति न रहे सो शान्ति का मार्ग है। ऐसी वृत्ति से रहने वालों के संग में ऐसी ही शिक्षा मिलती है। तीसरा काम है स्वाध्याय प्रत्येक गृहस्थ में ज्ञान और वैराग्य उत्पन्न होना चाहिए। राग द्वेष हटाने का उपदेश करना, ध्यान करना, पुण्य करना, पाठ करना, यही तो स्वाध्याय है।

चौथा काम है गृहस्थ संयम से रहे। जो मन के विचारभावों में न बह जाय। मन अगर सौचे कि इतनी सम्पदा चाहिए, इतना वैभव चाहिए। इन विचारों में अगर ढल गए तो यह तो असंयम है, यह तत्व की बात नहीं है। संयम मन का निरोध में है सो मन पर कन्ट्रोल रखना चाहिए। भैया ! किसको खुश करनेके लिए इतने यत्न करते हो, अपने आपको खुश करो।

एक कथा आती है कि बाप बेटा कहीं जा रहे थे। साथ में एक घोड़ा था। बाप घोड़े पर बैठ आ रहा चल रहा था और बेटा पैदल चल रहा था। दोनों जिस गांव से निकले, उस गांव के लोग बोले कि देखो बाप कितना बेवकूफ है कि आप तो घोड़े पर जा रहा है और बेटे को पैदल चला रहा है। बाप बेटे से बोला कि अच्छा अब तू बैठ, मैं पैदल चलूंगा। अब बेटा घोड़े पर बैठ गया और बाप पैदल चलने लगा। दूसरे गांव से निकले तो गांव के लोग यह देखकर बोले कि देखो बेटा कितना असभ्य है। आप तो हट्टा-कट्टा घोड़े पर चल रहा है और बाप को पैदल चलाता है। अब तो दोनों घोड़े पर बैठ गये। तीसरे गांव से निकले। गांव के लोग बोले कि मालूम होता है कि घोड़ा घर का नहीं है। दोनों ही बड़े निर्दयी हो गये। इस तरह से दोनों का नाम धर दिया। अब तो दोनों ही पैदल चलने लगे। चौथे गांव से निकले तो गांव के लोग देखकर बोले कि देखो दोनों ही बेवकूफ हैं। अरे जब पैदल ही चलना था तो घोड़ा साथ में क्यों लिया ? सो भैया ! अच्छा कहने वाले बहुत कम हैं और बुरा कहने वाले बहुत हैं। उनका विकल्प करना मूढ़ता है। अब यह सोचो कि मेरा कर्तव्य क्या है? लोग कैसे खुश होंगे? इससे क्या ? भलाई तो अपनी प्रसन्नता से है। तो भैया ! गृहस्थी का चौथा कर्तव्य है संयम। शुद्ध खाना खाओ, न्यायवृत्ति से रहो। जो कुछ भाग्यवश प्राप्त हो जाय उसी को प्राप्त कर संतोष करो। जितना कमाओ उसका कुछ हिस्सा दान में खर्च करो, और कुछ हिस्सा अपनी गुजर के लिए रखो। अत्याचार और विषयकषाय न हों यही संयम है।

गृहस्थका ५वां कर्तव्य है तप करना, तपस्या करना। गृहस्थ को जो भाग्य से मिले उसके यह ४-६ हिस्से कर ले। एक हिस्सा अपने गुजर बसर के लिए रखो, एक हिस्सा अपनी विपत्तियों के लिए रखो। अपने कमाए हुए धन के थोड़े से हिस्से से गुजर बसर करो। तृष्णा न करो, यही तप है। यहां खूब सोच लो। परिवार के लोग, मित्रजन आदि ये कोई साथ नहीं देंगे। यदि अपने आप में रमो, तप करो तो कल्याण हो सकता है।

गृहस्थ का छठवां कार्य है दान करना। गृहस्थ को दान करने की रुचि रखना चाहिए तभी उपयोग योग्य रह सकता है और कल्याण हो सकता है। ये सब आवश्यक कर्तव्य करें, किन्तु अन्तर में भेद विज्ञान की भावना बनाये रहे। देश और देह ये सब मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। देश के कहने से वे सब पदार्थ आ गये जो पदार्थ भिन्न क्षेत्र में हैं और देह के कहने से वे सब पदार्थ आ गये जो मेरे एक क्षेत्रावगाह में हैं। सो इन समस्त परपदार्थों से मैं भिन्न हूँ। इस एकत्व विविक्त निजआत्मतत्त्व में ही सन्तुष्ट होऊं, तृप्त होऊं। यही मात्र एक मेरा कर्तव्य कृत्य रह गया। इसके बाद तो मैं व्यक्त कृतार्थ हूँ, उक्त ६ कर्तव्यों में से देवपूजा का सम्बन्ध तो देव से है और शेष ५ कर्तव्यों का सम्बन्ध अथवा सहयोग गुरुविहित है। देवपूजा का रहस्य भी गुरुप्रसाद से प्राप्त होता है। शिष्य और गुरु का सम्बन्ध पिता और पुत्र के सम्बन्ध से भी अधिक महत्वपूर्ण है। जबकि पिता पुत्र को उत्पन्न करे और उसकी देह की रक्षा करे, फिर भी उतना सम्बन्ध नहीं जितना कि साक्षात् शिष्य और गुरु का विलक्षण सम्बन्ध है। गुरु शिष्य को ज्ञानी बनावे, पवित्र बनावे, जीवन किस तरह से व्यतीत हो यह शिक्षा देवे। यही गुरु के कर्तव्य हैं। तभी तो

शिष्य और गुरु का पवित्र सम्बन्ध है। इतिहास में देखो बहुत सी शिष्य और गुरु के प्रति घटनायें हैं। गुरु द्रोणाचार्य और अर्जुन के सम्बन्ध में बड़ी-बड़ी घटनायें मिलती हैं। और और प्रकार के भी अनेक उदाहरण हैं। गुरु और शिष्य का सम्बन्ध बहुत ही पवित्र है। शिष्य का कर्त्तव्य होता है कि योग्य बने। शिष्य योग्य तभी बन सकता है जबकि तीन बातों का पालन करे। वे तीन बातें हैं विद्या, विनय और ब्रह्मचर्य। इन तीनों बातों का पालन करे। जीवन नियम से उच्च बनेगा। (इस बीच में भोंपा बिगड़ गया सो उसे दूर यहां वहां हटाया जा रहा था तब महाराज भी बोले कि देखो गड़बड़ हुआ यह भोंपा यह शिक्षा देता है कि जो गड़बड़ करता है उसकी यही दुर्गति होती है।)

परमार्थ से तो भैया! मुख्य बात विनय की है। और काम जबरदस्ती किये जा सकते हैं। शिष्य की जितनी विनय गुरु के प्रति हो उतना ही गुरु शिष्य से प्रभावित होता है और काम तो जबरदस्ती भी करा लिए जा सकते हैं। मकान जबरदस्ती बनवा लिया, किसी का खेत जबरदस्ती जुतवा लिया, ये काम तो किए जा सकते हैं पर विद्या का काम जबरदस्ती नहीं हो सकता है। यह विद्या जबरदस्ती नहीं आती है। जितना ही शिष्यमें गुरु के प्रति विनय होगा उतना ही गुरु शिष्य को अच्छी तरह बता सकेगा। और उतना ही अच्छा परिणाम हृदय में शिष्य उतार सकेगा। जितनी ही शिष्य में विनय होगी उतनी ही विद्या शिष्य गुरु से प्राप्त कर सकेगा। जितना ही ऊधम (उद्दण्डता) शिष्य में होगा, विद्या न प्राप्त हो सकेगी। मुख्य गुण विद्यार्थी का है विनय। गुरु जब कभी दिख पड़े तब प्रणाम करें, खड़े हो जावें यही विनयव्यवहार है। शिष्य अपने गुरु के प्रति यदि इतना कर सका तो वह अपने गुरु से अच्छी शिक्षा प्राप्त कर सकता है। जब यह प्रवृत्ति होगी तभी विद्या गुरु से सीखी जा सकती है।

बच्चों की जिन्दगी तो बहुत अच्छी जिन्दगी होती है, बच्चे इसे नहीं जानते हैं। जो बच्चे से बड़े हो जाते हैं वे सोचते हैं कि विद्यार्थी जीवन कितने महत्व का जीवन होता है ? इस विद्यार्थी जीवन में ही चाहे मैं अपने को बना लूं चाहे बिगाड़ लूं चाहे मैं अपने जीवन का सुधार कर लूं चाहे बिगाड़ कर लूं। अपने जीवन को बनाने और बिगाड़ने का आधार यह विद्यार्थी जीवन ही है। कोई जरा सी बातों में मजाक करें, किसी दूसरे की खिल्ली करें अथवा किसी का महत्व न समझें तो वे अपने जीवन को सुधार नहीं पाते हैं। विद्यार्थी जीवन में जैसी वृत्ति होगी वैसा ही आगे जीवन चलेगा। तो सारे जीवन की जिम्मेदारी विद्यार्थी जीवन में है। इस कारण से स्वाधीनता से विनयपूर्वक विद्याध्ययन करें तो इसी से विद्यार्थी का हित है।

हमको तुम्हारे व्यवहारको देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई। अभी यह बतलाया कि यहां हाल नहीं है तो घबड़ाने की कोई बात नहीं है, हाल हो ही जायगा। पर अपने आपके कर्त्तव्य को सब लोग देखें तो जल्दी ही स्कूल का उत्थान होगा। इस स्कूल में एक पीरियड धर्म का होना चाहिए। अंत में मैं यही कहूंगा कि वे गुरुजन अपने शिष्यों को अपना पुत्र समझें। जब वे अपना पुत्र समझकर शिक्षा देंगे तो विद्यार्थी भी अपने जीवन को सफल बना सकेंगे। आज प्रसंगवश श्लोक के विषयसे कुछ विषयान्तर हो गया है, किन्तु विषयान्तर भी नहीं, विषय तो सर्व धर्म वाक्यों का आत्महित ही तो है।

नाकारो न विकल्पो न द्वैविध्यं न विपत्तयः।

स्वः स्व एव शिवस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखीं स्वयम्॥२-४८॥

अर्थ- स्व में स्वयं कोई आकार नहीं न विकल्प है न द्विविध भाव है न विपत्तियां हैं स्व में तो शिवस्वरूप स्व है इसलिये मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊं।

इस मुझ आत्मतत्त्व में न तो आकार है, न विकल्प है, न द्विविधा है और न कोई विपत्तियां हैं। यह मैं स्व तो मैं स्व ही हूँ, स्वयं शिवस्वरूप हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ, मैं अमूर्त हूँ, रूप रस गंध स्पर्श रहित हूँ। अतः मुझ में आकार कैसे हो सकता है ? प्रदेशविस्तार की अपेक्षा भी स्वयं मेरा आकार नहीं है। संसार अवस्था में तो देह का आश्रय आकार है और मुक्त अवस्था में कम बढ़ होने का कारण न होने से त्यक्त देह के प्रमाण आकार रह जाता है। मेरे में स्वयं कुछ आकार नहीं है।

विकल्प एक औपाधिक विकार है, ये मेरा स्वरूप नहीं है, कर्मविपाक का निमित्त पाकर आत्मभूमिकामें विकल्प तरंग उठती है। उसका अन्वयव्यतिरेक कर्म विपाक के साथ है, सो यह विकल्प भी मुझमें नहीं है। जब विकल्प भी मेरे में नहीं है तो द्विविधा और विपत्तियां मुझमें हो ही कहां से सकती हैं। आत्मातो अपना एकत्व लिये हुए है उसमें द्वैत की तो सम्भावना भी नहीं और दूसरी वस्तु की सम्भावना के बिना विपत्तिकी भी सम्भावना नहीं।

यह आत्मा तो स्वयं साक्षात् धर्मस्वरूप है। धर्म के विषय में समन्तभद्राचार्य ने यह बताया है कि “संसारदुःखतः सत्त्वान्यो धरत्युत्तमे सुखे” जो प्राणियों को संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख में धारण करता है उसको धर्म कहते हैं। लौकिक जनों की दृष्टि केवल इस भव तक रहती है। इस भव में मजा मौज कैसे रहे? इस ओर दृष्टि रहती है तो विवेकी, ज्ञानी, साधु पुरुषों की दृष्टि अपने आत्मतत्त्व पर रहती है। मोही जन केवल इस नरपर्याय को ही अपना पूरा काल समझते हैं तो ज्ञानी जीव अपने को अनादि अनन्त समझते हैं। इस कारण ज्ञानी धर्म की रुचि करते हैं, धर्म धारण करते हैं जिससे संसार के दुःखों से छूटकर उत्कृष्ट आनन्द प्राप्त करते हैं।

धर्म क्या है ? ‘अहिंसा परमो धर्मः’। अहिंसा ही उत्कृष्ट धर्म है और हिंसा अधर्म है। अहिंसा क्या चीज कहलाती है ? इस अहिंसा का परमार्थस्वरूप क्या है? जो परिणाम अपने आपके ज्ञान और अनुकूलता में पहुंचावे उस परिणाम का नाम अहिंसा है। हिंसा न करने का नाम ही अहिंसा है।

अहिंसा क्या है ? अपने प्राणों को दुःखों में न डालना विषयकषायों को अपने में न बसाना अहिंसा है। परमार्थ में हिंसा और अहिंसा का अभिप्राय यह है कि रागादि विकार होना हिंसा है और रागादि विकार न होना अहिंसा है और व्यवहार में किसी जीव को न सताना अहिंसा हुई और जीवों को सताना ही हिंसा हुई। व्यावहारिक हिंसा और अहिंसा का स्वरूप लोक में अत्यधिक प्रचलित है। वास्तव में अपने ज्ञान को निर्मल रखना अहिंसा कहलाती है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि परिणामों का करना हिंसा कहलाती है। हम अहिंसा कर सकते हैं तो अपने में ही कर सकते हैं। अगर हिंसा कर सकते हैं तो अपने

में ही कर सकते हैं। दूसरों पर हिंसा और अहिंसा नहीं की जा सकती है। यह अपने वास्तविक स्वरूप की बात कह रहा हूँ। कोई मनुष्य दूसरे जीवको सताए दुःखाए और यह कहे कि मेरे परिणाम तो निर्मल हैं, मेरा सताने का भाव नहीं है तो यह नहीं माना जा सकता है। जो अपने स्वरूप से हटकर बाह्य में प्रवृत्ति करता है, दूसरों का दिल दुखाता है वह स्वयं अपने परिणाम मलिन करता है। दूसरों को कोई दुःख दे नहीं सकता है। जिसने अपने परिणामों को मलिन किया, दूसरों का दिल दुखाया, उनको कहते हैं हिंसक।

जो अपने ज्ञानको मलिन बनाए, दूसरों को सताए उसे हिंसक कहते हैं। जो हिंसा करता है वह अपने आप पर करता है, जो अहिंसा करता है वह अपने आप पर करता है। हिंसा करने वाला अपने ही ऊपर अपना घात करता है, अपने को ही बरबाद करता है। जगत् के जंजालों में अपने आपको फंसाता है।

हिंसा ४ प्रकार की होती है— (१) संकल्पी, (२) आरम्भी, (३) उद्यमी और (४) विरोधी। संकल्पी हिंसा वह है जिसमें इच्छापूर्वक अभिप्राय से किसी जीव को दुःखी किया जाय, सताया अथवा मारा जाय। जैसे लोग शिकार खेलते हैं, किसी जीव को मारते हैं। दूसरी हिंसा है आरम्भी। रसोई करने में पीसने में, कूटने में, घर के आरम्भों में जो हिंसा होती है उसे आरम्भी हिंसा कहते हैं। तीसरी हिंसा है उद्यमी। सावधानी रखकर नीति का विचार करके रोजगार किया जाय फिर भी उसमें हिंसा हो जाय उसे कहते हैं उद्यमी हिंसा। कोई मनुष्य जान लेने आ जाये अथवा अपने परिवार में किसी का शील भंग करने आ जाये ऐसे प्रसंग में दुष्ट का मुकाबला किया जाता है। उससे मुकाबला करने में जो घात हो जाये उसे कहते हैं विरोधी हिंसा।

इन चार प्रकार की हिंसाओं में गृहस्थ संकल्पी हिंसा का त्यागी बन सकता है। तीन हिंसाओं का त्यागी नहीं बन सकता है। घर में रहते तो चक्की चूल्हे आदि घर के कामों को करने पड़ते हैं। कुछ उद्यम करते हैं। कोई दुष्ट प्राणी आक्रमण करने आवे तो उसका मुकाबला करना पड़ता है सो गृहस्थ तीन प्रकार की हिंसाओं का त्याग नहीं कर पाता है। इस कारण तीन प्रकार की हिंसाओं का दोष नहीं लगता। यह नहीं कहा जा सकता है कि गृहस्थ को तीन हिंसाओं का दोष नहीं लगता। वे दोष करते हैं मंगर हिंसा का त्याग नहीं है। चार प्रकार की हिंसाओं का त्याग साधुजन कर सकते हैं। साधुजन केवल अपने ज्ञान की रक्षा में लगे रहते हैं। उनको अपने प्राणों की परवाह नहीं रहती है। किन्हीं अटपट और ऊधम की चिन्ता में नहीं रहते।

गृहस्थ संकल्पी हिंसा का ही त्याग कर पाता है। संकल्पी हिंसा का त्याग हो तब गृहस्थी की शोभा है। कितने ही लोग ततैयों को छेद डालते हैं, सांप बिच्छू आदि को डंडे से मार डालते हैं। चींटा, चींटी आदि को मार डालते हैं यही तो संकल्पी हिंसा है। हिंसक जीव जैसे सर्प, बिच्छू आदि हैं उनको जो मार डालते हैं वह भी संकल्पी हिंसा है। सर्प सिंह आदि अपने पर आक्रमण करें तो उनके मुकाबले से

उनका वध हो जाय तो यह भी विरोधी हिंसा ही है। मनुष्य की शोभा दया की मूर्ति बनने में है। दयावृत्ति से ही मनुष्य की शोभा है। और दया तब प्राप्त हो सकती है जब व्यसनों का त्याग हो।

धूतं च मांस च सुरा च वेश्या, पापर्द्धि चौर्या पर दार सेवा।

एतानि सप्त व्यसनानि, घोरतिघोरं नरकं नयन्ति।।

जुवा खेलना पहिला और सब व्यसनों में लगा देने वाला व्यसन है। मनुष्य को इस व्यसन का त्याग अवश्य करना चाहिए। चाहे जुवा खेलने में हारे चाहे जीते, कदर कुछ नहीं रहती है। सदा हैरानी ही रहती है। देखा होगा कि बहुत से लोग सट्टा खेलते हैं। जुवा व सट्टा खेलने वाले रात दिन चिंतित रहते हैं। पांडवों को देखो वे तो द्रोपदी को भी हार गये फिर क्या हुवा सब जानते हैं। तो भैया ! इस जुवा का त्याग करनेसे ही भलाई है। दूसरा व्यसन है मांसभक्षण। जीवों पर दया किये बिना धर्म नहीं होगा। मांसभक्षण का अवश्य त्याग होना चाहिये। शराब, मदिरा आदि का पान करना यह तीसरा व्यसन है, सुरा शराब तो महुवा, जौ, अंगूर आदि को सड़ाकर बनाई जाती है। पहले उसमें कीड़े (बैक्टीरिया) पैदा किए जाते हैं फिर वैज्ञानिक तरीके से उनका रस निकालकर उसमें मादकता उत्पन्न की जाती है। तम्बाकू, भांग, जरदा, चरस, गांजा, अफीम आदि में तथा शराब में निरन्तर जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। ये मादक पदार्थ चित्त को भ्रमित करते रहते हैं।

एक सच्ची घटना है। सप्तव्यसन का त्यागी एक जैन था, उसको नशा करने का त्याग था पर आलू खाने का शोकीन था उसके मित्र जो व्यसनी थे एक दिन उसकी बहस हो गई आप मुझे नशा नहीं करा सकते मित्रों ने एक तरकीब निकाली एक आलू की टिकिया बेचने वाला उनकी सर्राफा की दूकान पर आता था और संयोग से वह जैन भी उस रोज वहां बैठा था सो सेठ टिकिया वाले को आलू में भंग मिलाने का इशारा कर आया और जैन भी स्वाद-स्वाद में खाता ही चला गया। खैर बात दोपहर २ बजे की थी सब यार दोस्त रातको दस बजे तक साथ रहे जैन रात को कुछ अन्न नहीं खाता था अतः रात्रि दस बजे जब वह घर लौटा तो बच्चों के लिए बाजार से खड़ी लेता आया। घर पर बालक और पत्नी सो गए थे अतः उसने खड़ी खुद खाली। बस खड़ी का खाना था कि उसकी हँसी छूट पड़ी और इस कदर हँसा कि वह अपनी माँ व पत्नी से यह भी न कह पाया कि मैंने दोपहर में कुछ खाया है मां समझ गई और उसने नींबू खिलाया तथा सिर में तेल वगैरा मला तब कहीं जाकर वह मरणासन्न कुछ नींद में आया और कई दिन में ठीक हुवा। बाद में वही जैन इस कुसंग से सप्तव्यसन का सेवी हो गया। चौथा व्यसन वेश्या सेवन है। कितना खोटा व्यसन है। धन हीन होने पर भी जूतों में पड़ा रहना पसन्द करता है। चारुदत्त की कथा सुनी होगी। धनहीन होने पर किस प्रकार लैट्रीन में फैंक दिया गया। अंजन चौर को चोरी भी करना पड़ी। पांचवाँ व्यसन पापर्द्धि यानी शिकार भोले भाले निर्दोष पशुओं का किस प्रकार शिकार किया जाता है किसी से छिपा नहीं है। जिनकी उड़ान मीलों की है उन्हें छोटे-छोटे पींजरों में रोका जाता है।

वध बंधन आदिक दुख घने।

कोटि जीभ कर जात न भने॥

छठा व्यसन है चोरी—धन को लोग ग्यारहवां प्राण कहते हैं। बहुत से मनुष्यों के धन के नष्ट हो जाने से प्राण भी चले जाते हैं। एक बार एक चोर चोरी व लूट किया करता था उसने एक सेठ के घर ४६ बार डकैती डाली। काल पाकर उसका पुत्र बड़ा हो गया और वह भी इसी व्यसन में लग गया। एक रोज दोनों बाप-बेटा चोरी करने चले तो रास्ते में बाप ने बताया कि आज मैं इस सेठ के यहां ५०वीं बार चोरी करूंगा। बेटा बोला बाबा हम फिर भी गरीब हैं और यह हर बार इतना अमीर हो जाता है। इससे तो अच्छा है हम भी चोरी करना छोड़ दें। हम अमीर नहीं हुए यह गरीब नहीं हुवा। बाप नहीं माना दोनों में कहा सुनी हुई। बेटे ने बाप को गोली मार कर हत्या कर दी और न्यायपूर्वक रोजी करके एक दिन वह भी सेठ हो गया।

सातवां व्यसन परस्त्री सेवन का है जो इस व्यसन में फंस जाते हैं उनका विवेक भी जाता रहता है। प्रथमानुयोग में एक कोतवाल की कथा आती है। जो अपनी व्यभिचारिणी मां के साथ निरन्तर भोग करके नारककी वज्र मई भूमि में पड़कर सागरों पर्यंत लोहे की गरम पुतलियों से चिपकाया गया। वैतरणी मज्जन कराया गया आदि आदि अवर्णनीय दुःखों का पात्र हुवा।

व्यसनी पुरुष धर्म धारण करने का पात्र नहीं होता। संयम से रहता है वह विवेकी है, वीर है इस भोग का तजना शूरों का काम है, वीरों का काम है। ये भोग भोगते समय बड़े सुहावने लगते हैं पर उनके भोगने के परिणाम कठिन निकलते हैं। सो भैया ! इन भोगों की ओर से उपेक्षा होनी चाहिए तब हम अहिंसा के पालने वाले कहला सकते हैं।

देखो कितना इन्द्रियविषयों में बंधे जा रहे हैं, विषयकषायों में ही बंधे जा रहे हैं। अगर विषयों से ही प्रीति है, भोगों में ही बंधे जा रहे हैं तो अहिंसा नहीं कही जा सकती है। जिसे अपने चैतन्यस्वरूप का पता नहीं उसने तो बहुत बड़ी हिंसा की। चैतन्यस्वरूप का पता पाए बिना गुजर नहीं चलेगी। अहिंसा का अर्थ यही है कि हिंसा का त्याग करो और ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व का अनुभव करो, प्रतीति करो। ऐसी वृत्ति से रहने वाले गृहस्थ जब कभी प्रवृत्ति में आते हैं तब यद्यपि ३ हिंसाओं का त्याग नहीं कर सकते तो भी संकल्पी हिंसा का त्याग होने से यह गृहस्थ अणु अहिंसक कहलाता है। तो भैया अपनी शान्ति के लिए अपने भावों में दृष्टि देना है। अपने भाव निर्मल रहें। भावों की निर्मलता का उपयोग यही है। जैसे प्रातःकाल कहा था कि ६ कर्तव्यों में लगे रहें, उनमें प्रमाद न करें। लोगों को चाहिए कि वे घर के कामों में अधिक न लगे। प्रभु की भक्ति में, गुरुओं के सत्संग में अपना समय लगावें, अपने मन को संयम में लगावें। व्यर्थ का खर्च न करें जो कि कायदे के खिलाफ हो। परोपकार में व्यय अधिक करें। सात्विक वृत्ति से कार्य न करें और आसक्ति से पर में लगे तो यह मिथ्यात्व है। अपनी इच्छा का निरोध करें और दान करें तो उत्थान होगा। अपने को विषयकषायों से बचावें, यही निवृत्ति शान्ति का कारण होगी। ऐसा पुरुषार्थ यदि कर सकें तो उत्थान होगा।

कष्टे प्राणानुपेक्षन्ते ज्ञानं रक्षन्ति योगिनः।

ज्ञानं ज्ञाय प्रियं तत्स्वे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२-४६॥

अर्थ- योगीजन कष्ट उपसर्ग होने पर प्राणों की उपेक्षा करते हैं। और ज्ञान को रक्षित करते हैं निश्चयसे ज्ञानी के लिये ज्ञान ही प्रिय है वह ज्ञान अपने में ही तो है इसलिये अब अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

योगीजन कष्ट आने पर प्राणों की भी उपेक्षा कर देते हैं, लेकिन ज्ञान की रक्षा करते हैं सो यह स्पष्ट जाहिर है कि ज्ञानी को ज्ञान ही प्रिय है। ज्ञानप्रिय होना भी चाहिये, क्योंकि एक तो ज्ञान शाश्वत सम्पदा है और दूसरी बात ज्ञान आनन्द का अविनाभावी है। पौराणिक दृष्टान्त भी अनेकों मिलते हैं जिनसे उक्त बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है।

राजकुमार सुकौशल, गजकुमार आदि अनेकों युवक चढ़ती जवानी में राज्यपाट वैभव का त्याग कर ज्ञान की उपासना में लग गये थे। उपासना काल में उन पर अन्य जीवों के द्वारा बड़े कष्ट किए गये। यदि वे चाहते तो जरासे ही बल प्रयोग में आक्रान्ता को भगा सकते थे किन्तु उन्हें विकल्प पसन्द न था। विकल्प न हों, ज्ञान ज्ञानस्वरूप में स्थित रहे ऐसी स्थिति के एवज में यदि प्राण जाते हों तो जायें ऐसा उनका दृढ़ संकल्प था। प्राण तो औपाधिक विकारी तत्व हैं इनसे तो आत्मा की बरबादी ही है। ज्ञान ज्ञानस्वरूप में रहे यह आत्मा की आबादी है। आत्मा की इस आबादी में इतनी समृद्धि है कि सर्वज्ञता आनन्दमयता, निर्विकल्पता आदि सब ही कल्याणपूर्ण प्रगट हो जाते हैं।

भैया ! जगत् में जितने भी दुःख होते हैं वे मात्र कल्पना से हैं। मनुष्यों में देखो हर एक जगह दुःख ही दुःख नजर आते हैं। अपनी बातें खुद सब देखते हैं। दूसरे को तो लगता है कि ये सुखी होंगे। यह बहुत सलोना है, यह बहुत बढ़िया है, यह बड़े मजे में होगा ऐसे दूसरों में लगता है मगर अपने आपको देखो तो दुःख नजर आते हैं। अपने स्वरूपसे चिगे तो वहाँ दुःख ही दुःख नजर आता है। जो बात सही नहीं है और उसे सही मान लें तो दुःख मिलेंगे। प्रत्येक मनुष्य का जी किसी न किसी में फंसा हुआ है, किसी न किसी की मोह ममता में है तो इसी से दुःख आते हैं। कोई किसी गति से आया तिस पर भी ये जीव तो यहां से जायेंगे ही, उन सबसे एक दूसरेका कोई सम्बन्ध नहीं। सब अपने अपने चतुष्टय में हैं, न्यारे न्यारे हैं आप आप हैं, वे वे हैं, कोई गुंजाइश नहीं, पर मानते हैं कि यह मेरा है। इसी कल्पना से दुःख पैदा हो रहे हैं।

यदि मैं निज ज्ञानानन्द घन के उपयोग में बना रहूँ, अपने ही स्वरूप के दर्शन करूँ तो परमात्मा के दर्शन कर सकता हूँ। परमात्मा दर्शन से ही शान्ति में रह सकता हूँ, आनन्द से रह सकता हूँ। भीतर ही सारा वैभव है उसको छोड़कर बाहर में ही दूँदने लगे तो दुःख प्राप्त होगा। जितने भी संत हुए हैं, वे ही स्वरूप में रत रहते थे। अपने से बाहर की चिन्ता नहीं करते थे। ज्ञानरूप अपने को ही मानते थे। ऐसे वे संत थे। वे किसी भी मोह ममता में नहीं रहे। इसी कारण आनन्दमग्न थे।

दुःख तो स्त्री पुत्रादि के मोह में ही हैं। यदि स्त्री पुत्रादि के मोह में रहकर दुःख कम हो जायें तो बतला दो। दुःख कम नहीं होंगे, दुःख तो बढ़ ही जावेंगे। अरे स्त्री से मोह किया तो दुःख है, स्त्री ने अपना मुंह फेर लिया तो दुःख। यदि स्त्री रूपवान है तो उससे दुःख मिलेंगे कि नहीं। बहुत दुःख मिलेंगे। यदि स्त्री रूपवान है तो मोह होगा, उसके पीछे अनेक परेशानियां होंगी। यदि पुत्र कुपूत होगा तो उससे मुख मोड़ लो, पर यदि पुत्र सुपूत हुआ तो उसके पीछे मर मिटोगे, जिन्दगीभर श्रम न छोड़ोगे। बाहरी चीजें जितनी मिलेंगी वे सब दुःखों के कारण ही होंगी, बाहरी चीजें सुख का कारण नहीं हो सकती हैं। आज आपने धन पाया, लाख का धन पाया, करोड़ का धन पाया, राज पाट पाया, बहुत सी पूंजी पायी। इन सबको चिपकाये रहने से इन सबको ही अपना सर्वस्व मानने से क्या क्लेश मिटेंगे? नहीं, इनसे तो क्लेश ही बने रहेंगे। दुःखों को करने वाला भैया कोई दूसरा नहीं है। खुद ही सत्य बन जावो तो दुःख सब समाप्त होंगे।

मान लिया कि १०-२० लाख रुपया का धन हो गया, कुटुम्ब परिवार हो गया, नाते रिश्तेदार हो गए तो क्या शान्त हो जावोगे? नहीं। तब इन सबको पराया जानो और सुखी होओ। ये तुम्हारे सुख के साधन नहीं होंगे। इनसे तो क्लेश ही प्राप्त होंगे। दुःख तो सब जीवों ने अपने स्वरूप से चिगकर व्यर्थ ही मोल ले रखा है। देखो सबकी अलग-अलग दुनिया है, जैसा जिसका लगाव है, वैसा उसका चित्त है? है कुछ नहीं।

तो भाई दुःख कहाँ से मिले? दुःख तो बाहर की दृष्टि से ही मिले। दुःख अपनी कल्पनाओं से मिले, अपने ख्याल से मिले, अपने भ्रम से मिले। अगर यह भ्रम छूट जाय तो अभी दुःख मिट जावेंगे। पर यह भ्रम सब अपने अपने में लिए हुए हैं। ऋषियों ने बताया है कि प्राणियों की आत्मा का आदर तो विवेक से है। जैसा मैं हूँ तैसे सब हैं। सबमें साधारण स्वलक्षण अवगम हो यही ज्ञानका प्रकाश है। मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ। यदि कीड़े-मकोड़े पशु पक्षी इत्यादि कोई भी जीव नजर आवे तो वे सब चैतन्यस्वरूप हैं, ऐसा तुम्हारा दृढ़ विश्वास हो तो यही ज्ञान है। योगी वह है कि किसी का घट बढ़ विकृत परिणमन भी यदि हो रहा हो मगर वह अपनी ही तरह सबको शुद्ध चैतन्यस्वरूप में देखे यही प्रभुपना है। सब जीवोंमें वही प्रभु का रूप देखें कि यह भी प्रभु का रूप है, यह भी शुद्ध चेतन है, ऐसा जो सब जीवों में देखे वही योगी है।

भैया ! हम क्या हैं ? इसको हम माप न सके, जान न सके, अपना महत्व न जान सके। अपने में जो प्रभुता विराजमान है, उसको जाने बिना क्लेश कैसे मिट सकेंगे ?

भैया ! जिन्दगी भर मोह किया, लड़े भिड़े, मोह करके रहे, राग द्वेष करके रहे तो बतलाओ कौनसी शान्ति पैदा करने की चीज हुई ? ये सब कोई सुख के कारण नहीं हैं। कहते हैं कि धन हमें बहुत बढ़ाना है। अरे बतलाइए लखपति हो गए तो क्या आपका मरण नहीं होगा। क्या उससे ही शान्ति प्राप्त हो जावेगी और गुजारा तो किसी तरह हो सकता है, पर वस्तुतः धन की चाह जीवन के गुजारने के लिए

नहीं है। जो यह कहे कि मुझे सेठ बनना चाहिए, मुझे इज्जत वाला बनना चाहिए बस इन्हीं विचारों से तो वह प्रभु से दूर होता चला जा रहा है। इस दुनिया में जो मोह करके उनसे लिपटे हुए चल रहे हैं वे भी अपने को अपने प्रभु से दूर कर रहे हैं। अरे ये संसारी मोही, कलंकित, मलीन लोगों से लिपटे हुए चले जा रहे हैं तो बतलाओ दुःख कैसे न हो? प्रिय आत्मन्! अपने प्रभु की ओर आओ। इन परिवार के लोगों की आसक्ति छोड़ दो। उन्हें यह समझो कि अब ये गले पड़ गये हैं। सो गले पड़े बजाये सरे, करना पड़ता है, किन्तु यह काम नहीं है कि मैं उनका पालन पोषण करूं। मेरा तो काम यह है कि अपने प्रभु के भजन करूं। अपने स्वरूप में ही बसना है, ऐसा जानकर संतोष प्राप्त करें, यही ज्ञान है।

वास्तव में यह जानों कि सब जगत् के जीव एक समान हैं। यही आत्मस्पर्शी ज्ञान है। यह मैं हूँ, ऐसे ही ये हैं, ये सब प्रभु के रूप हैं— ऐसा जानकर जगत के सब जीवों से प्रेम करो। यही प्रभु से प्रेम उत्पन्न करने का उपाय है। मैं यहां पर जो कुछ देखता हूँ सब जीव उस प्रभु के ही रूप हैं।

ज्ञानमस्तीति कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च ततोऽन्यके।

त्रिकालेऽपि न तत्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२-५०॥

अर्थ— ज्ञान है यह ही तो कर्तृत्व है और ज्ञान है यह ही भोक्तृत्व है उससे भिन्न अन्य पदार्थों में तीन काल में भी वह अर्थात् कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं है इसलिये स्वयं ही मैं अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

यहां जीवों में कर्तापन क्या है और जीव में भोक्तापन क्या है? यह कहा जा रहा है यानी जीव करता क्या है? अन्य पदार्थ तो अन्य ही हैं, उनकी सत्ता तो जुदा है। परपदार्थों में यह जीव कुछ कर नहीं सकता है। जैसे कोई आदमी दूसरे आदमी को कितना ही डांटे, गुस्सा करे फिर भी उस आत्मा का कुछ कर लेगा क्या? उस आत्मा का कुछ नहीं कर लेगा। जो कुछ करेगा वह अपना ही करेगा। कोई दूसरे का कुछ नहीं कर सकता है। घर के बाल-बच्चों पर कितना ही नाराज हो जावें, कितना ही गुस्सा हो जावें पर उनका कुछ कर लेंगे क्या? उनका कुछ न कर सकेंगे। घर के बाल-बच्चे कहना कुछ मान गए तो क्या तुमने कुछ दिया। अरे उनके मन में आ गया तो कर दिया और यदि मन में न आवे तो न करेंगे। कोई द्रव्य किसी द्रव्य का कर्ता नहीं है। तुम तो केवल अपना ज्ञान बनाते रहते हो। कभी तो तुम सही ज्ञान बनाते रहते हो और कभी विकृत बनाते रहते हो। ज्ञान बनाया, जानकारी की, इतना ही मात्र कर्तापन है और बतलाओ ज्ञान से भोग किसका किया? जानकारी कर ली उस रूप परिणम गये यही भोग। ये जो विकल्प उत्पन्न होते हैं वे ज्ञान के ही बिगड़े रूप हैं। यह अनुभव ज्ञान से ही किया करता है ना? ज्ञान होता है तो इतना ही तुम्हारा कर्तापन है। जितना ज्ञान होता है उतना ही भोगते हैं।

भैया! परके कर्तृत्व की दृष्टि हटाओ। मकान बनवाना है, दुकान बनवानी है, लड़कों का पालन-पोषण करना है आदि ये सब मिथ्यात्व बुद्धियां हैं। तुम तो केवल अपना परिणमन करने वाले और भोगने वाले हो। अपने को भूलकर तुम कुछ भी हित नहीं कर सकते हो। अपने आपको समझो तो ज्ञान का दीपक

जल जायगा याने अपनी ओर उपयोग लगाओ तो दुनिया से निराले ज्ञानमय निज को पहिचान लोगे। इससे ही ज्ञान होता है। बस इतना ही तो कर्तापन है। जितना ज्ञान होता है उतना ही भोक्तापन हुआ। जब तुम भोजन खाते हो तो स्वाद में आनन्दमग्न हो जाते हो। जब उस भोजन में आपने ज्ञान बनाया कि भोजन बढ़िया है, मीठा है तो उस ज्ञान में आनन्द मिला कि भोजन में आनन्द मिला ? आनन्द तो उस स्वाद के अनुभव से ही मिला। तीन कालों में भी तुम अन्य पदार्थों के न कर्ता हो और न भोक्ता हो। अरे वाह्यपदार्थों के करने की बुद्धि मिटाओ। यह विश्वास हो जाय कि मैं दूसरे का कुछ कर नहीं सकता हूँ तो स्वतन्त्र आत्मतत्त्व के दर्शन सकता हूँ।

अरे जब दूसरे पर मेरा अधिकार नहीं तो मैं उनका कुछ कर ही क्या सकता हूँ ? फिर क्रोध करना नादानी ही तो है। दूसरे तो दूसरे ही हैं, वे अपने विचार में मग्न हैं, हम अपने विचार में चल रहे हैं। फिर घमंड करने का क्या काम ? दूसरे तो दूसरे ही हैं वे हमसे जुदा हैं, उनका तो मैं कुछ कर ही नहीं सकता हूँ। तब फिर छल-कपट करने की बात ही क्यों है ? चाहे जितना ही धन जोड़ लेवें, मगर सुखी न हो सकेंगे। कितना ही धन का संग्रह कर लें, पर शांति न प्राप्त हो सकेगी। हम अपने ही कर्ता हैं और अपने ही भोक्ता हैं। सो तृष्णा करना भी व्यर्थ है। इस कारण भैया ? सार इसी में है, कल्याण इसी में है। सारे पदार्थों से हटकर अपने ही स्वरूप को देखकर, अपने में ही रत होकर सुखी होओ।

दृश्यं न दर्शनकस्तत्त्वमुभे संयोगजे दशे।

किन्तु ज्ञायकभावोऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२-५१॥

अर्थ- न तो यह दृश्यमान जगत तत्त्व है और न ऐसा देखने वाला तत्त्व है दोनों संयोग से उत्पन्न होने वाली दशाएं हैं किन्तु मैं तो ज्ञायकभावस्वभावी हूँ सो ज्ञायक स्वरूप अपने आत्मा में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

देखो देखने वाली और दिखने वाली ये दो चीजें हैं। तो ये दोनों ही तत्त्व नहीं हैं। दुनिया में ये दृश्य और ये दर्शक दोनों ही सार की चीज नहीं हैं। देखने वाले हैं ये, ये भी संयोगजन्य दशा है और दिखने में जो आ रहा है वह भी संयोगजन्य दशा है। ये जो देखने वाले हैं और जो दिखने में आ रहे हैं वह सब अनेक पदार्थों के संयोग से उत्पन्न दशा है। तत्त्व नहीं है, परमार्थ नहीं है, वास्तविक नहीं है। सब संयोग से उत्पन्न हुए हैं। जीव और कर्मों के संयोग से यह शरीर बन गया। परमाणु और परमाणु का संयोग हो तो दिखने वाले ये भौतिक बन गए। तो दिखने में जो भौतिक आ रहे हैं वे और देखने वाले असमानजातीय पर्याय ये सब सार चीजें नहीं हैं। मिटने वाली हैं। देखने वाले जो मनुष्य हैं, पशु-पक्षी हैं वे सब जीव संयोगजन्य हैं ये सब शुद्ध तत्त्व की चीजें नहीं हैं। जीव और कर्म के संबंध से ही यह शरीर बन गया।

भैया ! तीन चीजें द्रव्यकर्म, भावकर्म और नौकर्म इनका समुदाय भूत यह सब जीव समूह नजर आ रहा है। इन्हीं को कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर कह लो। भावकर्म हुए, रागद्वेष हुआ,

इसके कारण बना द्रव्यकर्म और इन दोनों का फल मिला शरीर। यह सब निमित्तनैमित्तिक भाववश हो रहा है। इसमें शुद्धतत्व क्या क्या करें? तब फिर किसी पर क्या आपका वश चल सकता है? क्या शरीर को मिटाने का वश चल सकता है? नहीं चल सकता है। इसी प्रकार कर्मों के मिटाने का वश नहीं चल सकता है। रागद्वेषों के मिटाने का वश चल सकता है। तो भैया! कर्मों के कारण भूत ये ही कारण शरीर हैं, शरीर के कारण द्रव्यकर्म हैं, द्रव्यकर्म के कारण भूत भावकर्म हैं। अपना परपदार्थों पर कोई वश नहीं है। सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर तथा अन्य ये दिखने वाले जो कुछ हैं उनमें कोई तत्व की चीज नहीं है और देखने वाले जो लोग हैं उनमें कोई तत्व की चीज नहीं है। वह सब तो संयोगजन्य दशा है। परन्तु मैं तो स्वतः सत् हूँ, स्वतः सिद्ध हूँ, ज्ञायकभावरूप हूँ, ज्ञानज्योमिमात्र हूँ। ऐसा ज्ञानमात्र अपने आपको निरखकर, अपने उपयोग में लेकर अपने आप सुखी होओ। बाहर में सुख की आशा करना व्यर्थ है। तृष्णा करना व्यर्थ है। उन गंदे नाक बहाने वाले स्त्री-पुरुषों में ही अपने को फंसाये रहने से कुछ मिलने का हो तो बतलाओ। ज्ञानस्वरूप में परमात्मतत्व है, उसका ध्यान न हो तो मनुष्य जन्म बेकार है। अपनी जिम्मेदारी अपने में समझो। अपना शरण अपने को ही समझो। इस जीव का सार तो निश्चय में आत्मा है और व्यवहार में प्रभु भक्ति है। प्रभुभक्ति और आत्मानुभव हो तो अपना आत्मा ही शरण है। आत्मा में प्रभुभक्ति है। प्रभु भक्ति कारण है और आत्मभक्ति कार्य व ध्येय है। आत्म भक्ति करना यही सुख का मार्ग है।

यदा देहोऽपि नैवाहं नृस्त्रयादेस्तर्हिका कथा।

ज्ञानमेवास्ति देहो मे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२-५२॥

अर्थ— जब देह ही मैं नहीं तब मनुष्य स्त्री आदि होने की तो कथा ही क्या है। मेरा तो ज्ञान ही देह है इसलिये ज्ञान शरीरी निज आत्मा में निज के अर्थ अर्थात् निज ही जिसका फल पा सकता है स्वयं सुखी होऊँ।

जब मैं देह में ही नहीं हूँ तब फिर मैं यह सोचूँ कि मैं मनुष्य हूँ, स्त्री हूँ तो बड़ी गलती है, क्योंकि पुरुष और स्त्री के अवयव, अंग व चिह्न शरीर में ही हैं और शरीर मैं नहीं हूँ तब फिर मैं स्त्री हूँ, पुत्र हूँ यह कैसे हो सकता है? आत्मा की बात कही जा रही है, जो इस देह के अन्दर की आत्मा है, जीव है वह न स्त्री है और न पुरुष है। इसका सारस्वरूप तो ज्ञान ही है। ज्ञान के सिवाय आत्मा में और क्या पाया जाता है? ज्ञानमात्र मैं हूँ ऐसा विश्वास न होने के कारण इस जीव की बाहर में दृष्टि फैल गयी है और अपने को नाना रूप मानते हैं। सो जरा-जरासी बातों में विकार होता है, छल-कपट आदि की बातें सूझती हैं। पुरुष व स्त्री के वेष में आने का कारण अपने स्वरूप का अज्ञान है। भैया! अमृतमय तो यह खुद है, आनन्दस्वरूप तो यह खुद है, पर इसकी अपने स्वरूप में दृष्टि नहीं रह जाती सो दुःखों की बहार छा जाती है। देखो दुःख है केवल ख्याल भर। ख्याल के सिवाय और कोई दुःख नहीं है। दुःख आते हैं क्या अन्य कहीं से? ख्याल बनाया, दुःख हो गए और अच्छा विचार बना लिया, दुःख मिट गए। दुःखी होना, सुखी होना अपने ज्ञान पर निर्भर है। मगर ऐसा ज्ञान सर्वसाधारण में पाये

सुख यहाँ द्वितीय भाग

926

कहां ? जिस ज्ञान से आनन्द आता है वह ज्ञान बना रहे यह बात हो कैसे किसकी शरण जायें, किसको अपनी शरण मानें, किसकी बात करें कि हमें ज्ञान की ही प्रेरणा मिले। जगत में ऐसे मिलने वाले कठिन हैं, नहीं मिलते हैं। जिससे बात करें वे रागद्वेष बढ़ाने की ही बात करेंगे। समता और ज्ञान की सहज भी बात नहीं करेंगे। तब फिर क्या शरण रही ? किसके पास जाकर कहें, रोवें कि मेरे ज्ञान की कुंजी ठीक कर दो ताकि मैं सुखी हो जाऊं।

भैया ! ज्ञान सही बनाए बिना सुख नहीं हो सकता है। अपने से बाहर न देखो, सुख तो अपने शुद्ध ज्ञान से ही मिलता है। यहां बैठना है, वहां उठना है, मैं धनी हूं, मैं गरीब हूं, मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं, ये सारे विकल्प अज्ञान हैं, और इन दशाओं रूप अपने को माना तो मिथ्यात्व है। इससे आनन्द की आशा कहां है सो सुख के वास्ते लोग घर बसाते हैं, परिवार बढ़ाते हैं, दुकान, मकान आदि ठीक करते हैं। सब कुछ श्रम शान्ति के ही लिये करते हैं, मगर शान्ति नहीं मिलती है। आप लोगों को यह अनुभव भी है कि शान्ति प्राप्त करने का यह उपाय ही नहीं। शान्ति का उपाय केवल आत्मस्वरूप का सही ज्ञान करना है। ब्रह्म का ज्ञान कहो, परमात्मा का ज्ञान कहो, आत्मा का ज्ञान कहो यही शान्ति का उपाय है। शान्ति का स्वसंवेदनातिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है। अगर यथार्थ ज्ञान बन जाय तो यह इस जीव की सबसे अधिक विभूति है। ज्ञान जाग जाय इससे बढ़कर अन्य कोई वैभव नहीं है। इसके भीतर लालसा की व्याधि नहीं होती। लालसा बाहर ही बाहर है। यह परिवार मेरा है, यह धन मेरा है, ऐसे मोह में जो आसक्ति हो गयी है वह ठीक नहीं है। इस मोह में ऐसा साम्राज्य छाया है कि जगत् के जीवों को सुख नहीं नजर आता है।

जो भाव परपदार्थों को अपना माने उसे मोह कहते हैं। जो इस देह से मोह करता है वह भी मोह ही है। यह शरीर तो जला दिया जायगा, नष्ट हो जायगा। यह आत्मा यहां से चला जायगा। कहां चला जायगा, यह इस जीव की करतूत पर निर्भर है। जिसने जिन्दगी में कुकर्म किए उसकी दुर्गति है और जिसने सत्कर्म किए वह सद्गति में जायगा। मैं तो ज्ञानमात्र हूं। यह ज्ञानस्वरूप ही मेरा शरण है। इस कारण इस ज्ञानमात्र अपने स्वरूप को देखो और अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ।

यत्र वासो रतिस्तत्र तत्रैकत्वं ततो निजे।

उषित्वा ज्ञानदृष्ट्याहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२-५३॥

अर्थ- उपयोग-स्वरूप आत्मा का जहाँ वास होता है वहाँ रति हो जाती है जहाँ रति होती है वहाँ एकपन हो जाता है इसलिये मैं निज आत्मा में ज्ञान दृष्टि के द्वारा निवास करके अपने में अपने अर्थ स्वयम् सुखी होऊं।

जहां पर उपयोग का निवास होता है वहां रुचि होती है और जिसमें रुचि होती है उस ही में तन्मयता होती है, ऐसी बात है ना। जिसमें ज्ञानी का चित्त बसा रहता है वही स्वरूप ब्रह्म होता है और जिसमें रुचि है उसमें ही तल्लीनता होती है। जगत् के वाह्य पदार्थों में बहुत बसे और फल कुछ प्राप्त नहीं हुआ,

उल्टा घाटे में ही रहे। अच्छा बतलाओ ५० - ६० वर्ष घर की सेवा में ही रहे, बूढ़े हो गए और बूढ़े होने के बाद देख लिया ना, कितना लाभ पाया ५० - ६० वर्ष घिसटे। परिवार, दुकान आदि में मोह किया। अंत में रहा क्या इसके पास देख लिया ? ऐसे ही समझ लो कि अंत तक जो-जो करते हैं मोह के, राग के, द्वेष के काम कर डाले, पर अंत में रहेगा क्या इसके पास ? तो यह वाह्य जगत् बसाने लायक नहीं। उससे हटकर अपने निजस्वरूप में ही निर्वाह करो।

निजस्वरूप में निर्वाह क्या है ? अपने ज्ञानस्वरूप को जानते रहो कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। ऐसा ही निरंतर ध्यान करो।

भैया ! घर में, परिवार में तथा शरीरादि में न मोह करो। परिवार, घर आदि में क्षण भर भी अपने चित्त को न उतारो, कुछ समय बाद में ही वे सब मिट जायेंगे। दो मिनट तो अपने ज्ञान के प्लेटफार्म को साफ कर लो, अज्ञान का विंकट आवरण इन मोही प्राणियों के पड़ा हुआ है। अगर तू अपने यथार्थ स्वरूप के परिचय का यत्न करते-करते मोह और अज्ञान को दूर कर ले तो कल्याण निश्चित है। बाहर की चीजें आयीं, गयीं फिर आयीं, फिर गयीं इस तरह से मिट जाने वाली है। मैं तो सबसे निराला हूँ, मैं सब जीवों से न्यारा हूँ, ऐसा अपने आपका ख्याल करो उनकी चाह क्यों करता है जो दुःख देने वाले हैं ? धन-वैभव सम्पदायें अपने आप मिलती हैं और एक दिन उनका वियोग जरूर होगा। चाहे इसी जन्म में वियोग हो जाय, चाहे वह सम्पदा यहां धरी ही रहे और स्वयं मर जाय इस तरह वियोग हो जाय। इस सम्पदा का वियोग जरूर होगा और जब वियोग होगा तब क्लेश जरूर होंगे। ऐसी वाह्य सम्पदाओं की आशा करने में क्या सार है ?

अच्छा भैया ! सम्पदा प्राप्त कर ली, सुख देख लिया तो खूब सोच लो कि सम्पदा पाने से क्या सुख मिला या मिलेगा ? सुख नहीं मिलेगा बल्कि केवल दुःख मिलेगा। अपने आगे सम्पदायें लग जायें तो दुःख, सम्पदायें यहीं धरी हैं और स्वयं मर जाये तो दुःख। इस दुनिया में जो दुःख होते हैं वे सम्पदा के पाप के कारण ही होते हैं। तो फिर उन सम्पदाओं को चित्त में लाने से कौन सा लाभ हुआ ? वाह्य को चित्त में बसाने से कोई लाभ नहीं हो सकता है। अपने ज्ञानस्वरूप को ही अपने चित्त में लावो। अपना ज्ञानस्वरूप अपने चित्त में आवे तो उसका वियोग होता ही नहीं, सो आनन्द ही रहेगा। यदि मेरा ज्ञान लौकिक वैभव सम्पत्तियों में लगा तो सदा क्लेश ही रहेंगे। यदि अपना शुद्ध ज्ञानस्वरूप ही नजर आये तो आनन्द ही आनन्द है। वाह्य सम्पदाओं से मोह छोड़कर अपने अंतरंग में जो सम्पदा है उसमें चित्त दो। यह चीज आपकी खुद आत्मा की बात कही जा रही है। यहां वहां की चर्चा, गप-शप में तो शान्ति नहीं मिलेगी। शान्ति तो मिलेगी अपने ज्ञान को सही बनाने में ही। अपने ज्ञान को सही बनाना एक तपस्या है। अगर अपना ज्ञान सही नहीं है तो वाह्य वासनायें सताती हैं।

ये मोही प्राणी अपने आप से निकल-निकलकर बाहर दौड़ते हैं। उस दौड़ से हटकर अपने आपको सही मार्ग में केन्द्रित करो यही बड़ी तपस्या है। स्वाधीनता में रत रहने से ही आनन्द है। सो भैया !

उन सब पदार्थों से हटकर अपने आपको स्वरूप में ज्ञानदृष्टि दो और अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ। अपने सुख के लिए दूसरों की आशा न करो। दूसरों से सुख नहीं मिलेगा। दूसरों की आशा करने पर, दूसरों की प्रतीक्षा करने पर तो दुःख ही आ पड़ेंगे। इन प्राणियों के ऊपर जो दुःख आ जाते हैं वे दुःख कहीं बाहर से नहीं आ जाते हैं। वे स्वयं ही खोटी कल्पनायें करके दुःखी हो जाते हैं। तो अन्य सब ख्याल छोड़ दो और अपने प्रभु के शुद्ध ज्ञानस्वरूप को देखो तो आनन्द है।

भैया ! वाह्यरुचि छोड़कर साधु की तरह केवल अपने आत्मा राम से रिश्ता जोड़ो तो तुम्हारी शोभा है। ज्ञानी जीव तो लोक वैभव में खेद करते हैं, दुःख मानते हैं कि हाय मेरा ऐसा परिणाम हो रहा कि अनहोनी बात की कल्पना की जा रही है। वाह्यपदार्थों के संचय से मुझे लाभ नहीं हो रहा है, वे सब आनन्द की बातें नहीं हैं, उनसे हटकर ज्ञानमात्र अपना स्वरूप अनुभव में आवे तो यह ही आनन्द का उपाय है। दुनिया में मेरे लिए मैं ही हूँ। आखिर अपने ही दिल से समझ लो और दुःख मिटा लो। दुःख मिटाने का और कोई उपाय नहीं है। वह उपाय खुद का स्वरूप ही है। रागादिक चलते हैं चलने दो, उनमें लगे न रहो। प्रवृत्ति तेरे उपयोग से न होनी चाहिए। इन सब बातों से खेद ही मानना पड़ेगा।

वाह्य में लगने से खेद ही मानोगे। विषयों में खुशी मानते हो और शान्ति चाहते हो तो वह बच्चों का तो खेल नहीं। खेद की बात है कि मोह में ही लगे रहते हो। बाहर में ही खिंचाव रहता है, तो ये तो मिटने की बातें हैं। अपने को मोह से हटाओ। मोह में ही अपना विनाश है। तो भैया ! वाह्य पदार्थों में अपने चित्त को न बसाओ। यदि वाह्य में अपना चित्त लगाओगे तो अपने ज्ञानस्वरूप को खो बैठोगे। भैया ! अपने ज्ञानस्वरूप में ही बसो। दुःख बुरे नहीं होते हैं। उन दुःखों से न घबड़ाओ। यदि दुःख आ रहे हैं तो प्रभु के स्मरण का अवसर चल रहा है। आनन्दधन अपने आपके वाह्यस्वरूप की ओर झुको तो आनन्द ही आनन्द प्राप्त होगा। सुखों में मत फूलो। ये सुख प्राणी को पतन की ओर ले जाते हैं। इस अपने चित्त को विषयों में न बसाओ, अपने ज्ञानस्वरूप में रुचि करो कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। ऐसा अपने आप में ज्ञान बनाओ। और ऐसा ज्ञान बनाने के लिए व्यवहार में न्याय प्रवृत्ति करना होती है। अपने चित्त को अपने स्वरूप में लगाओ। कदाचित् कुछ करना पड़े तो न्याय की प्रवृत्ति हो। बस यहां शान्ति प्राप्त करने का एक यही उपाय है।

यज्ज्ञानेन जगन्मन्ये तत्र मे किं तदावृत्तिः।

स्वादृतिः सा स्ववृत्तिर्हि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥२-५४॥

अर्थ- जिस विशेषज्ञान के द्वारा मैं जगत् को मान रहा हूँ वह ज्ञान ही मेरा सहज भाव नहीं है तो फिर क्या जगत् में आदर हो ? और स्व का आदर वह ही है जो स्व में वृत्ति हो इसलिये नियम से अब मैं अपने में ही रहकर अपने अर्थ अपने आप सुखी होऊँ।

जिस ज्ञान के द्वारा मैं इस सारी दुनिया को देखता हूँ, इष्ट अनिष्ट मानता हूँ, उसमें आदर नहीं होना चाहिए। जिस ज्ञान के द्वारा हम कुटुम्ब, परिवार, धन, दौलत को देखते हैं उस ज्ञान का आदर नहीं होना चाहिए। घर मिला, परिवार है, कुटुम्ब है, सम्पदा है ये सब तुम्हारे दुःखों के कारण हैं। वह

ज्ञान तुम्हारे दुःख के लिए बना। विकृत ज्ञान के द्वारा जिस जगत को देखते हैं उस जगत में आदर नहीं है। ये घर, परिवार, मित्र जन आदि सुख के कारण नहीं हैं। सुख के मायने वह असली सुख है जो इस आत्मा में स्वतः भरा है। भैया ! आनन्द बाहरी चीजों में नहीं मिलता है, किन्तु मोह की महिमा विचित्र है। सो इस जगत की उपेक्षा करके और अपने आपकी ओर दृष्टि करके अपने आप सुखी होओ।

कः कस्य कीदृशः क्वेति देहमप्यविशेषयन्।

सहजानन्दसम्पन्नः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥२-५५॥

अर्थ— कौन ? किसका ? कैसा ? कहाँ ? इस प्रकार देह तक मैं भी विशेषण न करता हुआ मैं स्वाभाविक आनन्द से युक्त होता हुआ अपने में अपने अर्थ स्वयम् सुखी होऊँ।

यह देह क्या है, यह शरीर क्या है, यह शरीर कैसा है, मैं कैसा हूँ ? किसी प्रकार की विशेषता न कर। मैं तो सबसे न्यारा ज्योतिस्वरूप हूँ। मेरा स्वरूप आनन्दमय है। आत्मा का स्वरूप ही आनन्द है। सो उस आनन्दस्वरूप को ही निरखो और सुखी होवो। भैया ! एक कहावत है कि लेवा मरे कि देवा, बल्देवा करे कलेवा। अरे ये जो मिले हैं — घर, दौलत, स्त्री, पुत्र इत्यादि इनके पीछे अपने ऊपर कितने दुःख आते हैं। यह सब अपने आपको न देखने से अशान्ति है, आकुलतायें हैं। यदि जीव विषयों की वासना रखे तो वह भगवान का भक्त नहीं है। भगवान की भक्ति और गुरुओं की सेवा, ये दोनों करते रहो, मोह और ममता की बातें कम करते जाओ। मोह से, ममता से पार न लगेगा। जितना स्त्री से, पुत्रादि से मोह करोगे उतना ही क्लेश बढ़ते जावेंगे। जितना ही बाल-बच्चों से, स्त्री-पुरुष आदि से मोह करोगे उतने ही क्लेश लगेंगे। अपने ही आनन्द स्वरूप को देखो आपका स्वरूप ही आनन्दमय है। कहीं भी बैठे हो, कहीं भी रहते हो, कैसी भी स्थिति हो पर अपने आत्मस्वरूप को देखो। मैं सबसे निराला हूँ, ज्ञानानन्दधन हूँ ऐसा मनन कर अपने आप में रमकर सुखी हो जाओ।

हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, दूसरे की स्त्री को ताकना, अन्याय करके धन कमाना आदि ये पाप हैं इन्हें न करो। कोई दयाहीन जन किसी जीव को मार डाले तो उसे क्या कष्ट नहीं होते होंगे ? अगर जरासी सुई चुभ जाती है तो कितना कष्ट होता है ? फिर जब दूसरे जीवों को मारा जाय तो उन्हें कितना कष्ट होता होगा ? ये बातें तो तब दूर हो सकती हैं जब वे लोग मांस खाना छोड़ दें। जब तक मांस का बिल्कुल त्याग नहीं होगा तब तक ये बातें दूर नहीं हो सकती हैं। चाहे पंगत में मांस खाते हों, चाहे देवी-देवताओं में बलि चढ़ाते हों, जब तक इनका त्याग नहीं होगा तब तक धर्म के स्वरूप का दर्शन भी नहीं होगा। तो भैया ! इन चीजों का त्याग होना जरूरी है। जो लोग सुखी होना चाहते हैं उनका सर्वप्रथम कर्तव्य है कि “आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।” यदि ऐसा सद्व्यवहार कर लिया जाय तो आत्मोन्मुखता का अवसर होगा। यदि ज्ञानमार्ग प्राप्त हो गया तो सबसे विविक्त निज आत्मतत्त्व में रमकर स्वयं ही स्वयं में स्वयं के लिये सुखी हो सकते हैं। सो भैया ! सुख के लिये सम्यग्ज्ञान पाने का यत्न करो।

अध्याय ३

नश्वरे चेन्द्रियाधीन सुखे सारो न विद्यते।

का रतिस्तत्र विज्ञस्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-१॥

अर्थ- क्षण भंगुर और इन्द्रियाधीन सुखाभास में सार कुछ भी नहीं है फिर भी ज्ञानशील मेरे को उसमें क्या रति हो मैं तो स्वयम् स्वयम् के अर्थ स्वयं में सुखी होऊँ।

ये संसार के सुख जिनके लिए जगत् के प्राणी दुःखी हैं, पराधीन हैं, परिणाम करते हैं उस संसार के सुखों में प्रथम ऐब तो यह है कि ये विनाशीक हैं। कौन सा सुख जान रहे हो, अपने-अपने समय की याद कर लो। कौन से सुख सदा रहे हैं ये तो विनाशीक ही हैं। आज जिनसे सुख मिलता है वे भी नष्ट होंगे। सो इन इन्द्रिय सुखों में बड़े दुःख हैं। यही तो ऐब हैं। ये सुख ६ प्रकार के हैं। एक तो सुख है स्पर्शन का, कर्मों में, विषयसेवन में, मैथुन में ये प्रथम इन्द्रियों के सुख हैं। दूसरा लोग सुख मानते हैं स्वाद का, खाने-पीने का भला लग गया, मीठा लग गया आदि। तीसरा सुख माना जाता है सूंघने का, वाह्य चीजें सूंघने में आयें तो उनमें मोह है। चौथा सुख माना जाता है देखने का। देखने में कोई सुन्दर रूप आ जावे, कलात्मक चीज देखने में आ जावे उसको देखकर खुश हो रहे हैं। पांचवां सुख है राग रागानुभावों की आसक्ति का। छठवां सुख है मन का। कीर्ति चाहिए, प्रशंसा चाहिए, इज्जत चाहिए, सम्मान चाहिए। ये ६ प्रकार के सुख दुनिया में हैं। ये ही सब ६ प्रकार के सुख विनाशीक हैं। वास्तविक जीव की बात कही जा रही है। इन सुखों में भैया ! दूसरा अवगुण है कि ये सुख इन्द्रियों के आधीन हैं, पराधीन हैं। इन सुखों में लगने से ये सभी जीव बरबाद हो जाते हैं। जिह्वा के द्वारा मीठा लग गया, कटु लग गया आदि जो सुख हैं वे वास्तविक सुख नहीं हैं। ये सुख पराधीन हैं। आनन्द तो तब है जब स्वाधीन हों, जब अधिकार की बात हो ये सारे सुख इन्द्रियों के आधीन हैं। इनमें सार नहीं है कोई कहे पराधीन हों तो होने दो सुख तो कुछ क्षण को मिल जाता है। सो भैया ! ये सुख जितने क्षण हो उन क्षणों में भी उन सुखों में सार कुछ नहीं है, हित की बात कुछ नहीं है। उन सुखों में पड़ने से परिणाम केवल पछताना ही मिलेगा। इन संसार के सुखों में पड़ने से केवल जीवन भर पछताना ही बना रहेगा जिनका उन सुखों से सम्बन्ध है वे पछताते ही तो होंगे। सुखों के सम्बन्ध को निकाल दो, यदि कुछ कल्याण न किया, इन सुखों में ही पड़े रहे तो इस संसार में पछताना ही बना रहेगा।

इन संसार के सुखों में सार रंच भी नहीं है। हे आत्मन् ! देख तो तू ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानमय है, ज्ञान ही तो तेरा काम है। ज्ञान के अतिरिक्त और तेरा कोई काम ही नहीं है। यदि संसार के सुखों से ही प्रीति रही तो संसार में रूतना ही बना रहेगा। हे आत्मा ! तू ज्ञानमय होकर भी यदि संसार के सुखों से प्रीति करे तो बेकार है यह जीवन। भैया ! इन संसार के सुखों की प्रीति छोड़ दो, तू तो स्वयं ही आनन्दस्वरूप है। पर की ओर दृष्टि जाये तो विघ्न ही हैं। संसार के सब सुखों से अपने उपयोग को बाहर हटाओ। केवल अपने स्वरूप को ही देखो तो वहाँ क्लेशों का नाम ही नहीं है। दुःख तो संसार

के सुखों के ही भोगने के कारण ज्यादा भोगने पड़ते हैं। तू इन्द्रियज सुखों की प्रीति को तज। यदि तजते नहीं हो तो तुम भक्ति के काबिल नहीं हो।

यदि स्त्री प्रसंग ज्यादा करते हो तो कहीं बीमार हो गए, कहीं डाक्टर वैद्यों की शरण में पड़े रहे दुःख भोगोगे। रसना इन्द्रिय के वश होकर मात्रा से अधिक खा लिया तो फिर डाक्टर वैद्य तो मूंग की ही दाल को पांच सात दिन तक खिलायेंगे। यदि सुखों में ही आसक्त रहे तो धर्म के पात्र नहीं रहोगे। गंधी की दुकान में नाक में दम हो जाता है। यदि सुख ज्यादा भोगोगे तो सुख भोगने के काबिल न रह जाओगे। एंकांकी नाटक, थियेटर, सिनेमा आदि को टक-टकी लगाकर देखोगे तो आंखें कमजोर हो जावेंगी। बार-बार देखने से वह अरुचिपूर्ण मालूम होगा। इसी तरह वही भजन उसी राग से बार-बार सुना तो कह देंगे कि बस रहने दो, बंद कर दो। कहां तक सुनेंगे? इन सुखों से प्रीति करने में हित नहीं है। इसलिए यही निर्णय करो कि संसार के सुखों में मनुष्य देह बड़ी दुर्लभता से मिलती है, इसे पाकर विषयों में मत लगा लेना।

एक दृष्टान्त आता है कि एक सिर का खिजैला अंधा आदमी था। उसने सुन लिया कि इस नगरी में जो अंधा आयागा वह जो मांगेगा वही मिलेगा। यह सुनकर वह अंधा उस नगरी में जाना चाहता है। नगरी में एक कोट फैला हुआ था। वह अंधा कोट पर हाथ धरे चलता जाता है जहां दरवाजा मिलता है वहीं वह खाज खुजाने लग जाता है। वह उस कोट को छुवे हुए चला जा रहा है। जिस वक्त दरवाजा आया उस वक्त वह अपने हाथों से अपना सिर खुजलाने लगा। अब तो वह दरवाजा निकल गया। इसी प्रकार फिर आगे जब दरवाजा आया तब फिर अपने हाथों से खुजलाने लगा। इसी प्रकार यह जगत् का प्राणी ८४ लाख योनियों में अनेक बार चक्कर काटता आया, भ्रमण करता आया, मगर जब मनुष्य जन्म पाया तब अपने हाथों से अपना सिर खुजाने लगा। अब वह मनुष्य योनि भी बीत गयी और दूसरी योनियों में यह जीव चला गया। अरे भैया, जरा इस मन को तो वश में करो। यदि अनर्गल में पड़ गए तो यह उचित काम नहीं। इस संसार के सुखों में न पड़कर, प्रथम कर्तव्य यह है कि अपने ज्ञानस्वरूप को देखो, प्रभु के स्वरूप को देखो, अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप की ही शरण गहो, इसमें ही सुख प्राप्त होगा।

यतोऽन्ते क्लेशदाः सर्वे सम्बन्धा विपदास्पदाः।

ततः संगं परित्यज्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३-२॥

अर्थ— जिस कारण कि सर्व ही सम्बन्ध विपत्ति के स्थान हैं और अन्त में क्लेश देने वाले हैं इसलिये परिग्रह के संग को छोड़कर मैं अपने में अपने लिये स्वयम् सुखी होऊँ।

दुःखों की जड़ क्या है? सब दुःखों की जड़ है दूसरों से सम्बन्ध। जहां सम्बन्ध जुड़ा तहां क्लेश उत्पन्न हुए। ये सम्बन्ध ही क्लेशों के देने वाले हैं। पति-पत्नी के सम्बन्ध से सुख दोनों को ही न मिलेगा। ऐसा तो कोई प्रोग्राम होगा नहीं कि दोनों एक साथ ही मर जावें, तो सम्बन्ध की बात देखो समस्त क्लेशों

सुख यहाँ द्वितीय भाग

के देने वाले हैं। यदि पत्नी गुजर गयी तो उसके वियोग में पति दुःखी होगा और यदि पति गुजर गया तो उसके वियोग में पत्नी दुःखी होगी। तो ये स्त्री, पुत्र वैभव इत्यादि जीवन में दुःख देने वाले ही हुए। इनके सम्बन्ध तो क्लेश ही देने के मुख्य कारण हैं। कौनसा सम्बन्ध और समागम है जो क्लेश न दे।

भैया ! भले ही थोड़ा सा मौज मान लें, मगर अन्त में ये संग क्लेश ही देते हैं। कोई सम्बन्ध ऐसा नहीं जो अन्तर में दुःख न देगा। सब अन्त में नियम से क्लेश ही देने वाले हैं। इस कारण इस समागम को पाकर ऐसा विचार रखो कि ये विनाशीक हैं और अन्त में क्लेश ही देने वाले हैं। ऐसे विचार बने रहें तो जीवन में सन्तोष होगा। यदि ममता की कुबुद्धि ही बनी रहे तो जीवन में सदा दुःख ही बने रहेंगे। यदि किसी चीज को यह मान लें कि मेरा है, तो मन मलीन हो जायेगा और उससे क्लेश ही बने रहेंगे। इसलिए यदि जिनके वियोग का दुःख न उठाना हो उनके संयोग समय में हर्ष न मानो, फूले फले न फिरो। अगर संयोग में हर्ष मानोगे तो क्लेश ही रहेंगे। तो ये समस्त सम्बन्ध अन्त में क्लेश ही देने वाले हैं, विपत्तियों के ही साधन हैं। केवल एकाकी शुद्धस्वरूप की श्रद्धा कर सको तो मुक्ति का मार्ग मिलेगा और यदि किसी से सम्बन्ध बनाए रहे तो उससे क्लेश ही मिलेंगे।

दो भाई थे। उन दोनों में बड़ी ही मित्रता थी। एक साथ ही वे दोनों स्वाध्याय करते थे। एक भाई ने दूसरे से कहा कि जो पहले मर जावे वह दूसरे को मन्दिर में शिक्षा देने अथवा ज्ञान देने के लिए आवे। एक भाई गुजर गया वह देव हो गया। अब देव भाई ने आकर दूसरे से कहा कि भैया ! ये संसार के जो सुख हैं, परिवार के जो लगाव हैं, स्त्री पुत्र इत्यादि के जो मोह हैं वे बड़े ही दुःखदायी हैं। उन्हें तो त्यागना ही चाहिए। दूसरे ने कहा वाह, मेरी स्त्री बड़ी ही आज्ञाकारी है, मेरा पुत्र बड़ा ही विनयशील है, वे मुझे जीवन भर सुख देने वाले हैं। बोला— अच्छा कल १२ बजे तुम बीमार बन जाना, मैं तुमको ज्ञान देने के लिए वैद्य बनकर आऊंगा, तभी तुमको बता दूंगा। वह भाई बीमार बन गया और दूसरा देव भाई वैद्य बन गया और गांव की गलियों में दवा बेचने लगा। घर वाले लोग बोले इसे ठीक कर दो। वह वैद्य पुकार रहा था कि लो भाई दवा खरीदो। मेरे पास अत्यन्त पेटेन्ट दवा है। अब उस बीमार व्यक्ति के घर वालों ने उसे बुला लिया। वैद्य बोला कि एक गिलास जल मंगा दीजिए। एक गिलास जल आ गया। वैद्य ने अपनी झोली से झूठ मूठ की दवा निकाली, मानो राख हो उसे उस एक गिलास के पानी में मिला दिया। घर वालों से कहा कि लो दवा पियो। घर के लोग बोले— अरे बीमार कौन है, और दवा किसको पीने के लिए कह रहे हो ? वैद्य ने बताया कि यह दवा ही ऐसी है कि जो पियेगा वह मर जायेगा और इसके बदले में वह ठीक हो जायेगा जो कि बीमार है। पहले उसकी मां से कहा कि लो दवा पियो। मां ने सोचा कि मेरे अभी तीन लड़के हैं। यदि मैं मर गयी तो इन तीनों लड़कों का सुख न देख सकूंगी। बाप से भी कहा गया तो उसने भी इसी प्रकार सोचा। स्त्री से कहा तो उसने भी सोचा कि अभी हमारे तीन लड़के हैं यदि मैं मर गयी तो उनका सुख न देख सकूंगी। इस तरह सोचकर घर के किसी भी सदस्य ने वह पानी नहीं पिया। वैद्य ने कहा कि क्या मैं पी लेऊं तो घर के लोग बोले कि हां हां पी लेवो। उस वैद्य ने दवा को पी लिया। अब तो वह बीमार व्यक्ति उठकर खड़ा हो गया

और समझ लिया कि वास्तव में मेरी शरण अन्य कोई नहीं है। जगत के जितने भी सम्बन्ध हैं वे सब विपत्तियों के ही साधन हैं।

तो भैया ! इन सम्बन्धों को छोड़ो। छोड़ने का मतलब यह नहीं कि अपना घर त्याग दो। मैं यह नहीं कह रहा हूँ, पर सम्बन्ध छोड़ने का मतलब यह है कि किसी अन्य से सम्बन्ध की बुद्धि न हो। ऐसा विश्वास हो और अपने अन्तर से मोह को हटाओ तो शान्ति प्राप्त हो सकती है। ऐसे शुद्ध ज्ञानमात्र की प्रतीति रखो, अज्ञानता को हटाओ, अपने ज्ञान के उपाय जुटाओ और शास्त्र पढ़ो। अपने समस्त बाह्य उपयोगों से चित्त को हटाकर विश्राम में ठहर जाइए।

यौवनं जरया व्याप्तं शरीरं व्याधिमन्दिरम्।

समृत्यु जन्म कः सारः ? स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-३॥

अर्थ- यौवनावस्था बुढ़ापे कर व्याप्त है अर्थात् जवानी के बाद बुढ़ापा ही आता है। शरीर रोगों का घर है जन्म मरण कर सहित है उनमें अर्थात् जवानी, शरीर व जन्म में सार क्या है? मैं तो स्वयं सार रूप अपने में अपने अर्थ स्वयं सुखी होऊँ।

बतलाओ इस लोक में सार चीजें क्या हैं? यौवन है तो वह बुढ़ापे के साथ लगा हुआ है। शरीर है तो व्याधि का घर है। जन्म है, मृत्यु भी साथ में ही है। कौनसे ऐसे पदार्थ हैं जो सारभूत हैं। सो बाहरके कोई भी पदार्थ हों, पैसा हो, धन हो, मित्र हों, परिवार हो कोई भी इस लोक में हितरूप नहीं है। उनमें कुछ है तो केवल क्लेश ही है। उनमें अगर आसक्ति है तो दुनिया भरके झगड़े, विवाद आदि खड़े हो जाते हैं। यदि सच्चा ज्ञान नहीं है तो हमें ही वे दुःख उठाने पड़ेंगे। दुःख भीतर स्वभाव में नहीं होते हैं, केवल ख्याल बनाकर ही दुःख होते हैं।

सोचो यहां सार चीज क्या है? सारकी चीज यहां कोई नहीं हैं। सभी मोह की चीजें हैं। इन झूठे मोहों में तो क्लेश ही क्लेश बने रहेंगे। मान लिया कि ये हमारे बच्चे हैं, यह मेरा घर है, यह मेरा परिवार है, हम सम्पन्न हैं तो ये सब मोह की बातें हैं। कौनसा सुख होता है मोह करके सो बतलाओ। तुम सुख की तलाश में फिरते हो बाहर ही बाहर, तो यह तो क्लेश का ही उपाय है।

धन का मोह किया, हर प्रकार की चोटें सहीं, पराधीनता की चोटें सहीं तो कितना पछताना पड़ेगा? मोह में फंस गए इसी से दुःख हो गए, नहीं तो दुःख कहां है ? मोह के मायने है अज्ञान। इस मोह से तो सही ज्ञान नहीं रह सकता। सही ज्ञान का न रहना ही मोह कहलाता है सो मोह से अशान्ति के अलावा और कुछ नहीं मिलता है। यह मेरा है, यह पराया है, यह इष्ट है, यह अनिष्ट है इत्यादि ही मोह है। अरे जीव जीव सब एक स्वरूप हैं, उनमें छंटनी करने से क्या लाभ है?

यह मेरा है, यह पराया है ऐसी छंटनी करने का नाम ही मोह है। जैसे स्वप्न में देखी हुई चीज झूठी नहीं मालूम होती है उसी तरह मोह की नींद में जो कल्पनायें पैदा होती हैं वे भी झूठी नहीं मालूम होती हैं। यह मेरा ही तो लड़का है, यह मेरी ही तो स्त्री है, यह मेरा ही तो परिवार है इत्यादि ही मोह

की झूठी कल्पनायें हैं। अरे वे तेरे कुछ नहीं हैं, वे सब न्यारे न्यारे हैं। ये मोही अशांति के तो काम करते हैं और शान्ति चाहते हैं तो यह कैसे हो सकता है ? तो इन विकल्पों से तो दुःख ही सदा रहेंगे। सो कहते हैं कि सारभूत चीज क्या है? सारभूत चीज कुछ भी तो नहीं है।

सारभूत चीज तो आत्मा ही है और आत्माकी खबर दिलाने वाली प्रभु की मूर्ति है। उस भगवान की शान्तिपूर्ण मुद्रा के दर्शन करें तो शान्ति का मार्ग प्राप्त हो सकता है। अपने आत्मस्वरूप में ही रमो तो शान्ति का मार्ग प्राप्त कर सकते हो। शान्ति का मार्ग प्राप्त करने का उपाय तो अपने आत्मस्वरूप का दर्शन ही है। भगवान की शान्तमूर्ति के दर्शन करके अपने आत्मा की खबर होती है। सो यह प्रभु की भक्ति तुम्हारी शरण है। हम सब जीवों का धर्म ही शरण है और धर्म ही सार है। धर्म के सिवाय हितरूप और कुछ नहीं है सो अपनी अपनी बातें तोल लो। ये जो परिवार के लोग हैं उनसे मोह न करो। अपने प्रभु का ही स्मरण करो तो शांति प्राप्त हो सकती है। यदि अपने प्रभु को भूल गए तो संसार में रुलना ही पड़ेगा। सत्य की झलक न मिलेगी, जीवन की बरबादी ही होगी। यदि कुटुम्ब, परिवार आदि का भाव आवरण होगा तो ज्ञान ढक जायगा, सोये हुए ही रहोगे। इन मोह की चीजों में सार कुछ नहीं है, लाभ कुछ नहीं मिलेगा इसलिए हित चाहने वाले का कर्तव्य यह है कि वह परपदार्थों के मोह का त्याग करे अपने सहज स्वरूप का दर्शन करे तो अपने आप में आ जायगा और अपने आपमें ही नियम से सुख होगा।

येषां योगो वियोगो हि नियमेन भविष्यति।

तेभ्यो नु किं मुक्ताखिन्दम् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-४॥

अर्थ— जिन पदार्थों का संयोग होता है नियम से निश्चय से उनका वियोग होवेगा फिर मैंने उन पदार्थों के लिये व्यर्थ क्यों खेद किया मैं तो अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

जिन पदार्थों का संयोग होता है उनका नियम से वियोग होता है। बतलाओ ऐसी कौनसी चीज है जो मिल जाती हो, पर कभी अपने से जुदा न होती हो। क्या कोई ऐसा पदार्थ है ? अरे औरों की तो बात ही क्या जो शरीर मिला है वह भी इससे जुदा हो जाता है। फिर मिली हुई चीज का क्या हर्ष करना, क्या फूले समाना। उसका तो वियोग जरूर होगा। और वियोग जब होगा तो वियोग होने पर कठिन खेद करना भी तो होगा। संसार की रीति ही है ऐसी कि संयोग होता है तो उसका वियोग जरूर होगा।

जिन महापुरुषों के हम नाम सुनते हैं वे महापुरुष भी जब नहीं रहे, जो निर्वाण को भी प्राप्त हो गए, स्वर्ग गए उनका तो यहां अस्तित्व है ही नहीं। वे तीर्थंकर हों, वे नारायण हों वे चक्रवर्ती हों। कोई महापुरुष भी जब एक जगह कायम नहीं रह सके फिर हम और आपकी तो बात ही क्या है? जिसका संयोग होता है उसका नियमसे वियोग भी होगा।

सो भैया ! ज्ञान बिना पूरा नहीं पड़ेगा। कुछ भी ख्याल बना लो, कुछ भी धन जोड़ लो, पर दुःख

नहीं मिटेंगे। जब तक हृदयमें ज्ञान नहीं पैदा होगा। यहां कोई सहाय नहीं रखा है। जब तक पूछने वाले मिलते हैं, मन बहलाने वाले मिलते हैं, पर कोई शरण नहीं है। शरण तो मेरा ज्ञान ही होगा। ज्ञान बिना मेरा कोई भी शरण नहीं होगा, जो जैसा है उसे वैसा ही जानना ज्ञान है। बाकी तो सब बखेड़ा है, मिट जाने वाला है, पर लोग मानते हैं कि वैभव सदा मेरे पास रहेगा। सो अपने भीतर के ज्ञान से नेत्रों को खोलो और यह तो अन्तर में मान जावो कि जिन पदार्थों का संयोग होता है उनका नियम से वियोग होगा।

चाहे इन पदार्थों से मेरा सम्बन्ध मिट जाय, चाहे इनके रहते हुए मैं मिट जाऊं, पर होगा वियोग जरूर। ऐसा मानते ही आधा दुःख मिट जायगा। तो भाई, चाहे धन हो, चाहे परिवार हो, चाहे शरीर हो ये सब मिट जाने वाली चीजें हैं। जो मिट जाने वाली चीजें हैं, उनका हथियाना, अंगीकार करना तो मोह है, अविवेक है। इस मोहसे तो केवल क्लेश ही रहेंगे। सो उनके वास्ते खेद मत करो।

‘उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्’ जिसका चित्त उदार है यथार्थ स्वरूप ज्ञान में आ गया उसकी सारी पृथ्वी कुटुम्ब बन जाती है। इस जगत् के सब जीवों का स्वरूप भी मेरे ही स्वरूप के समान है। मैं तो ज्ञानानन्दधन हूँ, फिर उनमें से कुछ जीवों को २-४ जीवों को अपना लेना जो घर में आए हैं और बाकी को तो गैर समझ लिया है। ऐसी बुद्धि जो घुसी हुई है वह सब मोह का नमूना है। चित्त को पसारकर दुनियामें देखो तो सब जीव तेरे जीव के ही समान हैं। संकुचित दायरा जो कर रखा कि ये चार आदमी मेरे हैं तो उनके वियोग होने से दुःख होता है। सो दुःखों का फल जो मोह है उस मोह को मिटावो। मिट तो जाता ही है, पर ढंग से मिटावो तो फल मिल जायगा। अगर जबरदस्ती मिट गया तो दुर्गति ही मिलेगी।

एक घटना है कि राजा भोज के समय में कवियों को राजा भोज ने बड़ा इनाम दिया। देहाती गांवों के चार आदमी जो लठैत थे वे भी कवितायें सुनाने के लिए राजा भोज के दरबार में जाने की सोचने लगे। उन देहाती आदमियों में बुद्धि नहीं थी तो उन चारों में से एक ने कविता बना ली जब बुढ़िया को रहटा कातते हुए देखा — वह कविता क्या थी कि ‘चनर मनर रहटा भन्नाय।’ दूसरे ने कोल्हू के बैल को भुस खाते देख कविता बनायी कि ‘कोल्हू का बैल खड़ो भुस खाय।’ तीसरे ने क्या कविता बनाई, प्रीजना धरे धुनिया को देखकर कहा कि ‘कहां से आ गए तरकसबन्द।’ अब चौथे व्यक्ति को भी वे कहते हैं कि कविता बनाओ वह कहता है कि मैं राजा भोज के सामने ही तुरन्त कविता बना लूंगा। सो अब वे चारों देहाती राजा भोज के दरबार में पहुंचे। वे चारों देहाती द्वारपाल से बोले कि राजा भोज से कह दो कि चार महा कवीश्वर आये हैं। सो राजा भोज ने कहा — अच्छा, बुलावो। वे चारों राजा भोज के सामने बुलाए गए। उन चारों ने क्रम से अपनी कवितायें सुनाईं। वे क्रम से बोलते हैं कि ‘चनर मनर रहटा भन्नाय, कोल्हू का बैल खड़ो भुस खाय, कहां से आ गये तरकस बन्द, तो चौथा बोला कि राजा भोज हैं मूसरचन्द।’

अब राजा भोज अन्य विद्वानों से पूछते हैं कि इन कविताओं का अर्थ तो लगावो। कविता में कुछ दम था नहीं यह तो लट्ठमार थी। एक विद्वान् खड़ा होकर बोला कि पहला तो कह रहा है कि ‘चनर

सुख यहाँ द्वितीय भाग

मनर रहटा भन्नाय' जिसका अर्थ यह है कि यह शरीर तो रात दिन रहटे की तरह भन्नाता रहता है। पुरुषों को देखो वे भी कुछ न कुछ किया ही करते हैं। सुबह उठकर झट दातून किया, गठरियों बांधी, बनिज किया, बीज बोया, खाया, पिया, गप्प हांकी आदि आदि और स्त्रियों को देखो तो वे भी कुछ न कुछ किया ही करती हैं। सुबह उठकर झट चक्की पीसना, बर्तन मांजना, खाना पकाना, सायं हुई फिर रसोई बनाई आदि इस प्रकार से ये मनुष्य रहटा सा चनर मनर भन्नाया करता है और दूसरे ने कहा कि 'कोल्हू का बैल खड़ो भूस खाया।' तो ये पुरुष अपना तो रूखा सूखा खाकर बसर करते हैं और बच्चों को शोभा से खिलाते पिलाते रहते हैं। तीसरे ने कहा कि 'वहां से आ गये तरकस बन्द' अर्थात् वहां से यमराज आ गए, मृत्यु आ गयी। तो चौथे ने कहा कि फिर भी राजा भोज मूसरचंद (मूरखचंद) हैं वे अपने कल्याण की बातें नहीं करते, तो राजा भोज ने कहा कि कैसी बढ़िया कविता है।

तो हम अपने लिए क्या करते हैं। जो अत्याचार करता है उसका फल वही भोगेगा जो अत्याचार करता है। सो भाई जिनका संयोग होता है उनका वियोग जरूर होगा। उनके विकल्प छोड़कर अपनी आत्मा का ज्ञान करो, अपनी आत्मा में ही लीन होवो, इससे ही आनन्द मिलेगा, बाह्य दृष्टि से तो आनन्द नहीं मिलता है।

फेनपुज्जेऽपि सारः स्यान्न तथापि शरीरके।

विरज्य देहतस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-५॥

अर्थ- फेन के समूह में चाहे सार निकल भी आवे परन्तु शरीर में सार नहीं हो सकता इसलिये शरीर से विरक्त होकर मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

भैया ! समुद्रों में तालाबों में फेन जुड़ जाता है, पानी के किनारे पर जो झाग होता है, फेना होता है उसमें कुछ सार मिलता है क्या ? यहां से वहां बिखरा, वहां से यहां बिखरा, इस प्रकार से खत्म हो गया। सो उस फेन में चाहे कुछ सार मिल जाय, पर इस शरीर में कुछ सार नहीं मिलता है। वह फेन तो काम में आता है। आजकल दवाइयां बनाने के काम आता है तो उसमें कुछ सार मिल जायेगा, पर इस शरीर में कुछ भी तो सार नहीं मिलेगा। देखो इस शरीर में ऊपर से नीचे तक कोई सार की बात नजर आती है क्या ? कुछ भी तो चीज सार की नजर नहीं आती है। इस शरीर के भीतर हड्डियां और मांस है और ऊपर से चमड़ी की पतली झिल्ली है, यह नष्ट हो जाता है, बरबाद हो जाता है।

आप लोग कहेंगे कि शरीर में साबुन और तेल लगाने से शरीर अच्छा तो लगता है, अरे अगर नहाने के बाद भी नाक बह गयी तो फिर शरीर वैसा का वैसा ही हो जायगा तो इस शरीर में सार की चीज कुछ भी तो नहीं है। इसलिए इस देह से विरक्त होओ, इससे प्रीति न करो, दूसरे जीवों से सम्बन्ध न करो। कोई ऐसा काम करो जिससे आगे भी तरक्की हो। इसलिए भैया ! इस शरीर से विरक्त होकर अपने घर में आवो, अपने स्वरूप को देखो। यह जीव यह आत्मा तुम्हारा घर ही है। सो अब अपने घर की पहिचान रखो। बाहरी पदार्थों में आसक्ति न होने दो, अपने घर के जो दो चार प्राणी हैं उनकी ही व्यवस्था करो, उन पर ही सारा खर्च करो, उन पर ही दिमाग लगाओ तो वह मोह है।

इन जीवों में से हर एक जीव पूर्वभव में तुम्हारा कुछ न कुछ होगा नाते रिश्तेदार, कुटुम्ब परिवार आदि। फिर किसे पराया जानकर आज के मिले हुआँ में मोह करते हो अथवा यह व्यवहार दृष्टि छोड़कर भीतर अपने स्वरूप को देखो। मेरा स्वरूप तो केवल ज्ञानस्वरूप है। ज्ञायकस्वभाव, ज्ञानमात्र जाननस्वभाव है। यही स्वरूप तो सब जीवों का है। सब जीवों का स्वरूप भी मेरे स्वरूप के समान है। फिर उनमें मेरे और पराये का ख्याल मत करो। यह जानो कि ऐसा करना पड़ता है। यह हमारी व्यवस्था है ठीक है पर भीतर में ऐसी श्रद्धा मत रखो कि यह मेरा है। अरे तुम्हारा तो यह शरीर भी नहीं है, फिर और चीजें तुम्हारी कैसे हो सकती हैं ? ऐसा अगर इन पदार्थों में सच्चा ज्ञान रखो तो उसका मोह दूर होगा। कामववासना को दूर करके ही भोगों की बात दूर होगी। गुस्सा, छल, तृष्णा आदि सब दूर होंगे। तीसरे यह देह भी मेरी नहीं। यह देह तो मुझसे जुदा है। भैया ! ममता छूटते ही सब गुण अपने में अपने आप आ जाते हैं तो इस शरीर में, इस देहमें राग न करके अपने भीतर में बंसो और अपने परमात्मस्वरूप को देखो। ऐसा करने के लिए व्यवहार न्यायपूर्ण होना चाहिए। जो अपने को प्रतिकूल लग जाय, अपनेको बुरा लग जाय तो वह दूसरों के लिए कुछ नहीं करना चाहिए। यदि कोई प्राण दुःखाता है तो बुरा लगता है ना। तो दूसरों के भी प्राण न दुखाओ। अपने से कोई झूठ बोल दे तो बुरा लगता है तो दूसरों के लिए भी झूठ न बोलो। जो बात अपने को बुरी लगे वह बात दूसरों के लिए भी न करनी चाहिए। अपने को कांटों चुभ जाने पर कितने क्लेश होते हैं, फिर दूसरों की जान लेने पर उन्हें कितना दुःख होता होगा, जैसा अपनी जान समझते हो वैसा ही दूसरों की जान भी समझो। चाहे गाय हो, चाहे भैंस हो, चाहे बैल हो, चाहे बकरी हो सबको अपना ही जैसा समझो। वे सब जीव तुम्हारे ही समान हैं। किसी भी जीव की हिंसा न करो।

भैया! अपने दूसरे भाइयों को समझाओ कि वे मांस मदिरा इत्यादि का प्रयोग न करें। अगर वे समझ जावेंगे तो उन्हें बड़ा पुण्य होगा। अभी आज सुबह तीन चार हरिजन भाइयों ने मांस न खाने का नियम लिया। उन्होंने भैया बड़ा ही अच्छा काम किया। दो भाइयों ने खुद कहा कि मेरा मांस न खाने का दृढ़ नियम है। जो खुद कहें कि मांस न खाने का दृढ़ नियम करता हूँ तो वे बड़ी ही तारीफ का काम करते हैं।

जिसका हृदय साफ हो तो तभी वह ऐसा कह सकता है। यह तो उसकी बड़ी ही प्रशंसा की बात है। वैसे तो साल में दो ही चार बार मांस खाते हैं। वह त्याग दें तो आजीवन का पुण्य होगा। अगर मांस न खावें तो क्या बसर नहीं हो सकता है? मांस खाते हों तो भैया! वे मांस का त्याग कर दें। उसमें कुछ नहीं रक्खा है। उस मांस मदिरा आदि में कुछ स्वाद भी तो नहीं रहता है। स्वाद तो अन्न में होता है। अन्न मीठा होता है। लोग व्यर्थ में ही इन गंदी चीजों का प्रयोग करते हैं और अपने दिमाग को गंदा बनाते हैं। मांस मदिरा का त्याग करने के लिए भी बुद्धि चाहिए। जो मांस मदिरा इत्यादि का त्याग कर दे वह भगवानका प्यारा बन जाय। अगर मांस खाने वाले मांस का त्याग कर दें तो उनका हित है।

विषं पीत्वाऽपि जीवेच्चेन्न भुक्त्वा विषयं सुखी ।

विरज्य भोगतस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयं । १३-६ ।।

अर्थ- यदि विष को पीकर भी कोई जीवे तो जीवे परन्तु विषय को भोगकर कोई भी जीव सुखी नहीं हो सकता इसलिये भोग से दूर रहकर मैं अपने में अपने लिये अपने आप स्वयम् सुखी होऊँ।

जगत के हम और आप सब जीव जिस धुन में रमे रहते हैं, जिनकी कोशिशों में चल रहे हैं वे परिणमन उल्टे ही रास्ते पर लिए जा रहे हैं। उनके लिए विषयों के साधन जुटाते हैं। इन विषयों के भोग से क्या शान्ति मिल सकती है? जो उम्र अधिक हो गयी है, बीत चुकी है उस उम्र में बहुत विषयों के साधन किए हैं और भोग किए हैं उनका फल केवल रंज है, शोक है, दुर्बलता है। इन विषय भोगों में कोई सुख नहीं हो सकता है। चाहे विषयों को पाकर जिन्दा कोई रह जाय यह तो सम्भव है, पर विषयों का भोग करने से कोई जीव सुखी नहीं हो सकता है। वे विषय क्या हैं? वे विषय स्पर्शन इन्द्रिय के विषय ही हैं। स्त्री को पुरुष इष्ट हो और पुरुष को स्त्री इष्ट हो, उनका आपस में प्रेम हो, विषयों में ही फंसे हों तो ये ही स्पर्शन इन्द्रिय के विषय हैं। उन विषयों के भोग करने से किसी भी पुरुष और नारी को शान्ति नहीं मिल सकती है। हमको एक अंग्रेजी फिल्म की सच्ची कहानी बताई एक कन्या का विवाह गिरजा में हुवा। विवाहोपरान्त वर-वधू मौज मस्ती के लिए घूमने गए वहां वे एक निर्जन पहाड़ी पर प्राकृतिक सौन्दर्य के आनन्द में मग्न थे कि इतने में चार गुंडे वहां आए और उन्हें अकेला पाकर उसकी नवविवाहिता पत्नी को छीनना चाहा प्रति ने विरोध किया तो उसे तो जान से मार दिया और जो कुछ हुवा वह तो हुवा ही वधू को भी जख्मी हालत में छोड़कर भाग गए। देखो भैया ये भोग तो आदि में भी दुख के कारण हैं और अन्त में भी। और अब तो भैया माता पिता ही हनीमून के लिए सीटें बुक कराते हैं। इसलिए स्वाभाविक है कि ये सन्तान भी भोग प्रधान तो होंगी ही।

भोजन के करने पर, भोजन के चखने पर कुछ इच्छा की तृप्ति हो सकती है। यद्यपि यह बात भी सदा के लिए नहीं होती, कुछ घंटों के लिए ही होती है, मगर विषयों के लोभी मनुष्यों को इन्द्रियविषयों से तो केवल आकुलतायें ही रहती हैं। विष को पीकर कोई जिन्दा रह जा सकता है, मगर भोगों में ही रहकर कोई सुखी नहीं रह सकता है।

रसना इन्द्रिय को देखो, गले से कोई लड्डू उतार दे तो उसका स्वाद थोड़े से समय के लिए रहता है। थोड़े समय के स्वाद के लिए वे गले से लड्डू उतार कर अपने को कष्ट देते हैं। यह रसना इन्द्रिय के विषयों का प्रताप है।

नाक तो एक बेकार सी चीज है। उससे तो कोई फायदा ही नहीं जंचता है। और इन्द्रियों से तो कुछ फायदा उठा सकते हो, हाथ पैर इत्यादि से तो दीन-दुखियों की सेवा कर लो। तो देखो स्पर्शन इन्द्रिय से लाभ उठा लिया। जिह्वा से प्रभु की भक्ति के गुणगान किया तो लाभ उठाया। अब रह गयी नाक, इससे तो कोई लाभ ही नहीं है। आंख से अब देखो, अगर प्रभु की मूर्ति का दर्शनकर लिया, गुणियों

सख यहाँ द्वितीय भाग का दर्शन कर लिया और अपने हृदय को स्वच्छ बना लिया तो इन नेत्रों से भी लाभ है। कर्ण इन्द्रिय से अगर प्रभु की भक्ति के उपदेश सुने तो कर्ण इन्द्रिय से भी फायदा पहुंच गया। इस नासिका से तो कोई लाभ ही नहीं नजर आता है। फिर भी मोही जीव भिन्न-भिन्न प्रकार की सुगन्धों को सूंघ-सूंघकर अपने मन को भरा करता है। इससे तो आकुलताएं जरूर हो जाती हैं।

आंखों से क्या कर लिया कि सुन्दर रूप देख लिया, कुछ चित्र सिनेमा आदि देख लिए और अपने मन को खुश कर लिया। इस बाह्यदृष्टि से अपने को कितना खुश किया, इसका मोहीजनों को कुछ अन्दाज नहीं रहता है। अटपट बातें करके अपने दिल को भरते हैं। ये अटपट बातें भी जीव को अहित ही करने वाली हैं। विषयों का भोग करके कोई जीव सुखी नहीं रह सकता है। जो विषयों के साधन तुम्हें प्राप्त हों उन्हें प्राप्त ही न करो, उन्हें तो विनाशीक समझो, अहितकारी समझो, उनसे कोई लाभ भी तो नहीं है। कर्णइन्द्रिय के विषय में भी क्षोभ ही है।

जिन्दगी में करने योग्य काम यही है कि इन विषयों से हटकर अपने जानस्वरूप प्रभु की भक्ति में लग जावो। जितना ही अधिक समय प्रभु की भक्ति में लगे, प्रभु के स्मरणमें लगे उतना ही अपने जीवन को सफल मानो। और बाकी समांगमों को पाकर उनमें ही लिप्त होकर अपना समय गुजार दो तो व्यर्थ की ही चीज है।

जगत में अपनी शरण कोई नहीं है। अपना शरण खुद ही है। कुछ दर्द हो जाय, पीड़ा हो जाय तो खुद को ही भोगना पड़ता है, दूसरा कोई सहाय नहीं होता है। और अपने सहजस्वरूप का संवेदन हो जाय तो खुद सहाय हो जाता है।

एक कथानक है कि एक जंगल में एक राजा चला जा रहा था। उसको एक साधु मिला। वह राजा उस साधु के पास बैठ गया। थोड़ी देरमें उस साधु की आंखें खुलीं। राजा बोलता है महाराज, आप इस निर्जन जंगल में अकेले ऐसे दुःख क्यों भोग रहे हैं? आपके पास नौकर चाकर नहीं, खाने के लिए कोई साधन नहीं, इतने कष्ट आप यहां पर क्यों भोग रहे हैं? आप कौन हैं? साधु कहता है कि मैं अनार्थ मुनि। राजा बोला—महाराज आप अपने को अनाथ क्यों समझते हैं? मेरे घर चलो, खुद आराम से रहो, किसी भी प्रकार का कष्ट न होगा। मनमाना खाना, मनमाना पहिनना, मनमाना घूमना। हें महाराज, आप अपने को अनाथ न समझें, साधु कहता है कि तुम कौन हो? राजा बोला कि मैं इस देश का राजा हूँ। मेरे पास नौकर चाकर हैं। अपना वैभव बताने लगा तो मुनि कहते हैं कि राजन, ऐसा तो पहले मैं भी था। इतनी बात सुनकर राजा की आंखें खुलती हैं। राजा कहता है कि महाराज आप राजा थे तो अपने को आप अनाथ क्यों कहते हैं? साधु बोला—सुनो, एक बार हमारे सिर में दर्द हुआ। बहुत से डाक्टर वैद्य हकीम वगैरा आये, पर सिर का दर्द ठीक न हुआ। हमारे परिवार में कोई हमारे उस दुःख को बांट न सका, तो हमारे चित्त में आया कि हमारे दुःखों का बांटने वाला कोई नहीं है, मैं अनाथ हूँ।

देखो भैया ! इस जगत् में तुम्हारा कोई शरण नहीं है। हमें लोग चाहते हैं, सब आज्ञाकारी हैं, उनसे मुझे सुख मिलता है यह सोचना अज्ञान है। प्रत्येक जीव न्यारे-न्यारे हैं, सबके कर्म जुदे-जुदे हैं, सब अपने-अपने कषाय से आकुलतायें प्राप्त किया करते हैं। अपने को अकेला जानकर, अपने को अपना ही जिम्मेदार समझकर अपना कल्याण किया जा सकता है। सो अब इन भोगों से विरक्त होकर अपने प्रभु की भक्ति में ही रत होकर अपने आप में आवो और अपने आपमें ही सुखी होवो। हम और आप क्या चीज हैं। अगर अपने इस आत्मस्वरूप को देखें तो न गंध मिलती है, न रस मिलता है और न बू मिलती है। आत्मा तो केवल ज्ञानानन्दस्वरूप है। इस आत्मा में केवल आनन्द ही भरा हुआ है। ज्ञान और आनन्द वाली जो वस्तु है वह यही आत्मा ही है। आंखों से देखी जाने वाली चीजों में क्या कोई जानकारी समझ में आती है? इसमें न तो ज्ञान ही है और न आनन्द ही है। ज्ञान और आनन्द को छोड़कर इसमें कुछ नहीं भरा हुआ है परन्तु जब अपने को भूल जाते हैं, इन परपदार्थों से ही आनन्द मानते हैं तो इसे ही अज्ञान कहते हैं तो दूसरों से आनन्द की आशा करना ही अज्ञान है। जब कभी अपने को दुःख होते हैं तो अपनी ही गलती से होते हैं। राग द्वेष करने से ही दुःख होते हैं, पर नाम लगाते हैं दूसरों का। अपने कुटुम्ब परिवार की आशा न करो। ये लोग अपने लिए हितरूप नहीं हैं, कुटुम्ब परिवार इत्यादि को अपना मानने से ही दुःख है।

अब देखो एक दृष्टान्त द्वारा समझो कि एक जानवर होता है कुत्ता और एक जानवर होता है सिंह। इन दोनों में फर्क देखो कितना है? कुत्ते को एक दो रोटी के टुकड़े खाने के लिए दे दो तो वह आपका कितना बड़ा भक्त हो जाता है। रात में आपके घर की रखवाली करता है। कोई विपत्ति अगर मालिक के ऊपर चढ़ गयी तो वह उसे बचाता है। तो कुत्ता उपकार करने वाला है कि नहीं? शेर की बात देखो वह कुछ उपकार नहीं करता। शेर तो अगर दिख जाय तो दिल कांप जाय। यदि कच्चा दिल हो तो हार्ट फेल हो जाय। शेर अनुपकारी जानवर होता है और कुत्ता उपकारी जानवर होता है। कुत्ता तो आज्ञाकारी होता है, पर शेर विनाशकारी होता है। किन्तु उनका फर्क एक मिसाल द्वारा देखो। कोई अगर किसी की प्रशंसा करे कि अमुक तो बड़े उपकारी हैं, क्या कहना है? कुत्ते के समान हैं। कुत्ते से तो भले और अच्छे की उपमा दी गई, पर सुनने वाले लोगों को बुरा लगता है। अच्छा बताओ बुरा लगता है कि नहीं? बुरा लगता है, मगर कोई कह दे कि तुम तो शेर के समान हो। हालांकि शेर के समान (खतरनाक) होना बुरी बात है, फिर भी सुनने वाले लोग खुश हो रहे हैं। शेर दूसरों के प्राण हरता है इसलिए उस व्यक्ति की भी निन्दा की जा रही है। मगर वह व्यक्ति सुन-सुनकर खुश हो रहा है। यह फर्क क्यों आ गया है? यह फर्क आ गया है मोह और अज्ञान से। शेर विनाशकारी है तो भी उसमें विवेक है, ज्ञान है। इसलिए शेर की तरह होने की बात सब सुनना चाहते हैं। कुत्ता बड़ा आज्ञाकारी है फिर भी उसमें अविवेक है। इसलिए कोई कुत्ते की उपमा नहीं सुनना चाहता है। कुत्ते के अगर लाठी मारी जाय तो लाठी को वह मुंह में भरता है। वह समझता है कि हमें लाठी ने ही मारा है, वह यह नहीं जानता कि किसी मनुष्य ने मारा है। यही समझकर वह लाठीपर हमला करता है, मनुष्य पर हमला

नहीं करता है। परन्तु कोई शेर को लाठी मारे तो वह लाठी पर नहीं आक्रमण करता है, बल्कि मनुष्य पर ही आक्रमण कर देता है। वह समझता है कि इस मनुष्य ने ही हमें मारा है, लाठी ने नहीं मारा है। तो शेर अनुपकारी और कुत्ता उपकारी जानवर होता है। तो भी विवेक का फर्क है।

इसी तरह ज्ञानी और अज्ञानी की बात है। अज्ञानी तो कुत्ते की तरह निमित्तदृष्टि वाला है और ज्ञानी शेरकी तरह उपादानदृष्टि वाला है। अज्ञानी समझता है कि मुझे कुटुम्ब ने फंसाया, इसने हमें गाली दी, इसने हमारा अपमान किया आदि। परवस्तुओं को अज्ञानी यह समझता है कि मेरी है। ऐसे ही ख्याल बन गये हैं इसी से यह अज्ञानी दुःखी बना रहता है। मैं स्वयं ख्याल करके दुःखी होता हूँ, इसका भान नहीं, किन्तु ज्ञानी को यथार्थ ही भान है।

भैया ! इन भोगों से प्रीति हटाओ। इन समागमों में तृष्णा न करो। यदि इनका संयोग होता है तो उनसे वियोग जरूर होगा। कोई वाह्य अर्थ प्रीति करने के लायक नहीं है। भोगों से हटकर अपने आपके स्वरूप से प्रीति करो और अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ।

देही कश्चिन्न यो मृत्युं न प्राप्तस्तिर्हि को मम।

त्राता स्ववृत्तिरेवातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-७॥

अर्थ— ऐसा कोई भी देही नहीं हुआ जो मृत्यु को प्राप्त नहीं हुआ तब फिर मेरा ही कौन रक्षक हो सकता ? निश्चय से आत्मा में स्थिति ही मेरा रक्षक है इसलिये मैं अपने में अपने लिये स्वयम् सुखी होऊँ।

इस दुनिया में कोई प्राणी ऐसा नजर नहीं आता है जो मृत्यु को न प्राप्त हो। कोई समय ऐसा आयेगा कि हमें भी मरना पड़ेगा। मेरा यहां कोई रक्षक नहीं है। केवल अपने आपके स्वरूप को देखो, वह स्वरूप ऐश्वर्य से भरा हुआ है, परमात्मतत्त्व रूप है, ज्ञानानन्दमय है। ऐसा ही अपने आपके स्वरूप को देखो, कल्पनाओं को त्यागो तो तुम्हारा रक्षक तुम्हीं हो सकते हो।

एक कथा है कि ब्रह्मा ने चार जीव बनाये। उल्लू, कुत्ता, गधा और मनुष्य। चारों को ४०-४० वर्ष की उम्र दी। ब्रह्मा बोला जावो हमने तुम्हें पैदा किया। उल्लू ने कहा महाराज मेरा काम क्या है? ब्रह्मा ने कहा कि अंधा बने बैठे रहना, जो कुछ मिल जाय उसी को खा लेना, यही तुम्हारा काम है। उल्लू बोला हमको कितने वर्ष जिन्दा रहना होगा तो ब्रह्मा बोले कि ४० वर्ष तक। उल्लू बोला महाराज हमारी उम्र आधी कर दीजिए तो ब्रह्मा ने उसकी २० वर्ष की उम्र कर दिया। २० वर्ष तिजोड़ी में रख दिये। कुत्ते ने कहा महाराज हमारा क्या काम है तो ब्रह्मा बोले कि तुम्हें जो कोई रोटी का टुकड़ा दे दे उसी की भक्ति करना, उसकी ही सेवा करना। बस यही तेरा काम है तो उम्र मेरी कितनी दिया? बोले ४० वर्ष। तो कुत्ते ने कहा, महाराज हमारी उमर कम कर दीजिए तो उसकी भी २० वर्ष कम कर दिया। २० वर्ष तिजोरी में रख लिये। गधे ने कहा महाराज मेरा क्या काम है ? तो ब्रह्मा बोले कि तू बोझा ढोना और जो कुछ रूखा सूखा भूसा मिल जाय उसी को खा लेना। गधा बोला, महाराज हमारी कितनी

उम्र दिया तो ब्रह्मा बोले ४० वर्ष। कहा, महाराज हमारी उम्र आधी कर दीजिए तो आधी उम्र कर दिया। अब की बार मनुष्य ने कहा— मेरा काम क्या है तो ब्रह्मा बोले कि तेरा काम है भोगविलास करना, मौज मनाना, खुशियां मनाना। मनुष्य ने कहा— महाराज, हमारी क्या उमर दी? ब्रह्मा बोले—४० वर्ष। मनुष्य ने कहा, उम्र और बढ़ा दीजिए। ब्रह्मा ने कहा देखो खजाने में देखता हूँ, अगर गुंजाइश होगी तो बढ़ा दूंगा। देखा तो बीस बीस का जुत्ता लगाया तो ६० वर्ष की उम्र बच रही थी। तो वह सभी उम्र मनुष्य को दे दी। अब तो मनुष्य १०० वर्ष का हो गया।

सो देखो मनुष्य ने हंसी खुशी से ४० वर्ष बिता दिये। खूब चैन से, आराम से ४० वर्ष बीत गये। इतनी उम्र तक तो माता-पिता की सारी जिम्मेदारी रही। इतनी उम्र तक खूब आराम किया, बच्चों को देखा, देखकर रहे, भोग विलास किए। पर ४० से १०० वर्ष तक की उम्र तो कुत्ता, गधा और उल्लू जैसी रही। असली उम्र तो ४० वर्ष ही थी। अधिक कमाना पड़ता, लड़की हुई तो उसकी शादी करनी है सो धन जोड़ने की फिक्र हुई, इधर भागा, उधर भागा। इस तरह से और गधे की जैसी उम्र ६० तक गयी, अब ६० के बाद शक्तिहीन हो गये। सो पुत्रों के आधीन हो गये। शहरों और नगरों में तो जिसके नाम जायदाद है उसी के नाम रहती है जब तक कि वह मर नहीं जाता पर देहातों में तो जहां बूढ़े हुए बच्चों के वश हो जाना पड़ता है। बच्चों को खिलाते पिलाते हैं, उनका पक्ष करते हैं, उसमें ही अपना समय व्यतीत करते हैं। ८० वर्ष के बाद १०० वर्ष की उम्र तक उल्लू की उम्र रहती है। न तो आंखों से दिखाई पड़ता, न कानों से सुनाई पड़ता। बहू बेटियों ने खाने को बुला लिया तो खा लिया, नहीं तो न खाया। छोटी अवस्था में ही आकर स्वाधीन अपने को कर लिया तो भला है। ज्ञान अंगर सही है तो सब ठीक है। अपना शुद्ध ज्ञान बना रहे तो समझो अपना कल्याण हो गया और यदि ऐसा न कर सके तो भला नहीं होगा। अपनी भलाई का काम तो एक यही है कि सच्चा ज्ञान बना रहे। मोह ममता में न पड़ो। केवल शुद्ध, स्वच्छ, ज्ञान ज्योतिर्मात्र अपने आपको निरखो और अपने ज्ञानस्वरूप में रमकर स्वयं सुखी होवो। यदि ऐसा कर सके तो जीवन सफल है।

बाहर से दृष्टि हटाओ, अपने स्वरूप में ही लगे रहो, अपना स्वरूप ही निज का घर है। आहार तो पशु पक्षी भी कर लेते हैं, इसमें कौनसी विशेष बात है? पशुओं और मनुष्यों में कौन सी विशेषता है? यदि विशेषता है तो केवल जप, तप और संयम की है। यदि ऐसा नहीं है तो पशु मनुष्य से अच्छे हैं। अगर मनुष्यों में धर्म न हो तो पशु इस मनुष्य से अच्छे हैं। अभी किसी के स्वर की तारीफ की जाती है तो कहते हैं कि उनका स्वर कोयल के कंठ की तरह है। यदि किसी की नाक की उपमा देना है तो कहेंगे कि इनकी नाक सुवा की नाक की तरह है। यदि किसी मनुष्य की चाल अच्छी है तो कहेंगे कि अमुक व्यक्ति की चाल हंस की चाल की तरह है। यदि कोई बहादुर व्यक्ति है तो कहेंगे कि अमुक व्यक्ति शेर की तरह बहादुर है। यदि किसी के नेत्र अच्छे हैं तो कहेंगे कि अमुक ने नेत्र हिरण के नेत्रों के समान हैं। यदि कोई मनुष्य जगती हुई नींद से सोता है तो कहेंगे कि अमुक व्यक्ति कुत्ते की जैसी नींद सोता है तो जिससे उपमा दी जाती है वही बड़ा हुआ ना? सो मनुष्य से तो पशु-पक्षी अच्छे हैं।

यदि मनुष्यों में धर्म है, पर की सेवा का भाव है, दया है, उपकार है तो वह आनन्द से रहेगा। अन्यथा उसे जीवन में कभी शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती।

जो घर के लोग हैं, स्त्री, पुत्र, भाई, बहिन आदि ये ही मेरे, सर्वस्व हैं—यह सोचने वाले तो वे अंधेरे में ही हैं। जगत के अन्य जीवों का स्वरूप भी वही है जो मेरा है। उनके और मेरे स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है।। ऐसा यथार्थस्वरूप जानकर आत्मधर्म की दृष्टि करो, धर्म की ओर मुख मोड़ो। प्रभु की भक्ति में, गुरुओं, सज्जनों के सत्संग में, दीन-दुखियों के उपकार में तन, मन, धन को लगाओ। शरीर भी नष्ट हो जायगा, मन भी नष्ट हो जायगा और धन भी नष्ट हो जायगा, वचन भी नष्ट हो जायगा, पर धर्म शाश्वत हैं—धर्म की इस ओर से अपना मुख न मोड़ो। अरे जो नष्ट हो जाने वाली चीजें हैं वे हमें मिली हैं, अरे इन नष्ट हो जाने वाली चीजों के नष्ट हो जाने पर, वियोग होने पर क्यों दुःख किया जाय ? नष्ट हो जाने वाली चीजों के वियोग पर विषाद करना आसान है। पवित्रता, स्वच्छता प्राप्त कर लो यही तुम्हारा कर्तव्य है। इस दुनिया में कोई दूसरा रक्षक नहीं है, ऐसा यदि विश्वास कर लो तो दुःख नहीं होगा।

बालवृद्धयुवाग्रासे यमस्य समता भवेत्।

साम्यपुञ्जस्य मे किं न स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-८॥

अर्थ— बालक हो युवा हो वृद्ध हो सभी के ग्रास (मरण) में यमराज (आयुक्षय) के हो समता हो जावे और समता के पुञ्ज मुझ आत्मा में क्या समता न हो मैं तो समतामय स्वभावी अपने में अपने अर्थ अपने आप सुखी होऊँ।

अव्वल तो हम और आप यह निश्चय नहीं कर सकते हैं कि कितना जीना है ? कब तक हम आप जिन्दा रहेंगे, इसका निर्णय हम आप नहीं कर सकते हैं। हम देखते हैं कि छोटे छोटे बच्चे, जवान और बूढ़े सभी गुजर जाते हैं। उस यमराज में बहुत बड़ी क्षमता है जो सबको उठा ले जाता है। चाहे बूढ़ा हो, चाहे जवान हो, चाहे बच्चा हो, सबको एक समान समझकर ही वह उठा ले जाता है। उस यमराज में बहुत बड़ी समता है, रागद्वेष उसमें नहीं है अर्थात् वह सबको एक दृष्टि से निरखकर मार डालता है। किन्तु हम और आपके बड़े खेद की बात है कि समता नहीं उत्पन्न होती है। हम अपने इस नर जीवन को अमूल्य समझें। ८४ लाख योनियों में भ्रमण करके कभी यह भव प्राप्त होता है। इस नरभव में अच्छे काम करने से अच्छी गति प्राप्त हो जाती है और बुरे काम करने से बुरी गति प्राप्त हो जाती है। लोकोत्तर सद्गतियों में जाने का मौका तो इस नरभव में ही प्राप्त होता है। इस भव से ही धर्म की प्रीति बढ़ती है। धर्म के बढ़ाने से भव हटते हैं, पाप समाप्त होते हैं। यदि हम मोह ममता में पड़ें तो हमें दुःख ही उठाने पड़ेंगे। यह सत्य बात कही जा रही है कि जो भाव मोह लिए हैं, वह कषायों से निवृत्त नहीं हैं। यहां कोई शरण नहीं है, किन्तु उनका ख्याल करके पाप कमाते चले जा रहे हैं। सो अब अपनी दृष्टि अपने आप में करो तो तुम्हारा हित है, तुम्हारा कल्याण है। मोक्षमार्ग के लिए

यही एक कल्याण की बात है, यही एक आनन्द का उपाय है। हम पढ़ते हैं, सुनते हैं। पढ़ने से सुनने से हम भीतर का हृदय ऐसा बनायें कि मोह ममता इत्यादि न रह जावे। मोह ममता इत्यादि से तो पूरा नहीं पड़ेगा। अपने आपका ज्ञान कर बाहरी पदार्थों से दृष्टि हटावो तो पढ़ने लिखने से लाभ है।

एक पंजाबी था, उसके घर में एक तोता था। उस तोते को उसने यह कहना सिखा रखा था कि “इसमें क्या शक” एक ब्राह्मण उसके घर आया, बोला—तोता तो बड़ा सुन्दर है हमें इसे खरीदना है। बोलो—क्या कीमत है ? पंजाबी ने कहा—क्या बतलाऊँ कि इसकी क्या कीमत है ? कहा—नहीं, नहीं सच बतलावो इसकी क्या कीमत है ? पंजाबी बोला कि १००) कीमत है और कहा—तोते से ही पूछ लो कि क्या तुम्हारी १००) कीमत है ? ब्राह्मण ने पूछा कि ऐ तोते ! क्या तुम्हारी १००) कीमत है ? तोता क्या कहता है कि इसमें क्या शक ? तो उत्तर तो फिट बैठता है। ब्राह्मण ने १०० रु० दे दिये और खरीद लिया। ब्राह्मण घर में तोते के सामने रामायण खोलकर बैठता है, बोलता है कि तोते बोलो राम राम। तोता बोला—इसमें क्या शक ? कोई रामायण का छंद ब्राह्मण बोलता है तो तोता कहता है कि इसमें क्या शक ? ब्राह्मण बोला—ब्रह्म एक है, आनन्दघन है। तोता बोला—इसमें क्या शक ? ब्राह्मण बोला—अच्छा, यह बात छोड़ो जो ब्रह्मस्वरूप में रमेगा उसको संतोष होगा और सुख होगा। तोता बोला—इसमें क्या शक। अब तो उसने भी शक कर लिया कि क्या मैंने अपने रुपये पानी में मिला दिए। तोते को केवल क्या इतना सिखाया गया है कि इसमें क्या शक, सो ब्राह्मण ने पूछा कि क्या मेरे १००) पानी में गये। तोता बोला—इसमें क्या शक ? सो जैसे भोग विषय में, बाहरी बातों में या ममता में क्लेश में समय गुजर जाता है तो समझो कि इतना जीवन यों ही चला गया। केवल बात रटने से कल्याण नहीं होगा।

भला बतलाओ, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का आदर नहीं कर सकता हो वह तो प्रभु के स्वरूप का अपमान है। सबका रूप प्रभु के रूप के ही समान है। फिर बतलावो जगत में कौन सी ऐसी सारभूत चीज है जिसमें राग किया जाय। यदि अपने स्वरूप से बाहर दृष्टि है तो उस वृत्ति की कीमत न समझो। इस सहज आत्मा का मूल्य समझो। दूसरों का निरादर न करो, संगठन बनाये रखो, ऐसा यत्न करो जिससे दूसरे जीव सुखी रह सकें। यही हमारा करने का कर्तव्य है। यदि इससे चूके तो काम नहीं चलेगा। अपने आप में ज्ञान बनाओ, सब जीवों के सुखी होने की भावना बनाओ। यदि भावना तुम्हारी इस प्रकार की है तो पुण्य उत्तरोत्तर होता चला जाता है। यदि तुम्हारी भावना पापों की है तो पाप ही करते चले जावोगे, कोई दूसरा जीव तुम्हारा शरण नहीं होगा। दूसरे दुराचार ही तुम्हें दुःखी करते हैं। इन दुराचारों से बचने के लिए उसमें होने वाले व्यसनों का त्याग बताया गया है। जुवां खेलने का त्याग, मांस मदिरा खाने का त्याग और किसी जीव के घात करने का त्याग, चोरी का त्याग, शिकार खेलने का त्याग, परस्त्री व वेश्यागमन का त्याग—इनका त्याग बहुत ही जरूरी है। जीवों को बन्दूक से मार दिया, लाठी से मार दिया और उससे मौज माना यह तो ठीक नहीं है। परस्त्रीगमन करने का त्याग होना, और अनेक व्यसन हैं उनका त्याग होना बहुत ही जरूरी है। मांस मदिरा वगैरह मनुष्य के भोजन नहीं हैं। भोजन तो मनुष्य

का अन्न ही है। जो मांस मदिरा खाते पीते हैं उन्हें मांस मदिरा वगैरह तो महीने में एक आध बार मिलता होमा। सो भैया ! यदि इसे त्याग दो तो जिन्दगी भर के लिए आत्मा पवित्र हो जायगी। जीव धर्म पालने के लिए मांस मदिरा का त्याग होना ही चाहिए मांस मदिरा वगैरह का त्याग करने से ही भला होगा। जो भी यहां बैठे हैं उन्हें चाहिए कि वे मन से ही मांस मदिरा का त्याग कर दें। यदि वे अपने मन से ही कह दें उन्हें पुण्य है। भैया ! केवल अपने चैतन्यस्वरूप की बात जग जाय तो जीवन सफल है और तो बाकी सब असार है। रागद्वेषमोह आदि में फंसकर गुजर गये तो क्या है ? घर में रहते हुए भी कमल की तरह निर्विकल्प, निर्मोही रह सकते हैं और अपने आप में ही वे सुखी हो सकते हैं।

रागद्वेषौ हि संसारः संसारो दुःखपूर्णमः।

संसारतो विख्यातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-६॥

अर्थ- निश्चय से राग और द्वेष संसार है और वह संसार दुःख से व्याप्त है इसलिये संसार से अनुराग न करके मैं अपने में अपने आप सुखी होऊं।

राग द्वेषों का नाम ही संसार है। इस दुनिया में जो राग द्वेष हैं उन्हीं का नाम संसार है। कहते हैं कि संसार दुःखों से भरा है, इसका अर्थ है कि रागादिक भावों से जो ऐसा भरा है उसमें दुःख भरे हैं। अगर लोक के क्षेत्र का नाम दुनिया कहेंगे तो बतलावो भगवान् कहां रहता है ? वह भगवान् भी इसी लोक में रहता है। इस संसार में रहते हुए जीव को पाप नहीं है। जीव के रागद्वेष बनें तो पाप है। राग द्वेषों का नाम ही प्राणिमात्र का संसार है। जीव में संसार बसे तो पाप है तो उस संसार को पृथक् करना है याने धन, वैभव, घर, परिवार आदि ही क्लेश के साधन हैं, उनसे विरक्त होना है। केवल बात ही नहीं करना है। वे पदार्थ हैं उनमें ज्ञानदृष्टि रहे कि जो चीजें हैं वे संसार नहीं। उनमें जो रागद्वेष हैं वह संसार है। मन में ऐसा जो रागद्वेष उत्पन्न होता है उनसे विरक्त होओ, रागद्वेषों में रत न होओ। ये मेरे स्वरूप में नहीं आते, ये मेरे करने से नहीं होते हैं। अवश उपाधिवश हो जाते हैं। कर्मों का उदय आता है। उनका उपादान ही ऐसा है कि रागद्वेष हो जाते हैं। वह तो मेरा स्वरूप नहीं है, उनसे मेरा हित नहीं, ऐसा जानकर उन रागादिकों से विरक्त होना चाहिये।

जो रागद्वेषों से विरक्त हुआ वह अपने ज्ञानस्वभाव में आया। मैं ज्ञानमात्र हूँ। केवल जाननस्वरूप ही हूँ। इस स्वरूप का जब उपयोग लगेगा तब जानों कि अब रागद्वेष आदि नहीं आते हैं। यह जीव अगर रागादिक में लगेगा तो यह अज्ञान है और यदि अपने ज्ञायकस्वरूप में लगे तो यह ज्ञान है। यदि अपना ज्ञानस्वरूप अनुभव में आवे तो ज्ञान पल्ले पड़ेगा और अगर बाह्य में ही पड़े रहे तो कुछ पल्ले नहीं पड़ेगा। देखो ४०-५० वर्ष की उम्र हम और आपकी होगी, इतनी उम्र में क्या क्या नहीं किया होगा। बाहर की आशा किया होगा न जाने किन किन से ममता किया होगा, रागद्वेष किया होगा पर क्या कुछ पल्ले पड़ा। कुछ भी तो हाथ नहीं लगा।

हे आत्मन् ! तू तो अकेले ही बैठा हुआ है। मान लिया घर में सब लोग हैं पर उन सबकी सत्ता

न्यारी न्यारी है। यहां तो हम और आप अकेले अकेले ही विकल्प कर डालते हैं कि ये जीव ये वैभव हमसे मिले जुले हैं। अरे इन रागादिकों में पड़ने से तो पूरा नहीं पड़ेगा। पूरा तो तब पड़ेगा जब अपने स्वरूप से न फिरो। यहां ये व्यवहार की चीज बोलता हूँ। चाहे मोही उनकी प्रशंसा कर दें। मोह करते हैं, वचन बोलते हैं, हिलमिल कर रहते हैं वे सब माया हैं, मोह के स्वप्न हैं। जैसे स्वप्न में देखी बात सच मालूम होती है उसी तरह मोह की बातें सच लगती हैं। क्या आपका भाई, क्या आपका रिश्तेदार, क्या आपके मित्रजन जो हिलमिलकर रहते हैं ? खुश हो रहे हैं वे सब मोहवश ऐसा कर रहे हैं। अरे ये तो स्वयं ही संसार ताप में जल रहे हैं, इनमें कुछ तत्व नहीं, कुछ धर्म नहीं। तत्व की बात तो ज्ञानस्वरूप की दृष्टि में ही है। ये जो आपके मित्रजन हैं, कुटुम्ब परिवार इत्यादि के जो लोग हैं उनमें से तुम्हारी मदद करने वाला कौन है ? कितने ही काम मोह द्वारा किए जा रहे हैं। अच्छां बतलावो, किसी का नाम भी लो कि जिससे मिल-जुलकर तुम्हारी आत्मा को कुछ मिलेगा। दान भी देते चलो जिससे कुछ सुविधा हो जायगी। देखो भैया स्थिति का क्या विश्वास ? कोई भिखारी इसी जीवन में बन जाता, कोई राजा बन जाता। समागम का कुछ विश्वास नहीं तो यह सोचना चाहिए कि हमें अपने लिए क्या करना चाहिए? ऐसी बात यदि समझ लीजिए तो ज्ञाता दृष्टा बन जावोगे। ऐसी शुद्ध ज्ञान दृष्टि रहे कि जो वर्तमान चीज है उसमें तो रहना ही पड़ता है, किन्तु उस दशा से पृथक् ज्ञानानन्दमय आत्मतत्त्व की ओर झुकाव हो तो सुविधा है। अपने को राग द्वेषों से निकाल सकते हो। रागद्वेषों में पड़ने से प्रगति का कोई रास्ता नहीं है। काम करना ही पड़ता है, किन्तु काम मेरा स्वरूप नहीं ऐसा मानो, अगर सच्चा ज्ञान जग गया तो उसकी विजय है।

भैया ! घर छोड़ने को तो नहीं कहा जा रहा है। बाल-बच्चों में रहते हुए कुटुम्ब परिवार में रहते हुए भी अगर ज्ञान जग गया तो सम्यक् निर्जरा होती है। ये प्रशंसा करने वाले, बहुत बड़ा व्यवहार करने वाले आपकी कोई सहायता करने वाले नहीं हैं। वे सब अपनी-अपनी सत्ता में हैं। देखिए श्रेयांस कुमार जी एक योग्य सज्जन मित्र ही तो थे। उनका अब पता ही नहीं है कि किस गति को गए हैं ? अब उनके नाम को कौन याद करता है ? क्या ऐसा नहीं हो सकता है कि वह न गुजर गए होते, उनकी जगह पर हम आप ही गुजर गए होते तो क्या पता रहता कि कहां चले गए हैं ? कोई नाम भी न लेता। कितने ही ऐसे मौके हों गए जिनमें मरने का पूरा खतरा था। रोगों की बीमारी में फंसे रहने से सारी उम्र गुजर गयी। ५०-६० वर्ष की अवस्था गुजर गयी। इन रागद्वेषों में ही रहकर जीवन में कभी शांति न मिल सकी। सदा दुःख ही बने रहे। कोई हमें मत जानें, हम किसी को मत जानें। हम आत्मपोषण करते हैं यदि ज्ञानस्वरूप को निहारकर शांति की पुष्टि करते हैं। हमारा यहां क्या काम है ? ऐसा भीतर में विश्वास हो, प्रोग्राम हो।

दुनिया में शांति तो पैसा बढ़ाने से नहीं होती, रिश्तेदार बढ़ाने में नहीं होती, मित्रता के कोई काम करने में नहीं होती। मान लिया पैसा खूब बढ़ गया तो उससे शांति की किरणें तो निकलती ही नहीं। इन मित्रजनों से भी शांति नहीं मिलती है। इन मित्रों से भी निरपेक्ष बनाओ अपने को। प्रभु ही एक

निरपेक्ष मित्र है जिसके स्मरण से ही हम और आपको शांति मिल सकती है। बाहर में दृष्टि पड़ती है, अनेक काम बाहर के विकल्प के ही करते हो। अरे ! किसलिए बाहर के विकल्प के काम करते हो और प्रसन्न होते हो ? कोई हमारी मदद करने वाला नहीं, ऐसा जानकर अपने हितकर प्रोग्राम बनाओ। विभूति तो पुण्य के उदय की बात है स्वतः आ जायगी। जो कुछ अल्प परिश्रम से मिलता है उसमें ही गुजर करना है, अन्याय धोखा आदि करने से क्या लाभ ? जो कुछ मिल जाय भाग्यवश उसी में बसर करो। हमारी चार आदमियों में बड़ाई हो जाय तो इससे क्या होगा ? ऐसा उपयोग यदि भीतर में बने तो शान्ति प्राप्त हो सकती है। जितने क्षण व्यतीत हो गए वे फिर नहीं आयेंगे, फिर समय के हिसाब से ही अपने हित की बात सोचो। विपरीत मार्ग की ओर जा रहे हो, नाजुक की ओर ही जा रहे हो। रही सही जो आयु है उसमें ही ज्ञान करके अपना कल्याण कर लो। ज्ञान की ही बात करो, भीतर में ममता न रखो। जो मोह कर रहे हैं उनका ऐसा ही विश्वास हृदय में बने तो वे अपने आप सुखी हो सकते हैं।

यहां मेरी क्या खूब परीक्षा कर लो। यदि तुम्हारा कुछ नहीं है तो राग द्वेष न बनाओ। दुःख देने वाले ये रागद्वेष ही हैं। ऐसी कल्पनायें न उठें कि अमुक भैया यों नहीं करते इसलिए दुःख होते हैं। ये मेरे इष्ट हैं, ये मेरे अनिष्ट हैं ऐसा ख्याल बनाने से तो दुःख ही प्राप्त होंगे। मेरे दुःख तो अज्ञानता के ही कारण हैं। स्वाधीनता न रखने से ही दुःख हो जाते हैं। उन दुःखों से यदि दूर रहना है तो अपने ज्ञान में सबकी स्वाधीनता रखना चाहिए। सब जुदा-जुदा हैं, अलग-अलग हैं ऐसा ही देखना चाहिए। ऐसा ही अनुभव करने से शांति मिलती है। बाहर में दृष्टि न फंसायी तो शांति का प्राप्त करना सरल है। मुख्य बात तो यह है कि जो रागद्वेष उत्पन्न होते हैं उनसे विरक्त होवो। रागद्वेष उत्पन्न करना मेरा काम नहीं, मेरा स्वरूप नहीं, मेरा स्वभाव नहीं। मेरा क्या स्वरूप है ? मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, केवल प्रतिभासमात्र हूँ मैं जानने के ही काम में लगूँ। रागद्वेषों के कामों से अलग रहूँ। भैया! तुम तो व्यर्थ की कल्पनायें कर रहे हो। मैं तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूँ ऐसा जानकर संसार के रागद्वेषों से विरक्त होओ। घर छोड़ दो इसके मायने विरक्त नहीं। अपने अन्दर जो रागद्वेष के भाव हों उनकी विरक्ति कर दो। रागद्वेष करना तो मेरा स्वभाव ही नहीं है, मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ ऐसा भीतर में स्वरूप की रुचि करके मैं अपने स्वरूप में ही रत होऊँ और अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ।

करने का काम इतना ही है कि मैं अपने को सबसे न्यारा मानता रहूँ। यदि अपना स्वरूप न्यारा समझ में आयगा तो शांति प्राप्त हो सकती है। ऐसा अपने स्वरूप को देखने के लिए ही भगवान् के लोग दर्शन करते हैं।

संसारजो हि पर्यायः संसार उपचारतः।

त्यक्त्वा तन्मूलसंसारं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-१०॥

अर्थ— निश्चय से संसार (रागद्वेष मोह आदि विभाव) से होने वाली व्यक्त पर्याय तो उपचार से संसार कहा जाता है मैं तो उसके मूलभूत संसार को ही उपयोग से हटाकर अपने में अपने अर्थ अपने आप सुखी होऊँ।

संसार कोई संसारियों से अलग चीज नहीं है। ये भ्रमने वाले जो जीव हैं इन जीवों का समूह ही संसार कहलाता है। सो ये जो पर्याय हैं, मनुष्य हैं, पशु-पक्षी हैं, कीड़े मकोड़े हैं, यही संसार है, यही है संसार की मूर्ति और जो भगवान् की मुद्रा है वह है मुक्ति। संसारी हम और आप ही कहलाते हैं। हम और आप ही तो संसारी बने हुए हैं। रुतने वाली चीजें रहना ही मोह है। इस जीव का किसी दूसरे जीव से कोई नाता नहीं है, कोई सम्बन्ध नहीं है। जो घर में पैदा हुआ पुत्र है वह भी अपना नहीं है, न्यारा है। उसका भी मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

भैया ! सभी जीव न्यारे-न्यारे हैं, फिर भी उनसे रागद्वेष मोहवश सम्बन्ध माने हैं उसी से क्लेश होते हैं। दूसरे कोई दुःख के देने वाले नहीं हैं। एक यह ही बात मन में आ जाय तो ज्ञान जग गया। यह ही बात बैठ जाय कि मेरा दुःख देने वाला दुनिया में दूसरा नहीं है। इतना ही जो राग परिणाम है, परवस्तुओं में जो आकर्षण है, बस ये ही भाव दुःख देने वाले हैं। और धर्म की बात, तपस्या की बात, व्रत की बात वह भी संवर है। किन्तु आत्मा की बात जो न बनी तो अन्य सब करना न करना सब बराबर है। परन्तु इतनी ही बात पकड़ में आ जाय कि मुझको दुःख देने वाला मेरा राग द्वेष मोह ही है, दूसरा और कोई मुझे दुःख देने वाला नहीं है। अगर हृदय में यह बात बैठ जाय तो बस यह ज्ञान तरने के लिए पर्याप्त है। मेरा दुःखी करने वाला मोह परिणाम ही है दूसरा और कोई जीव मुझे दुखी नहीं कर सकता। दूसरे लोग भी अपना-अपना स्वार्थ लिए हुए हैं, अपना अपना सुख चाहने वाले हैं, अपनी-अपनी धुन में हैं। सो अपनी धुन में रहते हुए भी इन्हें यह समझ लें कि मेरा किसी से सम्बन्ध नहीं है, पर हम ही स्वयं मूर्ख बनकर बाहर में दृष्टि डालते हैं, परिवार के लोगों को अपना मानते हैं, इसी से दुःखी होते हैं।

भैया ! दूसरे जो हैं वे खुद दुःखी हैं, वे स्वयं अपने ही अनुसार चलते हैं। हम कोई विरोधी हों सो बात नहीं हमारा कोई बिगाड़ करने वाला हो सो बात नहीं। जीव सब हैं, अपनी-अपनी धुन में रहते हैं। जैसा उनका परिणाम है वैसी ही परिणति है। हम ही ख्याल बना लेते हैं कि यह मेरा अनिष्ट है, इष्ट है और दुःखी होते हैं। मुझको दुःख देने वाले ये रागभाव के परिणाम ही हैं, यह ज्ञान की बात है। अज्ञान में उल्टा सूझता है। इन्होंने मेरा बिगाड़ किया, इन्होंने विरोध किया आदि। वास्तविकता यह है कि जीव अपना स्वार्थ चाहते हैं सो अपना स्वार्थ चाहने में जो उनसे बन पड़ता है सो करते हैं। कोई किसी दूसरे का कुछ नहीं करता है। एक यह ही ज्ञान समा जाय कि मुझको दुःख करने वाला कोई दूसरा नहीं है, मेरे राग परिणाम ही मुझको दुःखी करते हैं। सो ज्ञान के होने पर सब कषायों में फर्क आ जायगा, क्रोध भी न रहेगा, मान आदि भी न रहेगा।

ज्ञानी जीव की निर्मलता देखो कि युद्ध में भी जाना पड़ता है तो वहां भी वह सैंकड़ों को मार गिराता है। इतने पर भी ज्ञानी जीव का परिणाम निर्मल है। वह ४९ प्रकृतियों का बंध नहीं कर रहा है। उसके ऊपर तो किसी ने हमला किया, आक्रमण किया तो उससे वह अपनी रक्षा के लिए अविरत भाव में मुकाबला कर रहा है। उसका पाप करने का जरा भी विचार नहीं रहता है। उस ज्ञानी जीव

की निर्मलता देखो। धन्य है वह ज्ञान। चाहे राजा हो, चाहे गृहस्थ हो, चाहे कुछ भी हो, निर्मलता अन्तरंग में आवे यही ज्ञान है। ज्ञान जग जाय तो उसको दुःखी करने वाला कोई दूसरा नहीं है। मेरे राग ही मुझे दुःख देते हैं ऐसा यदि ज्ञान हो गया तो क्रोध में अन्तर आ जाता है। अनन्तानुबन्धी क्रोधी नहीं होते हैं। युद्ध में भी वे रहें तो घमंड नहीं आयेगा, छल कपट न करेगा। तो मुझे दुःखी करने वाला कोई दूसरा नहीं है। केवल मेरे रागभाव ही मुझे दुःख देते हैं। दुःख तो राग के, मोह के कारण ही है। सो अपने इस अज्ञान को मिटाओ और अपने आप सुखी होवो।

यन्न रागवशः प्रापं योनिदेशकुलं न तत्।

मुक्त्वा रागमतः स्वस्थः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३-११॥

अर्थ- वह (ऐसा कोई) योनिदेश व कुल नहीं है जिसे राग के वशीभूत हुए मैंने न प्राप्त किया हो इसलिए राग को छोड़कर स्व में स्थित होता मैं अपने आप अपने में अपने लिये सुखी होऊँ।

देखिए इस जीव ने इस दुनिया में कितने चक्कर लगाये हैं ? कोई जमीन ऐसी नहीं बची, कोई इन्वभर भी जगह ऐसी नहीं बची जहाँ यह जीव अनन्त बार पैदा न हुआ हो और मरण न किया हो। आज जैसे खिसनी में पैदा हुए, तो जानते हैं कि हम खिसनी के हैं। अरे हम तो सारी दुनिया के हैं और कहीं के भी नहीं। दुनिया में ऐसी कोई जगह नहीं बची जहाँ पर हम पैदा न हुए हों। आज यहां पैदा हुए तो कल दूसरी जगह। ८४ लाख योनियों में भ्रमण करके आज खिसनी ग्राम में पैदा हुए हैं, फिर कहीं दूसरी जगह पैदा होंगे। इस दुनिया में सभी जगह पैदा हुए, अनन्तों बार राग के वश होकर सर्वत्र भटककर इस मनुष्यभव में जन्म लिया और मरण किया। इस मनुष्य का पूर्वभव में जिसका राग था वह अब कहां है ? पता नहीं कौन पिता था, कहां घर था या किस योनि में थे ? यह मेरी सम्पदा है, यह मेरा घर है, यह मेरा परिवार है, इसी विकल्प में मनुष्य पड़ा रहता है और अन्त में मरकर किसी दूसरी योनियों में चला जाता है। इस प्रकार का जो मनुष्य शरीर मिला है उसमें अगर धर्म नहीं किया तो कुछ भी नहीं किया। यदि धर्म नहीं किया तो कहते हैं कि गैर की तरह आया और चला गया। आज यहां तो कल और जगह गया। यह ठाठ तो इसी तरह चलता ही रहता है। इसका कहीं कुछ वैभव नहीं है। अगर कुछ इसका वैभव होता तो साथ ले जाता। सो जैसा आया वैसा ही चला गया। यह मनुष्य नए नए राग बनाता रहता है और ये राग ही उसे मिटाते रहते हैं।

भैया! ऐसा जगत् में कोई प्रदेश नहीं बचा जहां पर यह जीव राग के वश होकर पैदा न हुआ हो। कोई कुल नहीं बचा जिसमें यह जीव अनन्तों बार पैदा न हुआ हो। भैया ! उस भटकने का कारण है राग। राग छोड़ दो अभी सुखी हो जावो। देखा होगा कभी-कभी बच्चों में खाने पीने वाली चीज में जब लड़ाई हो जाती है। जिस बच्चे के हाथ में खाने वाली चीज है उसे दूसरे बच्चे छीनने के लिए झपटते हैं, उसे मारते हैं, पीटते हैं। अगर वह बच्चा उस चीज को फेंक दे तो वह मजे में हो जाय। यह जानो कि जीव केवल रागद्वेषों से दुःखी है। दुःख दूर से आया हुआ नहीं है। दुःख तो हम और आप में ही बैठा हुआ है। किसी को कोई कुछ कह रहा हो, कोई टोटा हो रहा हो, धन न हो तो यहां

सुख यहाँ द्वितीय भाग

9५३

क्या हुआ ? उसे कोई सता तो नहीं रहा है, बल्कि वह अपने राग से ही दुःखी हो रहा है। दुःखी करने वाला कोई दूसरा नहीं है। हम स्वयं ही राग करते हैं और दुःखी होते हैं। वे राग व्यर्थ के राग हैं। राग गृहस्थ को करने पड़ते हैं। गृहस्थ राग कर ले फिर भी भीतर में सच्ची बात तो जगाना चाहिए। सच्चे ज्ञान का प्रकाश तो रहना ही चाहिए। उसका राग करना व्यर्थ, उसका मोह करना व्यर्थ। करना पड़े तो बात अलग है, पर ध्यान में मोह की बात न आवे तो यही मुक्ति प्राप्त करने का उपाय है। ये मोह राग आदि अकल्याण के करने वाले हैं। न भीतर ज्ञान जगे तो देख लो, वही का वही है। यदि कोई बैठा रहे, बैठे-बैठे हीं क्रोध करता रहे, गुस्सा करता रहे तो वह अपने को ही बरबाद कर रहा है। यदि यही जिन्दगी रही तो ज्ञान भीतर में न जगेगा। दुःखों के मिटाने का कोई दूसरा उपाय नहीं है। मोह छोड़ना ही एक दुःखों के छोड़ने का उपाय है।

जैसे मानो कोई सेठ कमरे में सो रहा हो और स्वप्न ऐसा आ जाय कि उसको गर्मी बड़े जोरों की लगे। सो यह इच्छा चल जाय कि चलो समुद्र में नाव में बैठकर घूमें। समुद्र की ठंडी हवाओं से गर्मी शांत करें। वह समुद्र में नाव द्वारा सैर करने चला। यह स्वप्न की बात कह रहा हूँ। जब वह चलने लगा तो घर वाले पुत्र तथा स्त्री आदि बोले कि हमें भी गर्मी लग रही है, हम भी सैर करने चलेंगे। अब सब समुद्र में नाव में बैठे हुए चले जा रहे हैं। समुद्र में ही एक तूफान ऐसा आया कि नाव का सम्भालना कठिन हो गया। तो मल्लाह बोला कि अब नाव डूबे बिना रह नहीं सकती। मैं तो किसी तरह से तैर करके निकल जाऊँगा। तो सोचो वह सेठ ख्याल बनाकर कितना दुःखी होता होगा ? कहां तो सेठ जी पलंग पर सो रहे हैं, नौकर-चाकर आराम देने का काम कर रहे हैं कि सेठ जी सोकर जगें तो कुछ बात करें, किन्तु सेठ जी स्वप्न में ही ख्याल बना-बनाकर दुःखी हो रहे हैं। सेठ के दुःख को मिटाने वाला साधन कठिन है बताओ। सेठ के दुःखों को दूर करने वाला कोई नहीं है। केवल एक उपाय है। वह उपाय यह है कि सेठ जी की नींद खुल जाये। अगर सेठ जग जाये तो दुःख कहां है। वह तो पलंग पर सो रहे हैं, ठाठ से कमरे में सो रहे हैं। यदि सेठ जग जावे तो उसके दुःख दूर हो जायें।

इसी तरह यहां जीव मोह की नींद में सो रहे हैं। यह मेरा है, यह उसका है, यह भला है, यह बड़ा अच्छा है। पर वस्तु को चिपकाये हैं, राग कर रहे हैं, इससे सुख तो मिल ही नहीं सकते हैं। अच्छा बतलाओ यदि कोई अपनी स्त्री के सम्बन्ध से, अपने पुत्र के सम्बन्ध से सुखी रह सका हो तो बतलाओ। अगर स्त्री खोटी निकली तो लड़ोगे, गुस्सा करोगे, दुःख होंगे। और अगर स्त्री गुणकारी हुई, गुण वाली हुई तो यही बना रहेगा कि मैं इसके लिए क्या ला दूँ, कैसे इसको सुखी रखूँ, कैसे यह बढ़िया रहे ? इस प्रकार से परिश्रम करके दुःखी रहते हैं।

ऐसी ही पुत्र की बात है। अगर पुत्र कुपूत हुआ तो वैसे ही परेशानी हुई, बहुत सी झगड़े की बातें हुई, बहुत से दुःख हुए और अगर पुत्र सपूत हुआ, आज्ञाकारी है, विनयशील है तो यह होता है कि मैं इसे कैसे पढ़ा लिखा दूँ, कैसे इसे आनन्द से रखूँ, कैसे इसे ऊंचा बना दूँ ? इस प्रकार से परिश्रम करके दुःखी होते हैं। तो पर के सम्बन्ध से तो सुख है ही नहीं, सुख है तो केवल ज्ञान में है और वैराग्य

१५४

सुख यहाँ द्वितीय भाग

में है। अपनी ओर रमने में ही सुख है। बाहरी पदार्थों में मोह करके सुख नहीं है। सो कहते हैं कि ऐसा कोई देश नहीं बचा जिसमें हम और आप अनन्तों बार पैदा न हुए हों। क्यों भटक रहे हैं आज तक? केवल राग के कारण और मोह के कारण। मोह, ममता और अज्ञान ही दुःखों का कारण है। 'निज को निज पर को पर जान।' यही सुख शांति पाने का उपाय है। मैं सबसे न्यारा हूँ। यह जीव सबसे न्यारा है। कोई किसी से मिला नहीं है और न मिल सकता है। जो जैसा है उसे वैसा न मानना यही अज्ञान है, यही जीव को दुःख देता है। यदि मोह छोड़ दो तो सुखी हो सकते हो।

कीटो भूपो नृपः कीटो जायते विषमे भवे।

स्वास्थ्यमेव स्थिरं स्थानं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-१२॥

अर्थ- इस विषमभव में कीड़ा तो राजा हो जाता है और राजा कीड़ा हो जाता है। इस संसार में कोई स्थान स्थिर नहीं है किंतु स्व आत्मा में स्थित रहने रूप स्थान ही स्थिर है इसलिये मैं स्व में ही स्व के अर्थ स्व में स्थिर होऊँ।

यह दुनिया बड़ी विषम है। कहो कीड़ा मरकर राजा बन जाय और कहो राजा मरकर कीड़ा बन जाय। ये जो अज्ञान विचार वाले हैं, जीवों का वध करते हैं अथवा मांस खाते हैं, प्राणिघात करते हैं, शिकार खेलते हैं और मौज मानते हैं, हर्ष मानते हैं। तो क्या यदि कोई यह समझे कि मैं मनुष्य हूँ तो मनुष्य ही रहूँगा, ऐसा तो नहीं है। यह भव बड़ा विषम है। जिन जीवों की हम हत्या करते हैं तो हम प्रायः वे ही जीव बन जाते हैं। यदि बन गये तो उनके ही द्वारा सताये जा रहे होते। कोई मुर्गा है वह मर जाता है, मार डाला जाता है तो कितना बड़ा पाप है? अरे इन समस्त जीवों पर दया करना प्रधान काम है। किसी जीव का दिल न दुःखाना चाहिए यह सब आचारों का आचार है। इसमें ही मनुष्य की शोभा है।

भैया ! अपने में अगर दुःख पहुँचते हों तो सहन कर लो, पर दूसरों का चित्त न दुःखाना चाहिए। ५ मिनट में बात को समझाया जा सकता है। दूसरे पर क्रोध न आवे। क्रोध आ जाने से दुःख नहीं मिट सकते हैं। सो यह चाहिए कि किसी जीव का घात न करो। संकल्पी, आरम्भी, उद्यमी और विरोधी इन चार हिंसाओं में से संकल्पी हिंसा का तो पूर्णतया त्याग होना चाहिए। भीतर से यह ज्ञान हो कि देवी देवताओं में बकरा चढ़ाते हैं तो बकरे चढ़ाने से, अशुद्ध काम होने से कोई लाभ नहीं मिलेगा। अरे देवी-देवता तो वैक्रियक शरीर वाले हैं, सुन्दर हैं। उन्हें मांस तो चाहिए ही नहीं, मुख से चबाकर कुछ खाने की जरूरत ही नहीं पड़ती। उन पशुओं के काटे जाने से, उन देवी-देवताओं की तृप्ति नहीं होती है। वे देवी-देवता तो स्वयं समर्थ हैं। उनके कंठ से तो अमृत झरता है। उस अमृत से ही वे तृप्त हो जाते हैं। अगर अपना काम बनाना है तो सब लोग अच्छे कार्य करें। सब जीवों पर दया करो, संकल्पी हिंसा यही कहलाती है कि किसी जीव को मार डालना। उद्यम करने से जो हिंसा हो जाती है वह उद्यमी हिंसा कहलाती है। अगर कोई शत्रु हमला करे उससे बचाव करने में जो हिंसा होती है वह विरोधी हिंसा कहलाती है। घर के काम-काज करने में जो हिंसा हो जाती है वह आरम्भी हिंसा कहलाती है।

इन चार हिंसाओं में से गृहस्थ एक हिंसा का त्याग कर सकता है। बाकी ३ हिंसाओं का त्याग गृहस्थ नहीं कर सकता है। गृहस्थ का तीन हिंसाओं का त्याग नहीं है। पर साधु जनों को सब प्रकार की हिंसाओं का त्याग होता है। सो भैया ! कहते हैं कि किसी भी जीव की हिंसा न करो। किसी के बारे में झूठी गवाही मत दो। अगर अपना चरित्र अच्छा है तो सब धन पास है। झूठ बोलने की आदत न डालो तो भैया किसी की झूठी गवाही न दो, अहित की बात न करो, यही सदाचार है। कोई चीज बिना पूछे न लावो, किसी दूसरे की स्त्री पर कुदृष्टि न डालो। मन में यह भाव कभी न लाओ कि धन-वैभव जोड़ूँ। अरे भाग्य से जो कुछ आता है वही ठीक है। अपने में तृष्णा का भाव न रहे, यही सदाचार है। अगर ऐसा रहा तो समझो कि काम बन गया। यदि आचरण ठीक नहीं है तो देवी-देवता काम कर दें, भगवान काम कर दें यह नहीं हो सकता है। तो सुख और दुःख दोनों ही हमारे हाथ है। जैसे हमने अपना परिणाम सुधारा तो काम सुधर गया और अगर परिणाम बिगाड़ा तो काम बिगड़ गया। अगर किसी की तारीफ कर रहे हैं कि वह तो बड़ा ही सज्जन है, दूसरों के काम में आता है तो इतने से उसे क्या मिल गया ? सभी द्रव्य स्वतंत्र हैं, ऐसा ज्ञान बनाना यही विवेक है। विवेक से रहना इसमें ही भलाई है। सो भैया! यदि कोई जीव खुद विवेक करता है, मांस मदिरा इत्यादि का सेवन नहीं करता है तो उसका जीवन सफल है। सब जीव एक समान हैं। उन जीवों पर आघात न करो ऐसा सोचने में व ऐसा ही दया परिणाम करने में ही आनन्द है।

देखो भैया ! यदि कोई मांस मदिरा इत्यादि का भक्षण करता है तो बड़ा पाप है। जो खाते हैं वे त्याग दें तो बड़ा ही पुण्य होगा। इससे त्यागने वाले की आत्मा का बड़ा सुधार होगा। यदि अच्छा आचरण रखें तो बड़ा सुख मिलेगा। सुख-दुःख देने वाला कोई दूसरा नहीं है। मेरा सुख-दुःख परिणामों पर ही निर्भर है। ऐसा जानकर अपने परिणाम शुद्ध करो। अपने आप में रमकर अपने आप सुखी होओ।

प्राप्ता ये दुर्गतिः क्लेशाः भ्रान्त्या भ्रान्त्या मयैव ते।

मुक्त्वा भ्रान्तिमतः कालात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-१३॥

अर्थ— दुर्गति के जो क्लेश प्राप्त किये हैं वे भ्रम से परिभ्रमण करके मैंने ही तो प्राप्त किये हैं अब इस समय से भ्रान्ति को छोड़कर मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

जितने भी दुर्गति के क्लेश हैं वे भ्रम से लोक में भ्रम-भ्रम कर मैंने ही तो प्राप्त किये हैं। अब इसी समय से भ्रान्ति को छोड़कर मैं अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ।

भैया ! जहाँ स्वतन्त्रता का परिचय है वहाँ ही सच्चा ज्ञान है। हम आप एक-एक पृथक् पृथक् आत्मा हैं। यह आत्मा एक द्रव्य है, इसमें अनन्त गुण हैं और उन सब गुणों की परिणतियां होती रहती हैं। जैसे जानन तो पर्याय होगा और जानने की जो शक्ति है वह गुण होगा। जैसे इसको चौकी जाना। अन्य अन्य पदार्थों को जाना, अनेक बातें जाननी, यह तो आत्मा का गुण नहीं है। ये नष्ट हो जाने वाली

वृत्तियां हैं। चौकी को जाना तो यह जानना नष्ट हो जायगा और कोई नया जानन हो जायगा। तो यह जानना आत्मा का गुण नहीं है, वह तो पर्याय है।

जानने की जो शक्ति है वह गुण है। जो भी परिणमन होता है उनका जो आधारभूत है वह शक्ति है, वह गुण है। क्रोध, मान, माया, लोभ और अशांति ये सब पर्याय हैं और इसकी जो शक्ति है वह आत्मा का गुण है वह है चारित्र गुण। सुख होना, दुःख होना यह तो पर्याय हैं। ये मिट जाने वाली चीजें हैं। सुखी-दुःखी होने की जो शक्तियां हैं वह हैं आनन्द नामक गुण। ऐसी परिणति व ऐसी शक्ति की जो समुत्पात्मक चीज है उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्यात्मक वस्तु परमार्थभूत चीज है, ध्रुव है, उसे न जानकर वर्तमान दशा को ही सर्वस्व माने बस यही भ्रम है। यह भ्रम क्या है ? जिसके मूल में यह आत्मा चक्कर लगाती है। भ्रम यह है कि पर्याय को द्रव्य मान लेना ही भ्रम है। यहां जो देखते हैं वे क्या चीजें हैं ? यह कौनसा द्रव्य है बतलावो ? तो किसी ने कहा — यह पुद्गल द्रव्य है। अरे ये पुद्गल नहीं है, ये पुद्गल द्रव्य की व शक्ति की दशा है। पुद्गल की दशा को मान लिया पदार्थ कि यही द्रव्य है यह मिथ्यात्व है। यह सैद्धान्तिक भाषा में मैं कह रहा हूँ।

जैसे किसी ने कहा कि घबड़ाओ मत हम आ रहे हैं। अगर कोई पानी में डूब रहा है तो कहते हैं कि घबड़ाओ मत हम आ रहे हैं। इस शरीर के ढांचे को कह रहे हैं कि हम आ रहे हैं। अथवा और भीतर दृष्टि जाय तो भी भीतर विकल्प करता रहता है, उसको कहते हैं कि यह मैं आ रहा हूँ। देखना, जानना, सुनना, विचार करना— ये सब पर्याय हैं। इनको मैं यंह मोही जगत कह रहा है। पर्याय को द्रव्य मानना ही भ्रम है, मैं आत्मा क्या हूँ ? क्या यह जो पर्याय है, शरीर का ढांचा है क्या वह मैं हूँ ? नहीं, यह मैं नहीं हूँ। यह पर्याय है। तो क्या भीतर जो रागद्वेष दुःख-सुख होते हैं वह मैं हूँ ? नहीं, वह भी मैं नहीं हूँ। वह भी पर्याय है। वे भी मिट जाने वाली चीज हैं। मिट जाने वाली जो चीज है वह पर्याय है और जो न मिट जाने वाली चीज है वह द्रव्य है या गुण है। अर्थात् गुण का व द्रव्य का नाश नहीं होता है। इन जीवों ने पर्याय को द्रव्य मान लिया यह भ्रम है। भीतर में जो रागद्वेष उत्पन्न होते हैं क्या वे मैं हूँ। नहीं, वे भी मैं नहीं हूँ।

जब मैं किसी पर्याय में पहुंचा तो जिस पर्याय में हूँ, उसी में मैं अपने को मानता हूँ। यदि मैं पक्षी हो गया तो माना कि मैं पक्षी हूँ। यदि मैं मनुष्य बन गया तो कहता हूँ कि मैं मनुष्य हूँ। यह सब भ्रम है और इस भ्रम के ही कारण संसार में भटकना पड़ता है। यदि धनी बन गये तो मैं धनी हूँ ऐसा मानना यह भ्रम है। अथवा यदि धन नहीं है तो गरीब मानना यह भी भ्रम ही तो है। परिवार कुटुम्ब, बच्चे इत्यादि जुड़ गये तो मैं परिवार वाला हूँ, ऐसा मानना भ्रम है। परिवार न रहे तो वह मानते हैं कि हाय मैं अकेला हूँ यह भी भ्रम है।

क्यों जी कोई पूजा कर ले, कोई विधान कर ले, कोई बाल-बच्चों वाला हो जाय तो यह भी तो भ्रम है। कोई जीव किसी जीव पर दया करने वाला यदि यह समझ ले कि मैं दया करता हूँ तो यह

सुख यहाँ द्वितीय भाग

भी भ्रम है। पर्याय को द्रव्य मानना सो ही भ्रम है। साधु बन जाय, मुनि बन जाय, वह ऐसा सोच ले कि मुझे देखकर चलना चाहिए आदि तो यह सोचना भी भ्रम है। किसी भी दशा में पर्याय को द्रव्य मानना भ्रम है। मुनि है वह पर्याय है कि द्रव्य है ? पर्याय है। पर्याय को मान लिया कि यह मैं हूँ। मुनि को मुनि मानना पर्याय है और पर्याय को यह मान ले कि यह मैं हूँ तो भ्रम है।

मैं एक ज्ञायकस्वरूप हूँ, केवल चैतन्यस्वरूप हूँ, यह माना तो भ्रम नहीं है। जैसे किसी ने माना कि मैं मनुष्य हूँ तो मनुष्य तो आत्मा नहीं है। अगर अपने को मनुष्य माना तो भ्रम है। किसी ने मान लिया कि मैं गृहस्थ हूँ तो गृहस्थ तो आत्मा नहीं है। अगर गृहस्थ अपने को माना तो भ्रम है। आत्मा तो एक ज्ञानस्वरूप वस्तु है। गृहस्थ नहीं है और मान लिया कि मैं गृहस्थ हूँ। तो यह भ्रम हो गया कि नहीं हो गया ? इन सब भ्रमों के कारण इस जगत् के जीव संसार में रुलते ही रहते हैं, मोही जीव इस जगत् में भ्रमण करते-करते बड़े-बड़े क्लेश पाया करते हैं। मैं इन समस्त भ्रमों से मिटकर अपने स्वरूप को देखकर अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

आप्तपूर्ण भवे होको भ्राम्यामि तत्त्वतो निजे।

उपयोगे ततः स्वस्थः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयं॥३-१४॥

अर्थ- आपत्तियों से भरे हुए संसार में मैं एक याने अकेला भ्रमण करता हूँ और वास्तव में अपने उपयोग में भ्रमण करता हूँ इसलिए स्व अर्थात् निरपेक्ष उपयोग में स्थित होता हुआ मैं अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

आपत्तियों से भरा हुआ यह संसार है। मैं इस असार संसार में अकेला ही भ्रमण करता हूँ। अपने स्वरूप से हटकर बाहर में उपयोग फंसाये हैं, ये तो सब आपदायें हैं ऐसा ज्ञानी जीव समझता है। अज्ञानी जीव तो इन बाह्य सम्पदाओं को ही वास्तविक सम्पदा समझते हैं, पर ज्ञानी जीव निर्वाण की अवस्था को ही सारी सम्पदा समझता है। आखिर यह भव छूटा तो फिर पशु बन गये, दुर्गति हो गयी तो कौनसा आनन्द बाह्य पदार्थों के उपयोग से हुआ ? आनन्द की वस्तु तो वही है कि मिले और फिर मिटे नहीं। जिसके पाने के बाद वह मिटे-नहीं वह वास्तविक वस्तु है। इस आत्मा की विभूति का चमत्कार आत्मा में है। अगर यहां लाखों जोड़ लिया, ऊंची-ऊंची उपाधियां प्राप्त कर लिया, पदवियां प्राप्त कर लीं तो ये उपाधियां क्या हैं ? आखिर ये सब छोड़ना ही पड़ेगा।

कोई धन में बड़ा है, कोई पूजा में बड़ा है, कोई ज्ञान में बड़ा है, कोई तप में बड़ा है पर सभी उस अरहन्त भगवान् की मूर्ति के आगे सिर झुकाते हैं। सो यह अरहन्त भगवान् बड़ों से भी बड़ा है। तभी तो समस्त लोक इस अरहन्त भगवान् के सामने झुकते हैं। यह अरहन्त भगवान् क्यों बड़ा है ? इसका स्मरण रहने से अपनी आत्मा की विभूति नष्ट नहीं हो सकती है। स्मरण हो आता है मैं यह आत्मा कौन हूँ, ज्ञान और आनन्द स्वरूप का भण्डार हूँ तो मैं केवल अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव करूँ तो अद्भुत आनन्द प्रकट होता है। सारी कल्पनाओं को त्यागकर अपनी जिन्दगी में अपने आपका ही अनुभव

हो जाय तो अपने आप के ज्ञान में जिन्दगी सफल है। अनेक उपायों को करके किसी भी प्रकार अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव हो जाय तो उन उपायों को करना चाहिए। हम यह नहीं कहते कि आप अपना घर छोड़ दें वरन् अपने कल्याण की बात मिल जाय, प्रभु के दर्शन हो जायें, आत्मस्वरूप का अनुभव हो जाय तो यही मुक्ति का मार्ग है।

देहान्तरं ब्रजाम्येको देहमेकस्त्यजाम्यहम्।

परदृष्टिं हि तत्त्वस्थः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-१५॥

अर्थ— मैं एक याने अकेला ही तो शरीरान्तर को जाता हूँ और अकेला ही शरीर को छोड़ता हूँ अथवा परदृष्टि को छोड़ता हूँ। इसलिये परदृष्टि को छोड़कर स्वस्थ होता हुआ अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

यह मैं अकेला ही दूसरे शरीर में जाता हूँ और यह मैं अकेला ही इस शरीर को त्यागता हूँ। कोई कैसा प्रेमी हो, मित्र हो, किसी से कहो कि हम तुम्हारे जीवन भर साथी रहे, संगी रहे, अब हम दूसरी नयी देह में जावेंगे तो तुम भी हमारे साथ में चलो तो वह नहीं जा सकता है और मान लो जब भी कष्ट आ जाय और मरते समय साथ में ही मर जाय, याने जिस समय वह मरता है उसी समय वह भी मरता है पर मरते में भी शरीर के साथ चला जाय तो यह असम्भव है। वह एक शरीर में भी मान लो पहुँच जाय निगोदिया बनकर तो भी अनुभव अलग ही अलग है, अनुभव में एक नहीं हो सकेंगे, तथा सूक्ष्म शरीर तो फिर भी अलग है। यह तो मैं अकेला ही नये शरीर को धारण करता हूँ और यह मैं अकेला ही इस शरीर को छोड़ूँगा।

भैया ! शरीर जीव के साथ दो तरह के लगे हैं — एक सूक्ष्म शरीर और एक स्थूल शरीर। जो हम सब लोगों को दिखता है वह तो है स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर वह है जो स्थूल शरीर के त्यागने पर भी जीव के साथ जाता है। वह सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर के होते हुए भी साथ में लगा हुआ है। स्थूल शरीर का तो कुछ क्षण के लिए बिलगाव भी हो सकता है। मर गये सो शरीर तो छूट गया, पर बीच की स्थिति को जिसे विग्रह गति कहते हैं उस स्थिति में स्थूल शरीर नहीं रहता मगर सूक्ष्म शरीर उस बीच की स्थिति में भी रहता है और स्थूल शरीर धारण किए हुए हैं उस समय में भी रहता है। सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध आज तक एक क्षण भी नहीं टूटा और स्थूल शरीर का सम्बन्ध तो दो तीन समय तक को छूट भी गया पर सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध अब तक कभी नहीं हटा।

वह सूक्ष्म शरीर क्या है ? तैजस और कार्माण। उस सूक्ष्म शरीर में दो तरह की निमित्त दृष्टि से कला का निर्णय कीजिये एक शरीर की तो यह कला है कि जिस स्थूल शरीर के पास यह सूक्ष्म शरीर है उस स्थूल शरीर में तेजी आ जाय याने मर जाने पर कहते हैं ना कि इस पर मुर्दायी छा गयी तो वह मुर्दायी क्या चीज है ? तेज निकल गया। जीव में रहता हुआ उसमें तेज था सूक्ष्मशरीर के कारण। सो जीव के निकलने पर वह सूक्ष्मशरीर भी निकल गया और तेज भी निकल गया। जब स्थूल शरीर के पास है तब तेज रहता है। और दूसरे शरीर में एक कला यह है कि उसका विपाक काल आया तब जीव में रागद्वेष की वृत्ति स्वयं हो जाती है। उस सूक्ष्मशरीर में यह दो प्रकार का निमित्तपना है। उसका

निमित्त है तैजस शरीर और कार्माण शरीर। तैजस शरीर के निमित्त से तो स्थूल शरीर में तेज आता है और कार्माणशरीर के निमित्त से जीव की भूमिका में राग द्वेष आदि विकार उत्पन्न होते हैं। सो यह दोनों ही प्रकार के सूक्ष्म शरीर मर जाने पर भी साथ जाते हैं और स्थूलशरीर यहीं पड़ा रह जाता है।

भैया ! मैं अकेला हूँ, देहांतर को प्राप्त करता हूँ और अकेले ही देह का त्याग करता हूँ। और जितने भी सुख-दुःख होता है, यह जीव उन सबको भी अकेला होता है। सो पर की ओर की दृष्टि को त्यागकर अपने आपके शरीर में उन्मुख होकर यह मैं अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ। देखो यह विग्रह गति में जीव जब होता है तब यह जीव स्थूल शरीर से तो रहित है पर सूक्ष्म शरीर से समवेत है। और ऐसी स्थिति इस जीव की अधिक से अधिक तीन समय तक होती है। चौथे समय में नई देह अवश्य प्राप्त कर लेता है। ऐसा नहीं है कि यह जीव कई दिन तक घूमता फिरता हो अपने जन्म को ढूँढने के लिए, ऐसा नहीं है। अधिक से अधिक तीन समय की स्थिति है और जहाँ पैदा होता है उस ओर ही जीव मरने के बाद जाता है। यह नहीं है कि मरने के बाद कुछ थोड़ा डोल-डाल ले, फिर जन्म-स्थान पर पहुंचे।

जैसे कभी-कभी कोई साधु चौमासे भर भी रहे और चौमासे के बाद भी अगर महीने दो महीने रहता है तो एक रात उस जगह से कहीं चला गया और आहार लेने फिर वहीं का वहीं आ गया। कहे कि चौमास खत्म हो गया और रीति अदा कर लिया और फिर वहीं का वहीं आ गया तो भाई तुमने रीति तो अदा कर ली मगर उस आत्मा में तो नहीं परिवर्तन कर दिया उसका वही राग है, वही परिचय है, और उसी राग और परिचय के कारण अपने में क्षोभ कर रहे हैं। सो ऐसा नहीं है कि वह जीव डोलता फिरे कोई बहाना करे कि चलो पंगत कर दें, तेरही कर दें तो यह जीव जन्म के स्थान पर पहुंच जाय — ऐसा कुछ नहीं है। वह तो मरने के बाद ही तुरन्त पैदा हो गया। दो तीन समय की क्या गिनती है ?

जैसे आंख खोलते हैं और पलक गिरा कर आंख बन्द कर लेते हैं। तो इसमें कोई देर नहीं लगती है। पलक को कोई देर से भी नहीं गिरा सकता है कि चलो धीरे-धीरे पलकों को गिराये। जब पलक गिराते हैं तो तुरन्त गिर जाते हैं। उस एक पलक के पतन में अनगिनत समय लग जाते हैं, कोई गिनती नहीं, जितना कोई गिन सके, नहीं, उससे भी अधिक बढ़कर जो असंख्यात का प्रमाण कहा जाता है उसके बराबर। सो तीन समय तक ही यह जीव बीच में विग्रहगति में रहता है और चौथे समय में तो अवश्य ही जन्म होने की जगह में पहुंच जाता है। तो सर्वत्र यह जीव अकेला है। जब यह देह है तब यह जीव अकेला है। जब इस देह को छोड़कर चले तब भी अकेला है जब सुख साधन हैं तब भी अकेला है और जब उपसर्ग है सुख साधन नहीं है तब भी यह जीव अकेला ही जन्म मरण करता है। इसका कोई दूसरा सहाय नहीं। यह विडम्बना क्यों हो रही है कि इस जीव को अपने एकाकी स्वरूप का पता नहीं है। यदि उस अपने एकत्वस्वरूप का पता लगाये, मिथ्यात्व को हटाये तो यह जीव अपने आप अपने में ही सुखी हो सकता है।

वियोगयोगदुःखादौ किञ्चिन्मित्रं न तत्त्वतः।

स्वाविष्टः स्वस्य मित्रं स्वः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३-१६॥

अर्थ- वियोग-संयोग दुःख आदि में कोई भी मेरा मित्र नहीं है परन्तु वास्तव में निज आत्मा में लीन हुआ मैं ही स्व स्व का मित्र हूँ इसलिये स्व के अर्थ सुखी होऊँ।

जब वियोग होता हो, जब संयोग होता हो, जब कोई संकट आते हों तब भी वास्तव में इस जीव का कोई दूसरा मित्र नहीं है। किन्तु अपना मित्र कौन है ? अपने आपकी आत्मा में बसा हुआ यह जीव ही अपना मित्र है सो कुमित्र की प्रीति छोड़ो और निज मित्र का आदर करो। निज मित्र है अपना ज्ञान जो सदा सीधी शिक्षा देगा, वह ज्ञान है अपना मित्र। सो अपने अविनाशी स्वतः सिद्ध ज्ञानमात्र पर दृष्टि दो। ज्ञान ही असली मित्र है। बुरी परिस्थिति में जब विपत्ति सिर पर आ जाती है तो ऐसी परिस्थिति में ज्ञान ही इस जीव को संकटों से बचाता है। संकट दुनियाँ में क्या होते हैं ? केवल मान लेने के तो संकट हैं। जैसे परिवार का वियोग हो गया, धन की हानि हो गयी, कोई दूसरे पुरुष ने मेरा ही लक्ष्य करके गाली दे दिया, इन्हीं को ही लोग विपत्ति मानते हैं। सो मानो, परन्तु विपत्तियों से बचने का उपाय मात्र सम्यग्ज्ञान है।

भैया ! प्रत्येक अवस्था में चाहे वह सुख संपदा का साधन हो और चाहे विपत्ति विडम्बना का साधन ही पर हर एक स्थिति में यह जीव यदि अपने आपके सत्यस्वरूप का ध्यान करेगा तो उसके सुखी होने में कोई बाधा नहीं डाल सकता। हम अपने आप ही अपने ही ऐबों के कारण दुःखी हो रहे हैं, नहीं तो दुःख का काम क्या है ? यह मैं हूँ, ठीक हूँ, इसमें क्या दुःखों का काम है ? सो ऐसा एकाकीपना विचार कर आत्मा के अद्वैतपने की बात जानकर भय छोड़ दें। उससे क्या होगा कि उसका जीवन निष्पाप होगा। फिर उसका कोई साथी संगती होगा कि नहीं होगा ? अरे तू भला तो जग भला और तू भला नहीं तो तेरे लिए जग भला नहीं है। सो सर्व चिन्ता छोड़ मात्र अपने आपको ही जानो और अपने आप में ही रमकर अपने आप स्वयं सुखी होओ।

देखो भैया ! पर की आशायें करो तो भी क्या कोई सहायक बन जावेगा। तुम तो सर्वत्र अकेले ही हो। जिस समय किसी पदार्थ का वियोग होता है उस समय कोई सहायक नहीं होता और जब कोई संयोग होता है तो संयोग के समय में भी वास्तव में कोई मित्र नहीं होता। अब भी अपनी कल्पनाओं से अपना-अपना अनुभव होता है। कोई दुःख आ पड़े तो उस दुःख में भी कोई सहाय नहीं होता। सर्वत्र केवल अपना-अपना सुख-दुःख परिणमन भोगा जाता है। तो वास्तव में मेरा मित्र कोई नहीं है। मुझे ही बाहर की भेदबुद्धि हटाकर अपने आपके अभेद चैतन्यरस में लीनता हो तो मैं खुद ही मित्र हूँ। इस स्थिति में ही कर्म झड़ते हैं। जैसे कोई धोती गीली है सूखने के लिए डाल दिया तो वह गिर पड़ी तो उसमें धूल चिपट जाती है। जब कोई आदमी उसे उठाकर उस धूल को छुटाने लगता है तो विवेकी पुरुष मना कर देता है कि मत छुटावो। ऐसे ही सूखने के लिए डाल दो। जब सूख जायगी तब जरासा झिटकने

से छूट जायगी। और गीली धोती में अगर छुटाया जाय तो छूटने के बजाय चिपट जायगी और सूख जाने पर झिटकने से नहीं छूटेगी।

इसी तरह आत्मा कषायों से गीली है सो इसके साथ कर्मों का जमाव है, अगर कर्मों से हटना है तो क्या उपाय करो कि आत्मा को रूखा कर दो याने कषाय आत्मा में न रहने दो, मिथ्यात्व न रहने दो। जो अपने को रूखा कर देंगे उनके कर्म यों-ही खत्म हो जावेंगे। तो रूखा तब होगा, जब यह आत्मा कषायरहित जिन चैतन्यस्वभाव में उपयोग देगा। इससे कषायों का गीलापन मिट जाता है और इस ही दृष्टि के प्रसाद से भव-भव के बंधे हुए सब कर्म भी खिर जाते हैं। इस कारण से अपना मित्र केवल आत्मा ही है जो आत्मा अपने आपके उन्मुख हो रहा है वह आत्मा ही अपना मित्र है। सो उस ज्ञायकस्वभाव आत्मतत्त्व में स्थिर होकर अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ।

यदन्येषां कृते चेष्टे एकौ भुञ्जे हि तत्फलम्।

स्वस्मै तत्रापि चेष्टासीत् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-१७॥

अर्थ- अन्य प्राणियों के लिये मैं जो चेष्टा करता हूँ निश्चय से उसका फल मैं ही भोगता हूँ क्योंकि वहाँ भी चेष्टा मेरे लिये ही थी इसलिये अन्य के विकल्प को छोड़कर मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

मैं जो दूसरे प्राणियों के लिए चेष्टा कर रहा हूँ सो उस चेष्टा का फल केवल मैं ही अकेले भोगता हूँ, मैं दूसरे के लिए क्या करता हूँ? दूसरों का मैं कोई काम नहीं करता। न उनके हाथ छूता, न पैर लगाता, न अन्य कोई काम करता, केवल दूसरों का लक्ष्य बनाकर अपने विकल्प करता हूँ। मैं विकल्पों के सिवाय अन्य कुछ काम नहीं करता। तो जो विकल्प मैंने दूसरों के बनाए हैं उन विकल्पों का फल केवल मैं ही अकेले भोगूंगा। यह तो मैं एक चेतन सत् हूँ और परिणमता रहता हूँ। सो मेरा परिणमना इस प्रकार से है कि उपाधि की सन्नद्धि नहीं होती तो शुद्ध चेतनात्मक परिणमूंगा और उपादान सामने हो तो मैं विकल्पात्मक परिणमूंगा, चाहे विकल्परूप परिणमूं चाहे निर्विकल्परूप परिणमूं पर चैतन्यात्मक ही मेरा परिणमन होगा। सो दूसरों के लिए जो मेरी चेष्टा है वह विकल्प रूप चेष्टा है। उस विकल्प रूप चेष्टा का फल केवल यह मैं ही अकेला भोगता हूँ नरक जाने जैसा तो खुद ने परिणाम किया तो क्या नरक कोई और दूसरा जायगा। मायाचार के जिन्दगीभर परिणाम रखा अब उसके फल में क्या कोई दूसरा प्रवेश करेगा? उसी को ही तिर्यज्य होना होगा और कोई व्रत तप संयम करे और शुद्ध प्रवृत्ति से चले तो उसका फल वही अकेले भोगेगा, कोई दूसरा उसका फल नहीं भोग सकता। सो यह तो केवल भ्रम की बात है। जो कोई यह सोचे कि मैंने तुम्हारे लिए क्या-क्या किया? तुम्हारी, लोगों की व्यवस्था के साधन जुटाये, अमुक-अमुक दुकान इत्यादि के साधन जुटाये, मैंने तुम्हारे लिए क्या-क्या किया? सोचते रहे, पर उन्होंने कुछ नहीं किया। वहाँ पर जो कुछ किया वह अपने लिए किया। हर जगह जो कुछ कोई करता है वह अपने ही लिए करता है दूसरों के लिए कुछ नहीं करता है।

आप घर में रहते हैं, सोचते तो यह हैं कि मैं लड़कों के लिए यह ठीक व्यवस्था बनाता हूँ, पर आप लड़कों के लिए कुछ नहीं करते, वहाँ भी आप जो कुछ कर रहे हैं वह अपने लिए कर रहे हैं। यह तो सोचना भ्रम है कि मैं लड़कों के लिए कुछ कर रहा हूँ। लड़के का आश्रय किया। उसको विषय बनाया और अपने में विकल्प बनाया। यह जीव हर हालत में अकेला है। जैसे लोग समझते हैं कि यह बड़ा घराना है, यह घर बड़ा है। अरे वे तो बिल्कुल अकेले ही हैं और वे बड़े झंझटों में पड़े हुए हैं, वे तो क्षमाके पात्र हैं। हैं तो कुछ नहीं मगर उपयोग में कुछ बसाकर हैरान हो रहे हैं, परेशान हो रहे हैं, शल्य बढ़ा रहे हैं। वे तो दया के पात्र हैं। तो जितनी भी मेरी चेष्टायें आज तक हुयीं उनमें ख्याल तो यह रखवा कि स्त्री के लिए यह कर रहा हूँ, पुत्रों के लिए यह कर रहा हूँ, समाज के लिए यह करता हूँ, मगर कहीं भी यह दूसरे के लिए कुछ नहीं करता। जो कुछ किया सो अपने लिए किया।

भैया! कोई सा काम देख तो प्रत्येक परिणामों का फल केवल अपने आपको मिलता है इस आत्मा के स्वरूप पर नजर करके देखो केवल यह आत्मतत्त्व शुद्ध जाननस्वरूप है। परिवार के लिए ही अपना शरीर लग गया पर उसका फल अपने आपको ही मिलता है। बाल्मीकि ऋषि की कथा है कि एक जंगल में रहते थे और डाकू का काम करते थे। एक बार एक साधु वहाँ से निकला तो उस साधु को भी बाल्मीकि ने पकड़ लिया और कहा कि कहां जाता है? जो कुछ हो रखो, तुझे पता नहीं कि यहां बाल्मीकि रहता है। कमण्डल डंडा धरा लिया। साधु कहता है कि भैया कमण्डल डंडा तू ले जा पर घर से एक बात पूछकर तो आ। बाल्मीकि बोले क्या? साधु बोला यह पूछकर आओ कि हम जितना अन्याय करते हैं, मुसाफिरों को लूटते हैं तो उसमें जो हमें पाप लगते हैं कोई हमसे उन पापों को बांट लेगा क्या? केवल इतनी बात पूछ करके आओ और जो कुछ उत्तर वे दें हमें सुनाना। बाल्मीकि घर गये, बात पूछने के लिए सो स्त्री से पूछा, मां से पूछा और जो-जो भी था सबसे पूछा लेकिन पाप की बात इतनी खराब लगती है कि किसी को यह कहने में भी डर लगता है कि तुम्हारा पाप मैंने लिया।

एक घटना है गुरुजी के बारे में। पहिले वे बड़े पंडित जी कहलाते थे। उस समय ७वीं प्रतिमा रही होगी तो जिस धर्मशाला में ये रहते थे उसी में एक भाय जी रहते थे। तो वे भाय जी एक दिन उपवास करें और एक दिन भोजन करें, मगर जिस दिन भोजन लेते पूरा वह एक दिन बनाने खाने में लगता था। वह धीरे धीरे खाते थे। कहीं सामायिक करके खा रहे हैं कभी पहिले खा रहे हैं। मगर उनका नियम था कि हरा साग न छौंकना सो साग बनाकर रख लिया और अब बाट हेरे कि कोई अच्छा आदमी मिल जाय तो उसके हाथ से साग छौंकालें। तो बड़े पंडित जी इतने में मंदिर से धर्मशाला आये तो भाय जी को दिख गये। भाय जी बोले पंडित जी साग छौंक दो। गुरुजी बोले तुम क्यों नहीं छौंकते, कहा हमारा त्याग है। पंडित जी ने कहा कि छौंक तो दें मगर हम यह कहते हुए छौंकेंगे कि इस छौंकने में जो पाप लगे वह भायजी को लगेगा। तो भाय जी कहने लगे वाह तुम्हारे छौंकवाने से फायदा ही क्या जो पाप लगे। भाय जी बोले हमें नहीं छौंकवाना है, हम किसी और को दूँद लेंगे। पंडित जी बोले अच्छा लाओ छौंक देंगे। साग छौंका तो यह भी बोल दिया कि जो पाप लगे सो भाय जी पर लगे, सो भाय जी उछलकर दौड़ पड़े, बोले तो मेरी प्रतिज्ञा तोड़ दी है।

सुख यहाँ द्वितीय भाग

भैया ! सोचो तो जरा कहने से पाप नहीं लगता करने से लगता है। मगर पाप का नाम इतना बुरा है कि कोई आदमी अपने से यह नहीं कह सकता कि तुम्हारा पाप मैंने लिया। किसी को यह हिम्मत नहीं कि कहे कि तुम्हारा पाप हमने लिया। सब घबड़ाते हैं कि यह पाप हमीं पर लग जायगा। सो बाल्मीकि ने अपने घर में सबसे पूछा कि हम जो अन्याय करते हैं, पाप करते हैं तो यह पाप तुम बांट लोगे? तो उस फैमिली के सब लोगों ने मना कर दिया कि पाप कैसे बाँटेगा? पाप तो जो करता है उसके ही सिर रहता है। इतनी बात सुनकर बाल्मीकि जी को तो ज्ञान जग गया। अहो किसी का साथी कोई दूसरा नहीं है। सब अपने-अपने ही कर्मों को बाँधते हैं और अपने ही कर्मों के फल को भोगते हैं। हमने अपनी जिन्दगी में अब तक कितनों को ही कष्ट दिया, कितनों को ही लूटा, कितनों को ही दुःखी किया। बाल्मीकि जी को बड़ा पछतावा रहा, बड़े-बड़े प्रायश्चित के मनसूबे बाँधते हुए साधु के पास गये। साधु से बोले, हमें आपका कमण्डल डंडा नहीं लेना है और न कोई चीज लूटना है। बस इतना यह निर्णय है कि हमने अपने आप ही सारे पाप बना लिए सो बोले कि अब मेरा ठगाई का त्याग है, लूटने का त्याग है और बाह्य वृत्ति भी कोई नहीं करेंगे सिवाय भगवत् भक्ति के सो उन्होंने संन्यास का व्रत लिया और सब तरह के विकल्पों को तोड़कर वे अपने भावों के अनुसार समाधि में लीन हो गये, यत्न किए और इतने बड़े ऋषि माने गये कि आज भी बहुत से लौकिकजन उनको बाल्मीकि ऋषि के नाम से कहते हैं।

बाल्मीकि जी ने सबसे पहिले रामायण बनायी थी, जिसके बाद फिर तुलसी दास जी ने बनायी। मगर रामायण की बात ऐसी है कि प्रारम्भ में तो जैनसिद्धान्त से रामायण बनी जिसका नाम है स्वयम्भू कविकृत रामायण और वह प्राकृत भाषा में है। उसमें ५ छंद हैं और १ दोहा है फिर ५ प्राकृत छन्द एक दोहा है और तुलसीदास जी ने अंत में यह लिखा कि मैंने स्वयंभू के प्रसन्न से यह रामायण बनायी। स्वयंभू कवि की कृति को इन्होंने देखा और ढांचा समझमें आ गया-५ छंद और एक दोहा। खैर तो बाल्मीकि अंत में यही निर्णय करके कि मेरा सहाय कोई नहीं है, साधु हो गये। अपनी ही बात देख लो, अपना भी सहायक कोई दूसरा नहीं है। हर जगह हम मात्र अपनी चेष्टा करते हैं। दूसरों का कुछ नहीं करते हैं। दूसरों का तो केवल ख्याल ही बना है मगर करते अपना ही काम हैं। सो ऐसा जानकर कि हम दूसरों का कुछ नहीं करते हैं तो दूसरों का ख्याल ही करके उनका विकल्प क्यों करें? उस ओर से मुख मोड़ लो तो निर्विकल्प स्थिति को पावोगे और उसमें जो आनन्द आयेगा वह कहीं नहीं आयेगा सो अपने आपके स्वरूप में रत होकर अपने आप ही सुखी हो सकता हूँ।

कारणं सर्वदुःखानां स्वज्ञानाभाव एव हि।

येनैको वञ्चितस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-१८॥

अर्थ— समस्त दुःखों का मूल कारण निश्चय से अपने आत्मज्ञान का अभाव ही है जिससे एक अद्वैत होता हुआ भी मैं ठगाया गया इस कारण अब मैं अपने को जानकर अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

जगत में जितने भी दुःख हैं उन सब दुःखों का कारण आत्मा के ज्ञान का अभाव है। आत्मा किस चीज से बना है ? इसमें क्या भरा है? यह अनुभव करने से ज्ञात होता है कि आत्मा और कुछ नहीं बल्कि जो जानन है, जो आनन्द है इस भाव का नाम ही आत्मा है। यह ज्ञान और आनन्द ये दोनों भाव निराधार नहीं है। इन दोनों भावों का जो आधार है वह ही आत्मा है, आत्मा तो आनन्दमय है। इसके स्वरूप में ही दुःख नहीं है। इस कारण आनन्द ब्रह्मवाद में कहा है कि ब्रह्म का स्वरूप आनन्द है और आत्मा का स्वरूप आनन्द है। इस आत्मा में तो दुःख है ही नहीं।

यह प्राणी अपने ही स्वरूप से चिगता है और स्वयं ही कल्पनायें बनाकर दुःखी हो जाता है। दुःख बनाने से होते हैं, पर आनन्द बनाने से नहीं होता है। फर्क इतना ही है कि आनन्द तो आत्मा में स्वयमेव है और दुःख बनाने से होते हैं। अभी देखो घर के जिन दो चार मोही जीवों में फंसे हुए हो। वे जीव आपके कुछ हैं क्या? अरे ये किसी गति से आए हैं और किसी गति को चले जायेंगे। फिर और भी सोचो कि ये चार जीव न हों, इनके बदले में और कोई चार जीव होते तो क्या उनसे मोह न करने लगते ? ये तेरे हैं? इनसे हमारा यह सम्बन्ध है ऐसा मोह करने की इस जीव में आदत हो गयी है। सो जो आता है उससे ही मोह करते हैं। जैसे ये जीव हैं तैसे ही सब जीव हैं, कोई वस्तुतः विशेष नहीं। यदि यह माना जाता है कि वे मेरे हैं तो यह बड़ा अपराध है। सब दुःखों का कारण आत्मा के ज्ञान का अभाव है।

मैं कैसा हूँ? मेरा सही स्वरूप क्या है ? इसका जब पता नहीं रहता है तो बाहर में ही दृष्टि जाती है, बाहर में ही सम्बन्ध मानते हैं। सो इस मान्यता से भी जीव दुःखी होता है। इसी ज्ञान के अभाव के कारण यह मैं आत्मा विचित्र होता हूँ। सो हम जो पग-पग पर ठोकर खा रहे हैं, वह ठोकर अज्ञान से ही आ रही है। किसी से सम्बन्ध कुछ नहीं रचमात्र भी नहीं, यह बात भीतर में ज्ञान में आये ओर भीतर के स्वरूपमें ही दृष्टि होकर ऐसा ज्ञान आवे कि सारे जीव स्वतंत्र हैं, किसी का किसी से कुछ सम्बन्ध नहीं है, मैं भी अपने स्वरूप में स्वतंत्र हूँ। मैं हूँ, बस इतना ही मेरा काम है। किसी से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। परपदार्थ हैं और परिणमते हैं इतना ही मात्र वस्तु का रूप है। मैं हूँ और बदलता रहता हूँ। मेरा बदलने वाला और कोई दूसरा नहीं है। वे स्वयं ही बदल रहे हैं। भले ही कोई दूसरा निमित्त हो, मगर सब हैं और स्वयं बदलते रहते हैं। इसी प्रकार मैं हूँ और बदलता रहता हूँ।

कभी-कभी गुस्से में किसी प्रकार का विकार आ गया, विकल्प आ गया तो यह पर को निमित्तमात्र पाकर खुद आ जाते हैं और इस परिणमन में मैं खुद पराधीन हूँ। मैं देखता हूँ दूसरे को पराधीन, पर हम स्वयं पराधीन हो जाते हैं। ऐसा निर्णय सर्वप्रथम रखो कि अगर कोई दुःख आते हैं तो समझो कि मेरी ही कोई गलती है जिससे दुःख हुआ है, दूसरे की गलती से तुझे दुःख नहीं होता है। अगर कोई मनुष्य किसी बात के बिना भी पीटने लगता है तो उस पर भी समझो कि हमारी ही कोई गलती है। अपने दिल में एक यह बात भी उतार लो कि जब कभी भी दुःख आते हैं तो समझो कि हमारी ही कोई गलती है। जिसके कारण दुःख आये हैं यह बात बिल्कुल पक्की है, निर्णीत है। इसलिए कहा

जा रहा है कि यह बात लेकर निर्णय में चलो। फिर देखो कि कितना प्रकाश मिलता है और कितनी शांति मिलती है? किसी भी समय में दुःखी हूँ तो अपनी ही गलती से दुःखी हूँ, कितनी ही बात तो स्पष्ट हो जाती है, निर्णय के लिए एक दो बातें और लो, हम बड़े आचरण से चलते हैं, बड़े शुद्ध न्याय और व्यवहार से रहते हैं फिर भी कुटुम्ब या पड़ोस के लोग मुझे सताते हैं, बदनामी करते हैं, निन्दा करते हैं, उससे मुझे दुःख होता है। यहां कोई यह कहे कि अरे बतलावो इसमें हमारी क्या गलती है? इस तरह न्याय से चलते हैं, सबका भला सोचते हैं फिर सताने वाले बहुत हैं, निन्दा करने वाले बहुत हैं। अरे इसमें भी तुम्हारी ही कोई गलती है बिन तुम्हारी गलती के दुःख नहीं हो सकते हैं। अपनी दृष्टि बिगाड़ रखी है यही सबसे बड़ी गलती है।

कोई गाली दे रहा है, कोई निन्दा कर रहा है तो वह अपनी ही तो चेष्टा कर रहा है। अपने ही कषायों से अपने परिणाम हो रहे हैं। भाषावर्गणायें अपने ही रूप तो चल रही हैं। उनसे तेरा क्या नाता है? उनके कारण तेरे में कोई परिणति होती है क्या? उनसे कोई सम्बन्ध तो नहीं है। स्वयं स्वतंत्र पदार्थ हैं। फिर भी इतनी गलती कर डाली। एक नहीं दो गलतियां कर डालीं। पहली गलती तो यह कर डाली कि मुझको कहा, उसने मुझको जो माना इस पर्याय में सो यह तो मैं नहीं हूँ। मैं तो चिदानन्द मात्र हूँ। वह तो मेरी निगाह में है ही नहीं, उस दूसरे की निगाह में है। मेरी निगाह में तो यह असमान जातीय पर्याय है, मुझको कहा, इसने कहा। अरे अपने में वह है ही नहीं। बाहरी तत्व में आत्मा मान लिया पहला अज्ञान तो यह है और दूसरा अज्ञान यह है कि इसने मुझको दुःख दिया यह भाव बनाया। अरे इस जगत के जीव अपना ही काम कर पाते हैं मेरा कुछ नहीं कर पाते हैं। मैं स्वयं कल्पनायें करके दुःखी होता हूँ।

भय्या! जरा सोचो दो बच्चे लगभग २० हाथ की दूरी पर खड़े हैं। एक बच्चा दूसरे को देखकर अंगुली मटकाता है तो दूसरा बच्चा उसको देखकर दुःखी होता है। अब हमें यह बतलावो कि २० हाथ की दूरी पर खड़े हुए बच्चे के अंगुली मटकाने से क्या दूसरे बच्चे में कुछ घुस गया। अंगुली मटकाने वाला अपना काम कर रहा है, और चिड़ने वाला अपना काम कर रहा है। एक दूसरे का कोई कुछ नहीं कर रहा है, पर वह अपना ख्याल बनाकर दुःखी होता है। उसी रास्ते में दो सज्जन गुजरे। एक तो चिढ़ाने वाले को डांटता है, अरे तू व्यर्थ में क्यों चिढ़ा रहा है? यदि वह यों जवाब दे कि यह तो मेरी चीज है, यह तो मेरी अंगुली है, मैं कैसे भी मटकाऊं तो क्या जवाब देगा? दूसरा सज्जन चिढ़ने वाले को समझाये कि अरे क्यों चिढ़ता है? वह अपनी ही तो जीभ मटकाता है अपनी ही तो अंगुली मटकाता है। अगर उसकी समझ में आ जाय तो समझने वाले को भी कुशल और समझाने वाले को भी कुशल।

सो भैया! यही बात जीवन में उतार लो कि मुझे दुःख होते हैं तो दूसरों के द्वारा नहीं होते हैं मेरी ही गलती से होते हैं। दूसरों से मुझे दुःख हो जाय यह कभी नहीं हो सकता है। दूसरे जो करेंगे वे अपने लिए करेंगे मेरे लिए कोई चेष्टा न करेंगे। मैं क्या हूँ? मेरा स्वरूप क्या है इसका यथार्थ ज्ञान होने से ही सब दुःख समाप्त हो जाते हैं। मुझे दुःखी करने वाला अन्य कोई नहीं है; अज्ञान से ही मैं स्वयं दुःखी

हो रहा हूँ, यहाँ कोई शरण नहीं है। अगर कोई दया भी करता है। दूसरों के लिए दया नहीं करता है। आपका परिणमन हुआ आपने किया और मेरा परिणमन हुआ मैंने किया। कोई किसी का कुछ नहीं करता।

एक जज था। कचहरी जा रहा था। रास्ते में एक सूकर कीचड़ में फंसा था। उस जज से न देखा गया। झट मोटर से उतरकर उस सूकर को अपने हाथों से पकड़कर निकाल दिया। सिपाहियों ने बहुत कहा— हज़ूर हम निकाले देते हैं आप रहने दें, पर जज साहब नहीं माने। जज के कपड़ों में कीचड़ के छींटे लग गये। समय ज्यादा न था। उसी सूरत में जज साहब अदालत पहुंचे, अदालत किया। कुछ लोग कहते हैं कि आज जज साहब की क्या हालत हो गयी है ? तो सिपाही कहते हैं कि आपको पता नहीं है, यह जज साहब बड़े दयालु हैं। एक सूकर कीचड़ में फंसा हुआ था उसको निकाल दिया। इतने में जज साहब कहते हैं कि भैया ! मैंने सूकर पर कोई दया नहीं की, मैंने तो उस समय भी अपने ऊपर ही दया की। क्योंकि देखो यदि मैं सूकर को न निकालता और अदालत में बैठा होता तो जब इसकी याद आती तो दुःख होता कि नहीं ? दुःख बहुत होता, पर मैंने उसे निकाल दिया है अब सारा दुःख दूर हो गया है। तो मैंने अपना दुःख मिटाने के लिए यह काम किया। मैंने सूकर पर कोई दया नहीं की। हर जगह यही बात समझ लो। वस्तुस्वरूप की बात समझ लो। व्यवहार की बात व्यवहार में होती है। पर यथार्थ में मैं क्या हूँ इसको तो समझ लो।

अज्ञान ही यथार्थ हिंसा है। अपने परिणाम में राग द्वेष करना, मोह करना हिंसा करना ही है। मोह करनेसे जीव अपनी ही हिंसा करते हैं। दूसरे की तो वे हिंसा ही नहीं कर सकते हैं। परमार्थस्वरूप से देखो तो वे अपनी ही हिंसा करते हैं। दूसरों की हिंसा नहीं कर सकते हैं। मेरा स्वरूप क्या है ? ज्ञान और आनन्द ही मेरा स्वरूप है। ज्ञान न होने से मैं ठगाया गया हूँ। अब ज्ञानी होकर मैं अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ ऐसी भावना अपने में हो।

असंकृतेर्हि वस्तूनां स्वेनैव बद्धता।

स्वेक्षणे बद्धता नातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-१६॥

अर्थ— पदार्थों की असंकरता होने से निश्चय से स्व का स्व से ही बन्धन है परन्तु निज आत्मा के दर्शन में बन्धन नहीं है इसलिये मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

वस्तु का साकर्म कभी नहीं होता अर्थात् कोई पदार्थ में तन्मय हो जाय ऐसा नहीं होता है। जैसे एक गिलास में पानी और दूध बराबर-बराबर डाल दिये जायें और गिलास में फेंक दिया जाय, फिर भी पानी के स्वरूप में पानी है और दूध के स्वरूप में दूध। उस मिले हुए दूध और पानी में दूध अलग है और पानी अलग है यंत्रों से अथवा गर्म करके देखें तो दूध अलग और पानी अलग है। उस मिली हुई हालत पर भी दूध में पानी नहीं गया और पानी में दूध नहीं गया। भौतिक पुद्गल शरीर और यह जीव एक ऐसा क्षेत्रावगाह हो रहा है कि दोनों अवस्था में पराधीन हो गए। अभी आपसे कहें कि अकेले आइए तो नहीं आयेंगे। आप इन पुद्गल परमाणुओं को साथ लेकर आयेंगे। हम इस शरीर को तो नहीं बुला रहे हैं। हम तो आपकी आत्मा को बुला रहे हैं। इस हालत में भी आत्मा है और पुद्गल में

सुख यहाँ द्वितीय भाग

पुद्गल है। समझने में भले ही कठिन लगे। कुछ लोगों को तो दूध और पानी की बात कठिन लग रही होगी। खैर, यह आत्मा अपने स्वरूप में है और शरीर अपने स्वरूप में है। भला वास्तव में जब इस शरीर से भी मेरा बन्धन नहीं है तो अन्य पदार्थों से मेरा बन्धन कैसे होगा?

मेरा शरीर से भी कुछ सम्बन्ध नहीं है। यह तो निमित्तनैमित्तिक बात है। जैसे गैया के गिरावा का बन्धन है तो क्या आपने गैया के गले को गिरमा से बांधा, आपने तो गिरमा को ही गिरमा से बांधा, अगर गैया के गले को बांध दो तो वह मर न जाये। गिरमा को मरोड़ते हैं फिर उस गिरमा से ही गिरमा को बांधते हैं और कहते हैं कि गैया को बांधते हैं। अरे गिरमा के छोर को दूसरे छोर में बांधते हैं। गैया तो ज्यों की त्यों है, गिरमा ने गैया पर आक्रमण नहीं किया। मगर गिरमा का निमित्त पाकर गैया बंधी है। वे तो पुद्गल पुद्गल की चीजें हैं। गैया भी पुद्गल है और गिरमा भी पुद्गल है। मगर आत्मा की बात तो और गहरी है। आत्मा से कर्म क्या बंधते हैं? आत्मा तो अमूर्त है रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि से रहित है।

फिर कर्मों से जीव कैसे बंध गया भैया ! बात यह है कि वस्तुतः भावकर्मों से ही जीव बंधता है। और यहां पुद्गल कर्मों से पुद्गल कर्म बंध जाता है। इसमें परस्पर, निमित्तनैमित्तिक भाव है। यह जीव तो बुरा ही रहा है, इसका उपादान खोटा है, मोह, राग, द्वेष में बंधा है इसलिए भावकर्म का निमित्त कर द्रव्य कर्मों से बंध पाकर यह भी बंध गया। घर की स्त्री हो; पुत्र हो जो भी स्नेह से उन्हें मानता है वह बंध जाता है। स्नेह दिखाने वाले अपनी ही जगह पर हैं, पर ये अपना ही ख्याल बनाकर स्वयं दूसरों के पराधीन बन जाते हैं।

पुराणों में कहते हैं कि राजा जनक के पास एक गृहस्थ पहुंचा। बोला— महाराज मुझे गृहस्थी ने बांध रखा है, कुटुम्ब ने मुझे जकड़ रखा है। कोई ऐसा उपाय तो बताओ कि मैं इस फंसाव से अलग हो जाऊं। राजा जनक ने और कुछ न किया। एक नीम के पेड़ को अकबार में भर लिया और कहते हैं कि अरे ठहरो ठहरो, मुझे इस पेड़ ने पकड़ लिया। पेड़ मुझे छोड़े तब मैं आपको उत्तर दूँ। वह बोला— आपको बुद्धिमान समझकर मैं तो आपसे उपाय पूछने आया, पर आपकी तो साफ बेवकूफी जाहिर होती है। अरे तुमको पेड़ ने पकड़ लिया कि तुमने पेड़ को पकड़ लिया। राजा जनक कहते हैं कि बस यही तो तुम्हारा उत्तर है। अरे तुमने कुटुम्ब को फांस रखा है कि कुटुम्ब ने तुम्हें फांस रखा है।

देखो इतने भैया बैठे हैं। कौन अपनी स्त्री से बंधा है? कौन अपने पुत्रों से फंसा है? केवल ख्याल बनाकर ये स्वयं फंस रहे हैं। अरे वह पर के द्वारा तुम्हारे में उस से मस नहीं हो सकता। तुम्हें कोई दूसरे बांधने वाले नहीं हैं। वस्तुओं का सांकर्य दोष नहीं है कि वस्तु स्वयं मिल जाय, तन्मय हो जाय। तुम्हारा जो बंधन है वह तुम्हारे द्वारा ही बन्धन है। विचित्र कर्मों का उदय है दूसरों की करतूत से बन्धन नहीं। यदि सत्य स्वरूप देखने में आ जाय तो बन्धन नहीं रहता है। अपना सत्य स्वरूप देखने में न आये, बाहर बाहर ही दृष्टि लगी रहे तो अपने ही अपराध का बन्धन है। दूसरों से बन्धन कहाँ, क्लेश कहाँ? सब मेरे ही बन्धन से क्लेश हैं।

भैया ! शांति तो अपने ज्ञानस्वरूप में है। शान्ति के लिए लाख यत्न बाहर में किए जायें, कितने ही पुत्र, परिवार, मित्र जन देख डालें, पर शान्ति कहीं नहीं मिलेगी। अपना बब्बा देख लिया, धन वैभव जोड़ लिया, पुत्र मित्र जोड़ लिये, पर शान्ति उनसे कभी न मिलेगी। चाहे जितना धन वैभव जोड़ लें, चौगुना, अठगुना, दसगुना पर शान्ति उनसे कभी न मिलेगी। शान्ति का सम्बन्ध तो परपदार्थ से है ही नहीं। अगर परपदार्थों से शांति होती तो तीर्थकर और चक्रवर्ती इत्यादि बड़े पुरुष धन वैभव इत्यादि को क्यों न त्याग देते ? धन वैभव से तो बंधन ही हैं, शान्ति तो रंचमात्र भी नहीं है। बन्धन तो मेरी बाह्यदृष्टि से हो रहे हैं। मैं अपने आपको संभालूँ तभी अपने में अपने लिए अपने आप में सुखी हो सकता हूँ। यदि मैं अपने को न सम्भाल सका तो दुःख हो जाते हैं। दुःख करने वाला कोई दूसरा नहीं।

बन्धैकत्वेऽपि देहादेर्भिन्न एव स्वभावतः।

परभिन्नात्मवृत्तिः शं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-२०॥

अर्थ— बन्ध अवस्था से एकत्व होने पर भी स्वभाव से देह आदि पर पदार्थ से भिन्न ही मैं हूँ और परपदार्थ से भिन्न निज आत्मा में वर्तन होना सुख है इसलिये मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

यह शरीर और यह जीव बन्धा है और इस बंध के कारण इन दोनों में एकता भी है परन्तु परमार्थ से इनमें एकता नहीं रहती है। यह जीव अलग नहीं हो पाता, यह देह अलग नहीं हो पाती, फिर भी यह जीव स्वभाव से ही इस देह से भिन्न है। सो इस देह को त्यागकर अपने ज्ञानस्वरूप को देखें तो यह वृत्ति यह काम मेरी शांति को उत्पन्न कर सकता है। बाहर दृष्टि रहने से तो कुछ शांति नहीं मिल सकती है। निमित्त दृष्टि करके इष्ट अनिष्ट माना, सो इस ही से विपदा आती है।

यह एक चौकी है। देखने में लगती है कि यह एक चीज है मगर एक नहीं है। यह चौकी अनन्त पुद्गल परमाणुओं से बनी है। उनका इस प्रकार का प्रचय है कि बीच में अन्तर नहीं मिलता। मगर यह चीज एक नहीं है। एक चीज तो वह होती है जिसका दूसरा टुकड़ा नहीं होता है। क्या एक नये पैसे का आधा हो सकता है ? नहीं हो सकता है ? नहीं हो सकता है। जैसे १ रुपया है वह एक चीज नहीं, वह तो १०० पैसों का समूह है। अगर हिसाब लगाओं और आधा नया पैसा बैठे तो एक नए पैसे का आधा नहीं दिया जा सकता है। यदि उसको कौड़ी मान लो तो एक कौड़ी यूनिट हो गया उसका आधा नहीं किया जा सकता है। जो अविभागी हो उसे एक कहते हैं।

इस चौकी के अनेक टुकड़े कर लो, १० टुकड़े कर लो, ५० कर लो। चौकी अनन्त परमाणुओं की चीज है। इस चौकी के एक-एक परमाणु में भी एक परिणाम में दूसरा परिणाम घुस नहीं गया है तो फिर बतलाओ जीव की तो बात बहुत जुदा है, यह तो भिन्न-भिन्न स्थानों में है। यह एक कैसे हो सकता है ? यह आत्मा इस बंध अवस्था में एक होकर भी देह इत्यादि सबसे पृथक् है। सो सब पदार्थों से भिन्न जो आत्मतत्त्व है उसमें वृत्ति हो तब वह शान्ति का मार्ग पा सकता है। सबसे बड़ा संकट जीव को है तो मोह का संकट है, दूसरा संकट नहीं है बेप्रयोजन, कोई लेना नहीं, देना नहीं, भिन्न-भिन्न जीव हैं, भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, सब अपने-अपने स्वरूप में उत्पाद व्यय कर रहे हैं, किन्तु स्वरूप ध्रुव है। इस

कारण किसी भी पदार्थ का किसी अन्य पदार्थ से जरा भी सम्बन्ध नहीं, फिर भी यह जीव वस्तुस्वरूप के खिलाफ मानता है कि यह मेरा है, इसलिए ही विकल्प बना रहता है। यही इस जीव पर बड़ा संकट है। इससे बढ़कर और कुछ संकट इस जीव पर नहीं।

भैया ! इस निजप्रभु पर ऐसा गजब उपद्रव छाया हुआ है कि मरकर पशु-पक्षी बन जाते हैं, जीव-जन्तु, पेड़-पौधे आदि बन जाते हैं, फिर भी ये जीव मौज मानते हैं, खुशियां मनाते हैं, मोह करते हैं। मरकर अगर पशु बन गये, वृक्ष बन गये तो फिर कि ये पुकारा करेगा कौन तुम्हें पुकारेगा ? इस जीव का शरण है तो केवल भेदविज्ञान है। तुम जो कुछ करते हो, वह अपने लिए करते हो। उसका फल तुम्हें ही भोगना पड़ेगा। मैं जो कुछ करता हूँ वह अपने आप भोगता हूँ। इसके आगे मेरा कुछ कर्तव्य नहीं है कर्तव्य तो यह है कि मेरा जो सबसे निराला रूप है उसका अनुभव करूँ, उसमें ही रमूँ। इसी को कहते हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। यह स्व की वृत्ति ही मेरी शरण है अन्य कोई मेरे लिए शरण नहीं है ऐसा जानकर अपने ज्ञान में लगना चाहिए।

देखो सबसे बड़ा सौभाग्य तो जैनदर्शन को पाना है जिसमें वस्तु के स्वरूप को युक्तियों से सुसिद्ध किया है और उसका प्रतिवाद न करके भी ऋषिगण यह कहते हैं कि आप के अनुभव में आये तो मानना। हम अपने अनुभव में उतारें कि प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है ना, प्रत्येक वस्तु उत्पाद व्यय-ध्रौव्य वाला है ना। पर का चतुष्टय न्यारा-न्यारा है ना। देखो कहीं-कहीं यह कहा गया है कि सारा जगत् ब्रह्म है, एक सत् है। अच्छा यह बताओ कि मनुष्य एक ही तो है। मनुष्यत्व की दृष्टि से देखो तो एक है और भिन्न-भिन्न अनुभव से देखो तो अनेक हैं। इसी तरह चेतन और अचेतन पदार्थ भी एक होंगे। ये सब सत् हैं इस दृष्टि से चेतन अचेतन सब एक हैं। ये बाहर के पुद्गल भी सब एक हैं। भिन्न-भिन्न दृष्टि से वे भिन्न-भिन्न प्रदर्शन हैं। सो अनेक नयों से वस्तु स्वरूप को पहिचानो।

इसके आगे ऊपर चलने का यह भी उपदेश है कि यथार्थज्ञान करके फिर सबको भूल जायें केवल अपने ज्ञानस्वरूप में रमें यही अन्तिम शिक्षा है। बीमार को समय पर योग्य दवा मिलना जरूरी है। इसी तरह इन जीवों में अनेक प्रकार की योग्यता वाले जीव हैं सो सब वर्णन इस जैन धर्म में मिलते हैं। देखो सौभाग्य की बात है कि हमें उत्तम कुल मिला है जिसमें सप्त व्यसन की परम्परा नहीं और ऐसे व्रत विधान परम्परा हैं जो एक पवित्र भाव को लिए हुए हैं। अनेक योग्य वृत्तियां घर के परिवार में स्वतः हैं। अब मोह में दिल लगाकर सब सुविधाओं को बिगाड़ देना तो ठीक नहीं। अपने आनन्द के लिए अपने आप पर ही अपनी जिम्मेदारी समझना चाहिए।

देहोदेव यदा भिन्नः कथं बन्धुभिरेकता।

विभक्तस्य सदा सौख्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-२१॥

अर्थ— जब मैं देह आदि से भी भिन्न हूँ तब बन्धुजनों से मेरी एकता कैसे हो सकती है ? अर्थात् किसी भी परवस्तु से मेरा एकपन नहीं हो सकता सर्व से भिन्न स्व के द्रष्टा के सदा निराकुल सौख्य होता है इस कारण मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

यह मैं आत्मा देह से भी भिन्न हूँ, यह बात अनुभव से मालूम पड़ती है कि मैं शरीर से न्यारा हूँ फिर और बन्धुओं के साथ एकता कहां से हो ? जब शरीर ही मेरा साथी नहीं है तब और बन्धुओं के, कुटुम्ब, परिवार के साथ एकत्व कैसे हो सकता है ? ऐसा मानो कि मैं सबसे न्यारा हूँ । अपने आपको न्यारा देखने में ही आनन्द है । जिसने दूसरों से मिला हुआ अपने को देखा उसे आकुलतायें ही होती हैं । अभी ये बच्चे लोग सुखी नजर आते हैं, दौड़ते हैं, फिरते हैं, खेलते-कूदते हैं । इसलिए ये सुखी नजर आते हैं कि इनके किसी प्रकार का मोह नहीं लग पाता है । उनके स्त्री नहीं होती सो स्वतन्त्र हैं इसलिए वे सुखी नजर आते हैं । जिस दिन विवाह हो गया उसके दूसरे दिन से ही वे दुःखी दिख पड़ेंगे । और संग बढ़ा, पुत्र बढ़े, उनसे मोह किया, अब दुःखों का क्या ठिकाना ? देखो बच्चों से भी मिलता क्या है ? बच्चे बड़े हो गये, विवाहित हो गये ? स्त्री में लीन हो गये तो पिता, मां की अवहेलना करते हैं । वे बैठे-बैठे ही मन में कुढ़ रहे हैं, अपनी स्त्री से स्नेह करते हैं, अपने पुत्रों से स्नेह करते हैं और मां-बाप का अपमान करते हैं, मां-बाप दुःखी होते हैं और दुःख क्या होता है बतलाओ ? पुरुष अपनी स्त्री का पक्ष लेता है और मां का दोष बतलाता है । किसी काम से सास-बहू में झगड़ा हो गया । पति ने स्त्री का पक्ष लिया और मां का दोष बतलाता है । तो बताओ मां को कितना दुःख होगा ? मां सोचेगी कि यह मेरा बच्चा है, मैंने इसे पाला-पोषा है, खिलाया-पिलाया है, पर आज मुझे ही दोषी बता रहा है । स्त्री का पक्ष ले रहा है और मेरा निरादर कर रहा है । इससे तो मां का दुःख और बढ़ता है । ये मोही जन अपने बच्चों से ही मोह करते हैं, २४ घण्टे उन्हीं के पीछे पड़े रहते हैं और दुःख प्राप्त किया करते हैं ।

अरे नीति की बात है कि पुत्रों में ही रत रहने से, स्त्री में लीन रहने से, राग, द्वेष, मोह बढ़ाने से तो बरबादी ही है । उनसे मोह हटाने से सब दुःख खत्म हो जायेंगे, सारा भय खत्म हो जायगा । आपके ये बच्चे आपकी इज्जत न रख सकेंगे । वे आपके बच्चे ही आपका अपमान करेंगे, आपकी इज्जत न रख सकेंगे । यदि आपने उन बच्चों से अधिक मोह किया तो वे समझ जावेंगे कि ये मां-बाप मुझे चाहने वाले हैं, मुझ पर फिदा हैं, मुझ पर आसक्त हैं तो फिर वे बच्चे आपकी इज्जत न करेंगे । घर में रहते हुए भी बच्चों से अपने को जितना बाहर बनाओ, बाहर रखो उतनी ही इज्जत रहेगी, उतनी ही विनय रहेगी, उतना ही सत्कार रहेगा । यही तो आनन्द की बात है । मगर भीतर में इस मोह का रखना पाप है । क्योंकि इस मोह का फल केवल अशान्ति है । जब अपना शरीर ही अपना साथी नहीं है तो फिर अन्य कोई अपना साथी कैसे हो सकेगा ? कौन चाहता है कि मैं बूढ़ा बन जाऊं, मगर बूढ़ा बनना ही पड़ता है । यदि जिन्दगी रही तो बूढ़ा होना ही पड़ता है । कौन चाहता है कि आत्मा इस शरीर से निकलकर भाग जाय । कोई बहुत ही अधिक वृद्ध बुढ़िया है वह देखती है कि बच्चों से मुझे दुःख है तो वह भगवान् से प्रार्थना करती है कि हमें वह उठा ले । उठाले के माने मैं मर जाऊं । अगर कोई सांप निकल आवे तो वह पुकारती है कि अरे बेटा दौड़ो, बचाओ । बच्चा दौड़ा आवे और कहे कि तुम तो रात-दिन यह कहती थी कि भगवान् मुझे उठा ले और अब हमें पुकारती है । तो इस शरीर को चाहे जितने दुःख हो

जायें पर मरने की कोई इच्छा नहीं करता है। कितना भी बूढ़ा हो, शरीर से रोगी हो पर वह मरने की चाह नहीं करता है। हां यदि कोई हृष्ट पुष्ट भी हो, और कषायभाव जग जाये तो वह आत्महत्या कर डालता है।

अब यहां देखो जितने भय्या बैठे हैं सब मन से दुःखी नजर आते हैं। खाने पीने की बात सोचो तो महंगे जमाने में भी चार आने में पेट भरा जा सकता है। और क्या चाहिए, रोटी नमक से चार आने में पेट भरा जा सकता है। आर्थिक परिस्थिति से कोई दुखी नहीं है। इसके तो मानसिक दुःख हैं। इसके ये दुःख हैं कुछ नहीं, पर ये विकल्पों से सताये जा रहे हैं। सब मन के राग बनाकर बैठे हैं। अगर ये अपने मन के राग मिटायें तभी ये नीरोग हो सकते हैं। है तो बीमारी दूसरी और दवा दी जाय दूसरी तो यह तो ठीक नहीं होगा। ठंडे का रोग और ठंडी ही दवा दी जाय तो सर्दी तो और बढ़ेगी, सन्निपात और बढ़ेगा। मन में तो राग है और रोगों को बढ़ाने की दवा दी जा रही है तो बताओ कैसे नीरोग हो सकते हैं? देह से भी मेरी एकता नहीं है तब बन्धुओं से एकता कैसे हो ? अरे थोड़ी एकता तो अपने में ले आवो। यदि कोई आदमी मर गया तो उसका नक्शा तो देखा होगा किसी का, वह देह छोड़कर ही तो चला गया ना? अब जो देह बचा उसे लोग मरघट में ले गये, वहां पर वह जला दिया गया। जला देने से सारी देह खाक हो गयी। अपने में भी यह अनुमान करो कि वह मर गया ऐसे ही यह मैं आत्मा भी इस शरीर से चला जाऊंगा। यह शरीर यहां रह जायगा। यह शरीर यहां से मरघट चला जायगा, वहां खाक कर दिया जायगा, खत्म हो जायगा।

भैया ! जो गुस्सा आता है तो इस शरीर को ही आत्मा मान लिया गया है तब गुस्सा आता है और अगर यह जाने कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, शरीर से न्यारा हूँ तो यही विवेक है फिर गुस्से का भी काम नहीं। अगर अपने से बाहर हो जावो तो घमण्ड भी आ जाय। जैसे ऐसा क्यों हो गया ? ऐसा हो जाना चाहिए था, यह सब क्यों नहीं रखा, ये जो घमण्ड आते हैं वे इसी कारण कि शरीर को आत्मा मान रखा है कि यह मैं हूँ, ऐसा सोचना ही महापाप है। सारे पाप इसी कारण होते हैं। खोटी वासनायें, काम वासनायें इत्यादि से दूर रहकर यह सोचें कि मैं इस शरीर से न्यारा, निर्लेप, ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा सोचने से यह वासनायें नहीं रह पाती हैं। वासनायें न रहने से अपने एकत्व की प्रवृत्ति आती है। ऐसा सोचे कि मैं न्यारा हूँ, मैं सबसे जुदा हूँ। तुम्हारा परिवार क्या है ? पुत्र, मित्र, स्त्री इत्यादि ये सब अपनी-अपनी दुनिया चला रहे हैं। इनका कोई कुछ नहीं है, किसी के साथ एकता नहीं है। ऐसी सच बात किसी क्षण ज्ञान में आवे तो आपको आनन्द मिलेगा। वह आनन्द कोई दूसरा नहीं पायेगा। आनन्द तो भिन्न रहने में ही है, मिलकर रहने में आनन्द नहीं है। अलग रहने में आनन्द है, ज्ञान के द्वारा अलग रह जाय, सबसे मिलकर रहता हुआ भी अपने को अलग ही निरखे तो आनन्द है। यह समझ में आवे कि मैं अपनी देह से भी भिन्न हूँ, सबसे न्यारा, पवित्र, ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा अनुभव में आवे तो आनन्द है।

देहोऽणुव्रजजः स्वात्माऽतीन्द्रियो ज्ञान विग्रहः ।

स्वात्मन्येव स्थिरस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयं ।।३-२२।।

अर्थ- शरीर परमाणुओं के समूह से जायमान है निज आत्मा अतीन्द्रिय तथा ज्ञान ही जिसका शरीर है ऐसा है इसलिये निज आत्मा में ही स्थिर होता हुआ मैं अपने में अपने द्वारा अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ ।

यह शरीर क्या है और आत्मा क्या है ? इन दोनों के लक्षणों को इसमें बतलाया जा रहा है । शरीर क्या है ? पुद्गल परमाणुओं के समूह से उत्पन्न हुआ यह ढांचा है । शरीर कोई एक चीज नहीं है । एक चीज तो अखंड रहती है । अगर यह शरीर एक चीज होता तो अंगुली न टूटती , पैर न टूटते । एक के टुकड़े नहीं होते । इस शरीर के तो टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं । शरीर एक चीज नहीं है । शरीर है नाना परमाणुओं का समूह और वे नाना परमाणु सब जड़ हैं । वे परमाणु सब मिल-जुल गए हैं । तो यह शरीर परमाणुओं के समूह से उत्पन्न होता है । मगर आत्मा अतीन्द्रिय है, इन्द्रियों के द्वारा जानने में नहीं आता , न कर्णों से सुनने में आता, और बात तो जाने दो । अंसली चीज जो आत्मा है वह आत्मा मन के द्वारा भी समझ में नहीं आता, इन्द्रियों के द्वारा जानने में नहीं आता । मन का ऐसा काम नहीं है कि मन के द्वारा कोई आत्मा का अनुभव कर ले । मन इस आत्मा के बारे में कुछ सोच सकता है । आत्मा में न तो रूप है, न रस है, न गंध है और न स्पर्श है । वह तो ज्ञानमात्र है, ज्ञानमय है, ज्ञानदर्शनमय है । उस आत्मा का साक्षात् अनुभव भी मन नहीं करता । आत्मा तो मन, इन्द्रिय और कषायों से परे है ।

जैसे कोई राजा के पास जाने को तत्पर है तो द्वारपालों का अर्थात् पहरेदारों का काम यह है कि दरवाजे के भीतर जाने दें और चलकर थोड़ी दूर पहुंचा दें । वह राजा के पास बैठकर बात करे यह खुद को करना पड़ेगा । द्वारपालों का काम केवल यह है कि आंगन तक पहुंचा दें पर राजा से मिलने का, बात करने का काम तो तुम्हारा ही है । इसी तरह यह मन चौकीदार की तरह है, द्वारपाल की तरह है । वही आत्मा का परमार्थ स्वरूप है, जो प्रभु का स्वरूप है ऐसा विचार बना दिया मन ने । तो मन का कितना काम है ? मन का उतना ही काम है कि आत्मा के आंगन तक पहुंचा देवे अर्थात् आत्मा की जहां चर्चा चलती है, आत्मा का जहां वर्णन चलता है उस आत्मा में दर्शनार्थ ले जाय । यह जड़ मन आत्मा से न मिलेगा इस आत्मा से भिन्न होकर आत्मा के विचार का कारण भर बनेगा, यह उपयोग खुद मिलेगा मन नहीं मिल सकता । इतना परे है यह आत्मा । आत्मा में सार है क्या ? ज्ञान ही इसका सार है । आत्मा को सरल शांति चाहिए । ऐसी दृष्टि बनाओ कि यह मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूँ, जानन ही प्रतिभास है, जानन ही इस आत्मा का प्रकाश है । यही मात्र मैं हूँ । इस ज्ञान प्रकाश के साथ इस ज्ञान को जोड़ो, यह ज्ञान के ही स्वरूप को देखो । ज्ञान का प्रकाश ही अपने स्वरूप को मानो और सारी बातें भूल जावो । किसी का परिवार कहां है, किसी का स्थान कहां है इत्यादि बातों को भूल जाओ केवल अपने ज्ञानस्वरूप को देखो तो अपने आत्मा के सुख का अनुभव हो जाय । ऐसी आत्मा को ज्ञानविग्रह कहा

सुख यहाँ द्वितीय भाग

है। ज्ञान ही इस आत्मा का सार है। ऐसी आत्मा में अगर कोई स्थिर हो जाय तो उससे ही अपने आपका अनुभव हो सकता है। आत्मा का श्रद्धा, आत्मा का ज्ञान और आत्मा में रमना इसी से आत्मा शुद्ध हो सकती है।

यैरथैर्मम सम्बन्धस्ते स्वरूपात्पृथक् सदा।

तत्त्वदृष्ट्याऽसुखं तेन-स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयं॥३-२३॥

अर्थ- जिन जिन अर्थों के साथ मेरा सम्बन्ध है वे सब स्व के स्वरूप से सदा भिन्न हैं उनमें आत्मा की दृष्टि से दुःख होता है इसलिये मैं अपने में अपने द्वारा अपने आप सुखी होऊँ।

जिन-जिन पदार्थों से मेरा सम्बन्ध है अर्थात् अपनी कल्पनाओं से जिन-जिन पदार्थों को हम अपना मानते हैं वे समस्त पदार्थ मेरे स्वरूप से बिल्कुल पृथक् हैं। अपने सत्त्व को निरखकर निर्णय करो कि जितने भी निकट और बाहर के सम्बन्ध हैं, जितने भी पुद्गल पिंड हैं वे सबके सब मेरे स्वरूप से बिल्कुल अलग हैं और जितने भी जीव हैं वे सब जीव मेरे स्वरूप से बिल्कुल पृथक् हैं। सो यह निर्णय कर लो कि उनसे मिलता क्या है? आपके माने हुए घर, वैभव, पुत्र, परिवार इत्यादि आपसे कितने बाहर हैं? बिल्कुल पृथक् हैं। उनका परिणमन उनमें ही है, उनसे मुझमें कुछ नहीं आता। कभी-कभी अपने बच्चों से हैरानी हो जाती है। इन बातों में से कि बहुत राग होने पर भी ये नहीं मानते हैं। भैया इनमें लीन होने से आप अपना हित नहीं करते हैं। अपने सत्यस्वरूप को देखो, वाह्य से मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं, उन पर मेरा कुछ अधिकार नहीं, वे स्वयं अपना लाभ समझकर अन्दर में आते हैं, आधीन बनते हैं। पर के चाहने से, पर से मोह करने से स्वाधीन नहीं बन सकते हैं। अपने आधीन बना लो उनको तो यह बात तुम्हारे वश की नहीं। हम अपना स्वार्थ समझकर किसी दूसरे के आधीन बन जायें तो मैं यह हूँ अलग, पर पराधीन बन जाऊँगा। पर के चाहने से किसी को अपने आधीन बना लो यह नहीं हो सकता। वह स्वयं पराधीन बन जावे तो वह अपनी स्वतंत्रता से पराधीन बनता है। दूसरों में पराधीन बनने के कार्य में नहीं बनता। हम स्वयं ही अज्ञानवश कल्पना में आत्मसमर्पण कर देते हैं। जगत के जितने पदार्थ हैं वे सब स्वयं परिणमनशील हैं। सबमें परिणति रहती है, सब परिणमन करते जा रहे हैं। पर कोई किसी का परिणमन नहीं करता है। तब मैं यहां बैठा हूँ और यह चटाई या फर्श हमारी छायारूप परिणम गयी। यह तो पृथ्वी और चटाई खुद छायारूप परिणम गयी। मैंने इसे छायारूप बना दिया हो तो मैं नहीं बन सकता। उस समय यह देह हाजिर था कि यह स्थान स्वयं छायारूप परिणत गया। एक मनुष्य किसी सेठ को गाली दे देता है और वह सेठ गुस्सा करे तो सेठ स्वाधीन बनकर स्वतंत्रता से अपना ख्याल बनाकर कि इसने मुझे गाली दी है, यह मुझे कुछ नहीं समझता, ऐसा ख्याल बनाकर खुद अपनी स्वतंत्रता से खेद कर रहा है। पर गाली देने वाला सेठ को क्रोधी नहीं कर सकता। वह स्वयं क्रोध के उपादान वाला है तो क्रोधी बन जाय, मगर गाली देने वाला सेठ पर क्रोध नहीं कर सकता। क्योंकि गाली देने वाला यदि अपनी परिणति से क्रोध कर देता है तो हर एक में क्रोध क्यों नहीं कर देता। साधु को क्रोधी क्यों नहीं कर दिया? साधु भी कदाचित् अपने स्वरूप से हटकर क्रोधी बन जाय तो वह स्वयं

की परिणति से क्रोधी हो गया। क्योंकि कोई दूसरे पर क्रोध नहीं कर सकता। क्रोध करने वाला खुद क्रोध करता है। कषाय करने वाला, विषयों में आसक्ति रखने वाला स्वयं ही अपना ख्याल बनाकर ऐसा बुरा बन जाता है। प्रत्येक कोई किसी दूसरे को बुरा भला नहीं बनाता। कोई क्रोध नहीं करता, खुद ही ख्याल बनाते और इस रोग के बीमार बनते रहते हैं। आत्मा में तो स्वभाव से राग नहीं रहता है। आत्मा तो एक अमूर्त है। ज्ञान और आनन्दस्वरूप को लिए हुए मात्र है, इसमें अन्य कुछ पिंडरूप चीज नहीं हैं। इसमें कोई भार भी नहीं है। यदि कोई भार हो तो बतलावों। इस आत्मा में कोई भार लादा है क्या? कोई भार तो इस जीव में नहीं करता है। खुद ही भीतर ख्याल बनाकर इतना भार लादा है कि उठ नहीं पाता, आराम से बैठ नहीं पाता। ख्याल बनाकर इतना बोझ लादा है कि खुद शान्ति से बैठ नहीं पाता। इस जीव ने स्वयं अपनी जिद से अपने को दुःखी कर दिया। दूसरा कोई दुःखी करने वाला नहीं है।

एक बादशाह था। वह पशुशाला में घूम रहा था। वहाँ घोड़ा बंधा था। पास में ही बैल बंधे थे। घोड़ा बैलों से बोला— तुम लोग बेवकूफ हो इसलिए बोझा लादते हो। बैल बोले तो फिर क्या बुद्धिमानी करें कि बोझा न ढोना पड़े। वे तो हमें पकड़ लेते हैं और जोत लेते हैं। घोड़ा बोला कि हम तुम्हें एक बुद्धिमानी की बात बताते हैं कि जब कोई बोझा ढोने के लिए तुम्हारे पास आवे तो तुम पेट फुलाकर पैर पसारकर लेट जाना। ऐसा करने से तुम्हें बोझा नहीं ढोना पड़ेगा। राजा सब बातें सुन रहा था कि घोड़े ने बैलों को यह समझाया है। दूसरे दिन जब बैल जोतने वाले बैल के पास पहुंचे तो मरा सा पाया उन्हें। राजा के पास बैल वाले पहुंचे, बोले— महाराज, बैल तो मर गए अब किसको जोतें? राजा बोला कि अच्छा पास वाले घोड़े को जोत ले जाओ।

बैलों का बोझा घोड़ा कहां सहन कर सके? वह हांफता हुआ किसी तरह से अपने स्थान पर पहुंचा। अब उस घोड़े ने बैलों को समझाया कि देखो दूसरे दिन पेट फुलाकर नहीं लेट जाना, नहीं तो डंडे और कौड़े खाओगे। राजा भी वहां घूमने गया था। घोड़े की बात राजा ने सुनी। राजा ने सोचा कि देखो कल तो बैलों को इस तरह से समझाया था कि पेट फुलाकर लेट जाना तो बोझ नहीं ढोना पड़ेगा, पर आज वह यह समझा रहा है कि अगर पेट फुलाकर पैर पसारकर लेट गए तो डंडे खाओगे। राजा थोड़ी देर बाद रानी के यहाँ गये। वहां मन में राजा ने कहा कि कल तो यों समझाया, पर आज यों समझाया घोड़े बदमाश ने ऐसा सोचते ही राजा को हँसी आ गयी। राजा की यों हँसी को देखकर रानी पूछती है कि तुम्हें हँसी कैसे आयी? राजा ने कहा कि देखो यह तुम्हारा घोड़ा बदमाश है, कल बैलों को समझाया था कि पेट फुलाकर पैर पसारकर लेट जाना तो बोझा न ढोना पड़ेगा, पर आज यों समझाया कि दूसरे दिन से पेट फुलाकर पैर पसारकर नहीं लेट जाना, नहीं तो चमड़ी उधेड़ी जायगी। रानी ने राजा से पूछा कि तुम्हें घोड़े की बोली समझना किसने सिखाया? हमें भी सिखवा दो राजा ने कहा कि सिखाने वाले ने कहा था कि अगर स्त्री जाति को सिखाया तो तुम मर जाओगे। राजा को यह भय लगा कि अगर सिखा दूंगा तो मर जाऊंगा। रानी ने बहुत हठ किया तब राजा ने कहा कि अच्छा दो दिन बाद में सिखा

सुख यहाँ द्वितीय भाग

देंगे। अब तो सभी पशु यह जान जाते हैं कि हमारा राजा दो दिन बाद में मर जायगा। बैल, घोड़ा, कुत्ता सभी उदास हो गये, यह सोचकर कि हमारा राजा तो दो दिन बाद में मर जायगा। मगर मुर्गा-मुर्गी सब खेल रहे थे। कुत्ता बोला - ऐ मूर्खों! तुम्हें यह पता नहीं कि अब खेलना ठीक नहीं है क्योंकि राजा मर जायेगा। मुर्गा-मुर्गी कहते हैं कि हम इसलिये नहीं खेलते कि राजा मर जायगा किन्तु इसलिए हँसते हैं कि राजा अपनी बेवकूफी से मर रहा है। कुत्ता बोला बेवकूफी क्या है? मुर्गा-मुर्गी बोले बेवकूफी यह है कि अपनी गलती से ही स्त्री को सिखाने के लिए तैयार हो गया है। अगर वह रानी के हठ करने पर डण्डे मारने को तैयार हो जाता तो उसे अभी मरना न पड़ता। उसकी ही तो गलती है। राजा यह भी सुन रहा था अब उसकी समझ में आ गया। राजा दो दिन बाद रानी के घर तो गया किन्तु साफ कह दिया कि जा नहीं सिखाना। तो सोचो कि सम्पदा, घर बार बच्चे कोई भी मुझे दुःखी नहीं करते हैं, कोई दूसरा दुःख करने वाले नहीं हैं, स्वयं ही मोह करके, ममता करके ये दुःखी हो रहे हैं। दुःख को दूर करना हो तो सच्चा ज्ञान जगालो। सच्चा ज्ञान जगाने से ही दुःख दूर होंगे। अगर कोई चीज बन गयी तो उससे मुझमें क्या बन गया और अगर कोई चीज बिगड़ गयी तो उससे मुझमें क्या बिगाड़ हो गया? यह सम्यग्ज्ञान की बात कह रहा हूँ। सम्यग्ज्ञान की बात कही जाने पर भी ये रागों में ही गोते लगा रहे हैं।

इन रागों में लगाव होने पर भी यदि सच्चा ज्ञान जगता है तो आकुलतायें नहीं होती हैं। इतना फर्क हो जाता है। मिथ्यादृष्टि में तो राग भी रहता है और राग में भी राग रहता है। सम्यग्दृष्टि भी करते हैं कोई राग, किन्तु वे राग से राग नहीं करते हैं। इसका वे अन्दर से दुःख ही मनाया करते हैं। वे तो सब बातें यथार्थ समझते हैं, फिर भी रागपरिणति देखकर दुःखी होते हैं। भैया! यह ज्ञानमात्र सबसे निराला अपने को समझो, केवल कर्तव्यमात्र समझो कि यह मैं इस दशा के कर्तव्य ही करता रहता हूँ। जिन पदार्थों से मेरा सम्बन्ध है वे सब पदार्थ मेरे स्वरूप से जुदा हैं, बिल्कुल जुदा हैं। पूर्वजन्म के कौन से वैभव साथ आये और जगत् के इस जन्म में भी कौन से वैभव साथ ले जाओगे? ये तो सब ख्याल बनाकर ही दुःखी हो रहे हैं। अच्छा ज्ञान जग गया वस्तु के स्वरूप अनुरूप तो अच्छा है और यदि अपने स्वरूप से हट गए और कुबुद्धि आ गयी तो ठीक नहीं होगा। पर की परिणति का अपने पर बोझ लादना भ्रमवश ही होता है। एक धुनिया पानी के जहाज से चला आ रहा था। उस जहाज में हजारों मन रुई लदी थी। उसको देखकर वह मन में कहता है कि हाय!! इतनी रुई कौन धुनेगा? हम ५ सेर रुई तो एक दिन में धुन पाते हैं तो यह हजारों मन रुई धुनने में तो हाय हम मर जायेंगे। ऐसी कुबुद्धि आ गयी, हाय हम मर जायेंगे। अब तो वह बीमार हो गया, तेज बुखार चढ़ आया। चार दिन हो गये, ६ दिन हो गए। बहुत से डाक्टर आये, पर कोई ठीक न कर सका। एक बुद्धिमान आया। बोला - हम ठीक कर देंगे। धुनिया बोला - अच्छा महाराज, ठीक कर दो, मैं हजार रुपये भेंट करूंगा। उस बुद्धिमान व्यक्ति ने धुनिया से पूछा - कहां से चले? बोला - फलां जगह से, विलायत से। किससे चले, पानी के जहाज से। उसमें कितने आदमी थे, बोला आदमी तो दो तीन थे, पर हजारों मन रुई

लूदी हुई थी। अब तो वह खुद ही समझ गया कि उतनी रूई को देखकर इसके हाथ हो गया है कि इसे कौन धुनेगा ? बोला— अरे जहाज तो आगे समुद्र के किनारे आते ही उसमें आग लग गयी और सारी रूई जल गयी, सारा सामान जल गया। अब तो वह इतना सुनते ही चंगा हो गया, बीमारी दूर हो गयी, सारे क्लेश खत्म हो गये।

सम्पदा बढ़ाना है, रुपया बढ़ाना है, इतने और बढ़ाना है, यह करना है, वह करना है, इस प्रकार के ख्याल बनाकर मनुष्य बीमारी में पड़े हुए हैं। अभी देख लो इनमें दुःखी हैं कि नहीं, आकुलतायें हैं कि नहीं। और आपके ये आचार्य समझाते हैं कि जिस दुनिया में, जिन-जिन पदार्थों के बीच हम बसे रहते हैं वे पदार्थ तेरे स्वरूप से तो बिल्कुल अलग हैं। उनका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उनमें है, उनकी परिणति उनमें है उनका प्रदेश उनमें ही है। तेरी सब बातें तेरे में ही हैं। तेरा काम तेरे से बाहर नहीं होता है, तेरी कोई परिणति तेरे से बाहर नहीं होती है। तू परपदार्थों में कुछ नहीं करता है, ऐसी भावना न रहेगी तो संयोग की कल्पना होगी। वाह्यपदार्थों के संयोग से तो दुःख ही रहेगा। बौद्धपदार्थों के संयोग से अपना हित कुछ न तो वर्तमान में ही कर सकते हैं और न भविष्य में ही कर सकेंगे। त्याग से ही पुण्य की वृद्धि है। धन-वैभव से सुख होता तो बड़े-बड़े महापुरुष क्यों इस लोक वैभव को त्याग देते? हम और आप क्या, जिनकी सेवा इन्द्रादि देव करते थे, जिनके चरणों में बड़े-बड़े मुकुटधारी राजा आते थे उन्होंने बड़े धन-वैभव राज-पाट सबको छोड़कर अपने आपके स्वरूप में आनन्द प्राप्त किया। तो आनन्द के पाने का केवल एक ही उपाय है। इस जगह समझो कि निजस्वरूप के देखने से ही सुख है।

पलास्थिरुधिरे देहे स्वबुद्ध्या क्लेशभागवत् ।

तत्र रागे न को लाभः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३-२४॥

अर्थ— मांस, हड्डी, रुधिर (खून) आदि हैं जिसमें ऐसे इस देह में स्व आत्मा की बुद्धि करने से प्राणी क्लेश का पात्र होता है उस देह में राग करने से कोई लाभ नहीं है तो अपने द्वारा अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

देखो यह शरीर मांस, हड्डी, खून आदि अपवित्र वस्तुओं का समूह है। इस देह में इस शरीर को देखो कितना अपवित्र है, मूल में क्या शरीर अपवित्र है। यह शरीर तो आहारवर्गणाओं से बना है। वे वर्गणा तो पवित्र हैं। जब तक इन परमाणुओं में यह जीव नहीं आता तब तक पवित्र है और जब यह जीव आया और उनको शरीर रूप बनाया, देहरूप बनाया तो यही वर्गणायें अपवित्र हो गयीं। तो मूल में अपवित्र कौन रहा ? यह जीव अपवित्र रहा कि शरीर ? यह संसारी जीव ही गंदा रहा जिसके कारण यह शरीर गंदा हो गया। जब तक यह जीव नहीं आया तब तक यह शरीर अच्छा था, भला था। और भी आगे देखो— जीव क्या-गंदा रहा ? जीव ने रागद्वेष किया, मोह किया तो ऐसा मोही, रागी, द्वेषी जीव ही आया तब ही तो इस शरीर ने सारी वर्गणायें ग्रहण कीं और इससे अपवित्र हो गया यह शरीर। तो जीव भी अपवित्र नहीं रहा। ये रागद्वेष मोह ही अपवित्र रहे। दुनिया में सबसे गंदी चीज क्या है, राग द्वेष। और इनका मूल क्या है ? मोह। सो मोह ही गंदा है। अरे गली में दुर्गन्ध देने वाली चीजें

सुख यहाँ द्वितीय भाग

क्या हैं, कीड़े मकौड़े, मांस इत्यादि खराब चीजें ही दुर्गन्ध देने वाली बन गयीं। उनमें यह जीव आया, तब न त्रस बना यह पिण्ड, फिर जीव के जाने पर सड़ा व गंदा हुआ। तो गंदा कौन हुआ ? गंदा तो यह मोही जीव ही हुआ। और जीव के गंदा होने का कारण मोह रागद्वेष है। परम्परा से चलते-चलते यहां तक नौबत आई कि शरीर गंदा हो गया। तो मूल में सबसे गंदी चीज है मोह। इस जगत में सबसे गंदी चीज मोह की चीज ही मिलेगी। अगर मोह है तो सब गंदा और अगर मोह नहीं है तो कुछ भी गंदा नहीं है। भगवान् तीर्थंकर ने सबसे मोह त्यागा। वे वीतराग हुए तो उनका शरीर परमौदारिक हुआ। उनके शरीर में कोई अपवित्रता नहीं रहती। स्फटिक के समान पारदर्शी पवित्र शरीर हो गया। पवित्र क्यों हो गए कि शरीर में बसने वाला जीव निर्मोह हो गया, रागद्वेष मोह आदि से वे रहित हो गये। शरीर को गंदा रखने वाले तो ये दोष ही थे। दोष मिट गये तो यह शरीर पवित्र हो गया। यह बीमारी जिनमें ये मोही प्राणी मर रहे हैं उनका मूल कारण यह मानसिक रोग है। बड़े आदमी, रईस लोग बड़ी बातें करने वाले जिन्हें शारीरिक रोग नहीं है। डाक्टर आ रहे हैं, चार आदमी हिले-मिले सेवा कर रहे हैं, पर यहां तो रोग हार्टफेल होने का है। बड़ा नुकसान हो गया, हाथ मेरी इज्जत धूल में मिल गयी इत्यादि मानसिक खराबियों से वे परेशान हो जाते हैं। अरे वे राग की ही तो परिशानियां हैं। कोई दो चार लाख का धन अगर देवे तो वे फिर उसी समय ठीक हो जाते हैं। यह तो अज्ञान की ही बात है। एक और बात देखो, इन्हें न तो कोई मारता है, न पीटता है, न घसीटता है, न भूखों मरते हैं, न किसी प्रकार के संकट हैं। फिर भी उनके दिल में उड़ान बनी रहती है, और दुःखी होते हैं। केवल ख्याल ही तो करके दुःखी होते हैं। उपयोग में तो वही आधा सेर भोजन ही आयगा। तन के कपड़े उपयोग में आयेंगे। पर अनेक ख्याल बनाकर वे दुःखी होते हैं। उन ख्यालों को मिटाने की औषधि तो वस्तुस्वरूप का ज्ञान है। इस शरीर में आत्मबुद्धि करके तो लाभ कुछ नहीं मिलेगा। इस शरीर में राग करके तो बरबादी ही है। दूसरे के शरीर में राग करने से, विषयभोग कामवासनायें इत्यादि जागृत होती हैं। मोह करना, यह मेरा है, यह उसका है, यह फलां का है इत्यादि से तो दुःख ही मिलता है। आत्मा से किसी को राग नहीं है और शरीर से भी कोई राग नहीं करता। अगर आत्मा निकल जाय तो फिर उस शरीर से राग रखे कोई तो क्या राग रखता है। आत्मा को तो ये कोई जानते ही नहीं हैं, राग क्या करें उससे फिर भी अगर वे राग करते हैं तो स्वयं को ही जलाते हैं। परमार्थ से तो आपकी आत्मा में राग नहीं है, पर ख्याल बनाकर राग बना डालते हैं। इन रागों के कारण ही आप दुःखी होते हैं। दुःख तो केवल ज्ञानस्वरूप के अनुभव से ही दूर होंगे। सो अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव करना चाहिए। ज्ञानस्वरूप का अनुभव करके ही शांति प्राप्त की जा सकती है, अपने शांतस्वरूप के दर्शन भी ज्ञानस्वरूप के अनुभव से ही होंगे। यदि अपने में शांति बन जाय तो यह जीव सभी जगह प्रसन्न रह सकता है।

देहो न शुद्ध्यते सिन्धोर्वारिभिः शुद्ध्यते त्वयम् ।

स्वात्मा स्वात्मधिया तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३-२५॥

अर्थ- शरीर समुद्र के समस्त जल से भी शुद्ध नहीं हो सकता परन्तु यह निज आत्मा निज आत्मा में बुद्धि के द्वारा शुद्ध हो जाता है इसलिये मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊं।

शरीर और आत्मा की बात कह रहा हूँ कि यह शरीर समुद्र के सारे जल से भी शुद्ध किया जाय तो भी शुद्ध नहीं होता। कितना ही समुद्रभर पानी डाल दिया जाय, पर शुद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि भीतर तो सारा मल भरा हुआ है, नाक में नाक भरी हुई है पीप, हड्डी, मांस आदि से यह शरीर बना हुआ है। समुद्र के जल से भी शुद्ध किया जाय तो शरीर शुद्ध नहीं किया जा सकता है और आत्मा के शुद्ध करने के लिए किसी परवस्तु की भी दरकार नहीं है। अपने आपकी आत्मा की बुद्धि से ही शुद्ध हो जाता है। आत्मा की बुद्धि क्या है? मेरा ज्ञायकस्वभाव है, ज्ञानमात्र स्वभाव है, ऐसी दृष्टि आ जाये तो यह जीव अन्तरात्मा बने, फिर इसी ज्ञान की स्थिरता से परमात्मा हो जाय। मैं केवल अपने स्वरूप में हूँ, इसका अनुभव हो जाय, मेरे में किसी का बोझ नहीं लदा, जितने भी परिवार के लोग हैं उनके कर्म अलग-अलग चलते हैं, उनके उदय के माफिक उनका काम चलता है, उनका मुझ पर कोई भार नहीं। घर के लड़का-लड़की हैं उनके कर्म अलग-अलग हैं और उन कर्मों के उदयों के अनुसार उनका फल कुफल चलता है। उनका मुझ पर कोई भार नहीं है। उनका अगर उदय ठीक है तो उनका फल ठीक है और अगर उदय ठीक नहीं है तो उनका फल भी ठीक नहीं है। यहां एक प्रश्न होता है कि हम भाग्य पर ही रहें तो निकम्मे हो जाते हैं। अरे दूसरों के भाग्य के अनुसार उनके काम होते हैं। हम उनमें विकल्प ही करते हैं और कुछ नहीं करते हैं। मोक्षकी बात, भाग्य की बात और संसार की बात, ये तीन बातें हैं। इनमें जो मोक्ष की बात है वह है पुरुषार्थ। संसार का जो काम है वह सम्पदा मिले, विपत्ति मिले। सो इन बातों में है भाग्य की मुख्यता और पुरुष की गौणता। जैसे ये लकड़हारे, घसियारे आदि लोग कितना परिश्रम करते हैं, पर मुख्य चीज भाग्य है उनका सहयोग नहीं है। रात दिन परिश्रम करते हैं तो भी उनकी सफलता नहीं रहती अब बात यह चली कि बहुतसे लोग बी.ए., एम.ए. कर लेते हैं, पर रिक्शा चलाते हैं। भैया! ऐसा है कि जो बिल्कुल पढ़े लिखे नहीं होते वे भी बहुत कमाते हैं। संसार में मनुष्यों की भाग्य की विषमता है, भाग्य की बात है। संसार के कामों में मोक्ष के कामों में पुरुषार्थ क्या होता है कि अपनी आत्मा में ज्ञान किया, अपनी आत्मा में ही शान्त हो गये। जिसने इच्छायें नहीं कीं, बल्कि अपने ज्ञानस्वरूप की उपासना की तो यही है मोक्ष का पुरुषार्थ। सो मोक्षके लिए पुरुषार्थ की मुख्यता है।

भाग्य कहते हैं जो पूर्वजन्म में परिणाम हुआ हो। पूर्वजन्म में परिणाम होने के कारण जो कर्म हैं वे बंध गए। उनके उदयकाल में सम्पत्ति विपत्ति आती है जिसको कहते हैं कर्म। कर्मों के मोक्ष का पुरुषार्थ तो यह है कि इस आत्मा के स्वरूप में ही हम झुके। यही है पुरुषार्थ। भाग्य अच्छा आये बिना सम्पदा नहीं मिलती है। इस भाग्य के ही कारण वैसा ही पुरुषार्थ बना, वैसे ही कर्म बने, वैसी ही चीजें परिणम गयीं। वर्तमान में हम जैसे परिणाम कर रहे हैं, उनका फल आगे मिलेगा। तो अच्छे परिणामों के बिना कर्म नहीं मिलेंगे। एक जीव कसाई है, वह हत्या करता है पर देखा जा रहा है कि वह लखपति है, उसके पास सम्पदा है, पूंजी है, पर वे पूर्वजन्म के ही लाभ ले रहे हैं। अब इनसे जो छोटे कर्म बन रहे हैं उनको आगे ले चलेंगे। कोई अगर यह कहे कि मुझको दुःख हो रहे हैं तो परमार्थ को देखो तो

सुख यहाँ द्वितीय भाग

कुछ दुःख नहीं है। वर्तमान में जैसा परिणाम कर लिया वैसा फल है। जितना जीवों में धर्म है उतनी ही शान्ति है, उतना ही धर्म है। गृहस्थी में तो भैया! थोड़ा धन होना चाहिए, गुजारा होना चाहिए, बस उसी में ही संतुष्ट रहो और धर्म धारण के लिये जीवन समझो। इसमें ही तुम्हारी शान्ति है। देखो लखपति, करोड़पति, अरबपति भी तो नजर आते हैं। अगर वे मर जाते हैं तो पता ही नहीं चल पाता है कि कैसे यकायक मर गए। कहीं ट्रेन में चलते चलते मर गये, ट्रेन पर ही यकायक हार्टफेल हो गया। धन में क्या शान्ति है? पूर्ण शान्ति तो धर्म में ही होती है, धर्म से जो शान्ति होती है वह तत्काल होती है। आत्मा की दृष्टि हो तो वही धर्म कहलाता है। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है वही उपयोग में रहे वही धर्म कहलाता है। यदि धर्म करता हो अर्थात् ज्ञानस्वरूप को अपने उपयोग में लिए हो तो यह जीव सुखी हो सकता है। जिस काल में जो जिस जीव ने अपने ज्ञानस्वभाव को लिया है तो समझो उसने अपने प्रभु की उपासना किया है। जो अपने ज्ञान को पकड़े रहता है उसको दुःख नहीं हो सकते हैं। यदि अपने ज्ञानस्वरूप से बाहर हुए तो दुःख ही दुःख आ जाते हैं।

बाहरी पदार्थों में लग गये, बाह्य में ही लग गए, बाह्य में ही मौज माना तो समझो ज्ञान करते हुए भी उसको शांति नहीं मिल सकती है। धर्म में शान्ति है और अधर्म में अशान्ति है आत्मा की पवित्रता धर्म से होती है। आत्मदृष्टि से ही यह आत्मा शुद्ध होती है। परन्तु यह शरीर तो बड़ा बेशर्म है। हम इस शरीर में कितनी आसक्ति रखते हैं। लोग आत्मा से आसक्ति रखने में शर्म करते हैं। अरे हमें तो इस शरीर से घृणा होनी चाहिए। इस शरीर में ऊपर से अन्दर तक देखो सब घृणित चीजें ही नजर आती हैं। ऊपर से तो यह शरीर भला लग रहा है पर बहुत ही गंदा यह शरीर है। नाक में देखो तो नाक भरी रहती है, पेट में देखो कितना विकार भरा रहता है। मांस, खून, हड्डी-इत्यादि से बना हुआ यह शरीर कितना अपवित्र है?

इस शरीर को अगर समुद्र के पानी से पवित्र करें तो भी पवित्र नहीं हो सकता है। यह तो हुई शरीर की बात, मगर आत्मा को अगर शुद्ध करना चाहते हो तो कहते हैं कि अगर कर सकते हो तो दूसरे पदार्थों की ओर न झुको। इतने मात्रसे ही अपनी आत्मा को शुद्ध कर लोगे। गिरी हुई बातों को तो सब तरह से कर सकते हो, पर यदि आत्मा को शुद्ध कर लिया, तो समझो जीवन सफल है। जो ज्ञानानन्दधन अपने आपको देख ले तो वही शुद्ध रहेगा, वही पवित्र रहेगा। भव-भव के पाप आत्मा की दृष्टि से तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं। तो आत्मदृष्टि में इतनी ताकत है। आत्म दृष्टि से ही आनन्द प्राप्त होता है। यह आनन्द अन्यत्र नहीं प्राप्त होता है। इस विषय में क्या आनन्द है कि रात दिन बाह्य में ही पड़कर तृष्णा किया करते हैं। ऐसी कोशिश रखो कि आत्मा की महिमा सबसे पहिले रखो।

झूठ बोलकर, छल कपट आदि करके धन आ जावे ऐसा विचार न रखो। शुद्धभावना को अन्तरंग फकीरी कहते हैं। इस फकीरी में आ जावो तो सारा काम बन जाय। न्याय से प्रवृत्ति होना चाहिए, धर्म की दृष्टि होनी चाहिए, उस परिवार के पीछे आत्मा पर आघात नहीं करना चाहिए। जो परिवार के लोग हैं उनका भी कर्मोदय है, उनकी भी हित अहित की व्यवस्था है। यह अपनी देह तक तो रहेगी नहीं फिर

दूसरों से अधिक तृष्णा क्यों रखो? अपनी आत्मा का हित देखना चाहिए। आत्मा का हित इसी में है कि न्याय से रहे, पवित्रता से रहने के लिए अपना तन, मन, धन, तक न्यूँछावर करने के लिए तैयार होना चाहिए यह भी निश्चय होना चाहिए कि हम झूठ न बोलें, दया का व्यवहार रखें, गलत व्यवहार से पैसा न आवे। गलत व्यवहार से पैसा आनेसे अन्याय से धन आने से तो इन्कम खत्म हो जावेगी। अगर साख अच्छी है, व्यवहार अच्छा है, न्याय का व्यवहार करते हैं तो इन्कम बढ़ जाती है।

कहते हैं कि रूस, चीन आदि के लोग सुखी हैं। अरे वहाँ के भी लोग सुखी नहीं हैं। वहाँ भी कोई हुक्म करते हैं, कोई हुक्म मानते हैं, हुक्म मानने वाले दुःखी हैं। हुक्म मानने व हुक्म करने वाले दुःखी हैं, हुक्म करके वहाँ पर भी बहुत दुःख हैं। चाहे साम्यवाद कह लो, चाहे भाग्यवाद कह लो। जो पदार्थ जैसा है वैसा न मानने से ही अपने में विकल्प बन गये। धर्म नहीं बदला जा सकता है, मगर सुख की बाह्य व्यवस्थायें बदली जा सकती हैं। बड़े आदमी दुःखी होते हैं, उनके पास यद्यपि दुःख नहीं है, पर ख्याल बनाकर वे दुःखी होते रहते हैं।

इस ख्याल को मिटाने का उपाय तो केवल ज्ञान है। इस ज्ञान में ही समाने से मोक्ष मार्ग प्राप्त होता है। ख्याल बना लेने से तो जो इन्द्रसम हैं वे भी दुःखी हो जाते हैं। संसार में रहने से तो दुःख नहीं मिट सकते हैं। दुःख तो केवल अपने ज्ञानस्वरूप की दृष्टि से ही मिट सकते हैं।

दुःखाश्रयो हि देहोऽयं देहतो व्यसनानि वै।

विरज्य देहतस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वेसुखी स्वयम्॥३-२६॥

अर्थ- नियम से यह देह दुःख का आश्रय है और देह से निश्चयतः आपत्तियाँ होती हैं इसलिये देह से विरक्त होकर अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ।

लोग देह की व्यवस्था में जुटे हैं। साम्यवाद करना चाहते हैं तो इस देह की व्यवस्था के लिए ही करना चाहते हैं। अन्य जितने भी काम हैं वे सब भी इस देह की व्यवस्था के लिए ही किए जाते हैं। जितने भी दुःख हैं उन दुःखों का कारण भी यह शरीर है। मेरा अपमान हो गया, मुझे भोजन नहीं मिला, मुझे यह करना है आदि आदि से ही अपने शरीर का ख्याल बनाकर दुःखी हो जाते हैं। अगर किसी ने गालियाँ दे दीं तो दुःखी हो जाते हैं। जो अपमान के दुःख हैं उनका भी कारण यह शरीर है, जो मानसिक दुःख हुए उनका भी कारण यह शरीर है। यह शरीर ही सारे दुःखों का आश्रय है। इस शरीर से ही सारी विपदायें हैं। एक दूसरे का कोई दुश्मन नहीं होता। इस शरीर को देखकर ही दुश्मन बन गए। इस आत्मा में दुःख नहीं है। तुमको तो केवल शरीर ही नजर आता है। यह अमुक व्यक्ति है, इसका यह नाम है इत्यादि। सो इन झंझटों का कारण शरीर है। ये जो व्यसन आते हैं। वे भी इस शरीर के ही कारण आते हैं। इसलिए इस देह से विरक्त होना ही ठीक है। देह से विरक्त होने का मतलब यह समझो कि मैं यह देह नहीं हूँ, देह तो पौद्गलिक है। यह देह तो जड़ है, मैं मैं हूँ, चेतनस्वरूप हूँ, मैं सबसे जुदा हूँ ऐसा यथार्थ अपने को जान लो। इस देह के संसर्ग से तो दुःख ही हैं, इस देहसे संसर्ग रखने से तो पूरा नहीं पड़ेगा।

यथार्थज्ञाता बनना ही इस देह से विरक्त होना है। अपना ज्ञान सही रखो, रागद्वेष, मोह आदि को त्यागकर अपने ज्ञानानन्दधन स्वरूप को देखो। अपने आपको यह समझो कि मैं यह देह नहीं हूँ, यही समझना सम्यग्ज्ञान है, यही देह से विरक्ति है, विरक्ति और ज्ञान अन्य कुछ नहीं है। ज्ञान को ही विरक्ति कहते हैं और विरक्ति को ही ज्ञान कहते हैं। ज्ञान और वैराग्य की लीला परमार्थ से एक ही स्वरूप बन गयी है। ज्ञान के होने का नाम ही रागों का मिटाना है और ज्ञान होने का नाम ही वैराग्य है। वह जो कुटुम्ब परिवार इत्यादि के लोग हैं उनसे मेरा कोई सम्बन्ध ही नहीं है। मैं तो उन सबसे जुदा हूँ, केवल ज्ञानमात्र हूँ, ऐसे ज्ञान का होना ही वैराग्य है। धन, सम्पदा इत्यादि तो दुर्गति के कारण होते हैं। इस कारण अन्य सबसे विरक्त होकर अपने में बसा अपना स्वभाव, इस कारण धर्म मानना ही वैराग्य है। यह मैं हूँ, यह मेरा है, यह उसका है ऐसा मानने से ही व्याकुलतायें हो रही हैं। मैं मैं हूँ, वह वह है, ऐसा मानना ही वैराग्य है। पर को पर समझो। जिसमें वैराग्य का अंश नहीं है वह ज्ञान नहीं है। सम्यग्ज्ञान के साथ चरित्र न हो ऐसा नहीं होता, स्वरूपाचरण तो होता ही है और चारित्र हो तो शान्ति नहीं हो सकती है। सम्यग्ज्ञान होते ही बाहर की कोई भी चीज हो उससे प्रतीत्या राग हट जाता है। पर से राग हो गया तो फिर वह स्थिर न रह सकेगा। यह स्वरूपाचरण वाला ज्ञान यदि नहीं है तो बरबादी ही है। इस स्वरूपाचरण के मायने हैं अपने स्वरूप की ओर झुको। जितना ही ज्ञान होगा उतना ही अपने ज्ञानस्वरूप की ओर झुकाव होगा। मोह न रहे, राग में राग न रहे, अज्ञान का राग न रहे, प्रीति का राग न रहे। भैया! ये सब जितने व्यसन हैं वे सब इस देह के ही कारण हैं। सो इस देह से विरक्त होकर अपने ज्ञायकस्वरूप को देखकर अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होओ।

इस संसार के जितने भी जीव हैं वे चाहे मनुष्य हों, चाहे पशु हों, चाहे पक्षी हों, चाहे जो कोई हों सब अपनी-अपनी जगह पर दुःखी हो रहे हैं। किसी को दुःखी करने वाला कोई दूसरा जीव नहीं है। अपना ही ख्याल करके, विचार बनाकर विकल्प करके खुद दुःखी हो रहे हैं। क्यों दुःखी हो रहे हैं कि इस जीव को अपने आपके स्वरूप का पता नहीं है कि मैं क्या हूँ? कौन हूँ? पर ऐसा ही तो मानते हैं ना सब कि मैं इस घर वाला हूँ, मैं इतने खेतों वाला हूँ, मैं इतने पुत्रों वाला हूँ, मैं अमुक हूँ, मेरा ऐसा मामला है, मैं बड़ा हूँ, मैं छोटा हूँ ऐसा ही तो सब लोग मान रहे हैं। पर ये सब ऐसा है क्या? अरे आत्मा क्या कोई जाति में है? क्या आत्मा का कोई कुल है? इसका तो किसी से सम्बन्ध नहीं है। अगर अपने ब्रह्मस्वरूप का पता नहीं है, इन पर्यायों को ही मान रहे हैं कि यही मैं हूँ तथा भगवान की भक्ति करें, पूजा करें, आरती करें, पर यह पता न रहे कि मेरा भगवान कैसा है, क्या है, बल्कि उल्टा यही रटन लगा रखें कि भगवान है, वही हमें दुःखी-सुखी करता, लड़कें बच्चे देता, धन दौलत देता यही रटन लगा रखी है। पर भगवान असली है क्या इसका विचार न हुआ तो कुछ जीवन का सार नहीं है। भगवान का ब्रह्मस्वरूप है, सोई ब्रह्मज्ञान है जो आत्मा का स्वरूप है सोई भगवान स्वरूप है।

जैसे रामचन्द्र जी हुए, श्री महावीर जी हुए, ये भगवान क्यों कहलाये आखिर-वे भी तो इसी देश में ही हुए थे। वे भगवान यों हुए कि उन्होंने अपना ब्रह्मस्वरूप पहिचाना जो सब जीवों में एकस्वरूप

है। स्वयं की ही ओर दृष्टि की, इस कारण से वे भगवान हुए। और ये जगत् के जीव जो मोही हैं, जिन्हें घर के दो-चार मोही जीव मिलते हैं उन्हीं को वे मान लेते हैं कि वे मेरे हैं बस इस कल्पना से ही वे अटक गए। अटक क्या गए कि वे भगवान के दर्शन न कर सकें। भगवान के दर्शन वे ही कर सकते हैं जो परिवारके मोह में न अटके हों। जो मोह में अटक गया वह भगवान के दर्शन नहीं कर सकता है। इसी मोह को ही कहते हैं अहंकार। यह मैं हूँ, यह मेरा है इत्यादि। अरे क्या अहंकार करते हो, ये सब तू न रहेगा, तूने ये सब नहीं किया। तू तो एक ज्ञातादृष्टा चेतनमात्र ब्रह्मस्वरूप है। ऐसा यदि अपने को बोध नहीं करता है तो कितनी ही बड़ी अविवेकतायें हो जायें। जिस चाहे चबूतरे में हो, जिस चाहे जगह में हो, जिस किसी पत्थर पर सिन्दूर लगा दो तो कितने ही देवताओं के नाम इस पत्थर के कर डालते हैं। यह भोले बाबा हैं, यह फलाने बाबा हैं, यह फलानी देवी है। अविवेकी लोग उनके आगे जीवहत्या तक कर डालते हैं। कितने लोग हैं ऐसे यह तो हमें पता नहीं है, पर वे किसी भी पशु को किसी भी जीव को चाहे बकरा, बकरी मुर्गा, मुर्गी आदि हो तो वे जीवों को बलि चढ़ाते हैं। अरे वे जीव भी तुम्हारे ही जीव के समान हैं। उनके स्वरूप में और तुम्हारे स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है।

जिन्हें अपने स्वरूप का पता नहीं है वे सोचते ही रहते हैं। जो हम हैं वही सच बाकी तो सब जीव यों ही हैं अरे किसी जीव की जान ले लेने में बड़ा पाप है और उस पाप के फल में दुःख होता है। सो यह ध्यान नहीं है खुशी, खुशी पाप बढ़ाते चले जा रहे हैं। सो जो दूसरे जीवों पर दया नहीं कर सकता, उन्हें अपने समान नहीं समझ सकता तो भला बतलावो कि उसे भगवान के दर्शन कैसे मिल सकते हैं? भगवान के दर्शन उसको ही हो सकते हैं जो सब जीवों को समान समझता है, एक समान समझने के मायने यह है कि स्वभाव सबका यही है, ज्ञानस्वरूप वही है, आनन्द वही है चैतन्यस्वरूप वही है, सब एक ही स्वरूप के जीव हैं। यदि यह ज्ञान हो तो इन जीवों की हिंसा न करो। जैसे कोई अपने ही हाथ से अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मार ले तो उसे आप क्या कहोगे? इसी तरह अज्ञानी जीव देवी-देवता मानकर अथवा यह समझकर कि इन देवी-देवताओं पर कुछ चढ़ा दें या मार दें तो मेरे घर के अच्छे हो जायेंगे अथवा कामना पूर्ण हो जायगी।

भैया! अब तो जमाना बड़ी प्रगति से चल रहा है। ऐसे जमाने में यहां-वहां आस-पास देखने में आता है कि हिन्दुस्तान के देहातों में धर्म के मामले में कुछ प्रगति नहीं कर पाते और जो परम्परा चली आयी उसी के अनुसार लकीर पीटते चले जाते हैं। हमने अभी एक जगह देखा कि एक नीमखेरा का नरवा था। लोग बैठे थे। हमने तो न देखा कि जीव चढ़ाया जा रहा है क्या? वैसे वे लोग चढ़ा नहीं रहे थे, पर ऐसे ही कहीं-कहीं पर चढ़ाया जाता है। कहीं चढ़ाया भी जाता हो तो भैया इससे तो बहुत पाप है। कोई देवी-देवता यह नहीं चाहता कि मेरे आगे किसी जीव का वध करना चाहिए। वे देवता नहीं चाहते कि कोई जीवन चढ़े। सत्यदेव तो भगवान के स्वरूप हैं, ज्ञानमय हैं, आनन्दमय हैं वही तो ब्रह्म का स्वरूप है। वे तो सदा आनन्द में लीन हैं। रहे सांसारिक देवी-देवता सो वे भी वैक्रियक शरीर वाले हैं उनके कण्ठ से अमृत झरता है और उसमें वे तृप्त हो जाते हैं, खाते कुछ नहीं प्रभु की भक्ति

करने में कुछ नटखट करना अच्छा नहीं। भगवान के स्वरूप की जो भक्ति करते हैं उन्हें भगवान दर्शन देता है, धनी हो तो क्या, निर्धन हो तो क्या, कुछ उनको चढ़ाया तो क्या, न चढ़ाया तो क्या, इससे कुछ असर नहीं होता है। भक्ति तो ज्ञान की बात है।

जो भगवान की भक्ति करे वह निहाल हो जाय। मेरा तो बाहर की बातोंसे कोई सम्बन्ध नहीं धर्म की प्रगति करना, अपना ज्ञान ऊंचा बनाना, दया का बनाना इत्यादि बातें अगर किसी में आ जायें तो उसका मानव जीवन सफल है। देखो यह श्री रामचन्द्र का मन्दिर है, उनके हम आप सब उपासक हैं। भगवान रामचन्द्र जी क्या कहीं उपदेश देते हैं कि किसी जीव को चढ़ाया जाय? उनका तो उपदेश यह है कि कीड़े मकोड़े आदि सभी जीवों पर दया करो। भगवान तो प्रसन्न होते हैं उनके स्वरूप के स्मरण से। इन जीवों की बलि से तो भगवान नाराज होंगे ?

कोई बहका देने वालों ने किसी जमाने में जो मांस खाने की इच्छा करते थे, उन्होंने किसी न किसी बहाने से जीवों को मार दें तो मांस खाने को मिलेगा इस भाव से भोलों को बहका दिया है। तो उन्होंने तो इस दुनिया को गुमराह कर दिया। ऐसे पाप करके तो कहीं प्रगति नहीं है। उन्हें तो मांस खाने की व्यवस्था बनानी थी, सो पशु पक्षियों की बलि करने की व्यवस्था बना दी। परन्तु भैया! आप लोग तो विवेकी बनो, जीव बलि का त्याग कर दो। अभी देखो सेठिया लोग, बड़े-बड़े व्यापारी लोग, लखपति, करोड़पति लोग पड़े हुए हैं जो मांस आदि का प्रयोग नहीं करते हैं पशु बलि से दूर रहते हैं। तो क्या बलि करने से उनका धन बढ़ गया ? नहीं, ऐसा नहीं है। ऐसा कहा जा सकता है कि उनके परिवार के लोग अच्छे खासे हो जाते हैं। दया से, सदाचार से सुमति की वृद्धि से। एक तो जीवों का मारना पाप है और भगवान का नाम लेकर मारना महापाप है। सो यह जीवन बड़ी ही कठिनाता से मिला है, इसमें धर्म का पालन करना धर्म है। जीव दया की सबसे पहली सीढ़ी यह है कि सब जीवों को अपने जीव के समान समझो और किसी भी जीव की हत्या न हो। जो बहुत छोटे लोग होते हैं वे विवाद के अवसर पर या कोई मेहमान आ जाय तो ऐसे समय में वे मांस खिलाते हैं। यह तो दुर्गति की ओर ले जाने की बात है। तुलसीदास ने बताया है कि जीव दया ही धर्म है। जब तक जीव दया नहीं आयगी तब तक छोटे परिणाम ही मिलेंगे। जिन्दगी भर परेशानियां ही मिलेंगी। ऐसा व्यवहार बनाओ कि परस्पर में जीवों को अपने ही समान समझो। अपने समान ही सब जीवों को समझने से भगवानके दर्शन हो सकते हैं। तो भैया ! सबसे पहिला काम यह है कि अगर अपनी प्रगति का काम करना है, भगवान राम का सच्चा भक्त होना है तो झूठे बहकावे में आकर कि पशुबलि से देवी-देवता प्रसन्न रहते हैं इसे न मानना चाहिए और पशुबलि का बिल्कुल त्याग होना चाहिए। पशुबलि से लाभ कुछ नहीं होता है। उन्हें ही देख लो जो पशुबलि करते हैं, जिनके लिए पशुबलि करते हैं, वे सब गुजर गए। कितने ही ऐसे हैं जिनके लिए पशुबलि नहीं की गयी और वे अच्छे हो गए। तो भैया ! भ्रम छोड़ देना चाहिए और पशुबलि का तो त्याग होना चाहिए। हमें नहीं मालूम कि यहां पर पशुबलि चढ़ाई जाती है या नहीं। (किसी ने कहा कि चढ़ाई जाती है, तो महाराज ने कहा) भैया ! अपना ज्ञान जगाओ। उन देवी देवताओं से बड़ा भगवान

को मानो। वे देवी-देवता भी तो भगवान के ही सेवक हैं। श्रीराम भगवान का कितना उत्कृष्ट जीवन था। मर्यादा पुरुषोत्तम थे, प्रजा के रक्षक थे। अंत में उन्होंने संन्यास मार्ग को बतलाया और खुद त्याग तपस्या करके ब्रह्म में लीन हुए। प्रभु का ही तो आदेश है कि जीवों पर दया करो। बात तुम्हें चाहे कठिन मालूम पड़ रही हो, पर किसी समय यह तो ख्याल आता ही होगा कि अकेले ही पैदा हुए और अकेले ही मर जावेंगे। तो इन जीवों का हित सोचो, इन जीवों पर दया ही करो। अगर दूसरे जीवों को सताया तो तुम भी सताये जावोगे। सो भैया ! अपना अन्तरमें ज्ञान जगाओ। आत्मज्ञान करके ही तुम्हारा सुधार होगा। हम तो केवल कह रहे हैं, मानो चाहे न मानो। अभी सवेरा होते ही चले जायेंगे।

अभी रास्ते में एक गांव मिला था। वहां पर सब चमार लोग ही थे। वहां पर सब लोगों ने मांस, मदिरा, जीवहत्या इत्यादि सबका त्याग किया। तो भैया! आप लोग भी त्याग दें, इससे कोई फायदा नहीं है। इस बीच बलि करने और मांस खाने का त्याग इन लोगों ने किया—

बैजनाथ काछी, रद्दू काछी, मसल्ली अमान काछी, गोबरें नाई, पंचम काछी, हरप्रसाद लौहार, कल्लू काछी।

हां तो मैं कह रहा था कि इस संसार में जीव जो दुःख पा रहे हैं वे अपने आप में ज्ञान न होने से ही दुःख पा रहे हैं। मैं कौन हूँ और क्या हूँ— इस बात को समझो और जो ऊपर से समझ रखा कि मैं अमुक हूँ, इतनी पूंजी वाला हूँ ये सब झूठी बातें हैं। हम तो भगवान के स्वरूप हैं। हममें और भगवान में फर्क नहीं है। झूठ बोलकर, उल्टा बोलकर, खोटे विचार करके हम सब इतना भगवान से जुदा हो गये कि भगवान तो तिर गये और हम सब जगत् के प्राणी जन्ममरण के चक्कर में पड़ गए हैं। अपनी आत्मा को ऐसी समझो कि इसके लिये यही बड़ी महान् है, परमात्मा से कम नहीं है। इस मोह में क्या रखा है ? भीतर में ऐसा ज्ञान जगाओ कि यह मोह मेरा भला नहीं कर सकता है। तो स्वयं में एक क्रान्ति लावो और ऐसा निश्चय कर डालो कि मेरा मोह पाप ही करेगा, भला नहीं करेगा, ऐसा मन में पक्का निश्चय कर लो फिर अपने धर्म पर अटल रहो। कुछ ऐसे भी लोग हैं जिनके परिवार के लोग भी गुजर गये, और और भी परेशानियां आ रहीं। मगर अपने धर्म से नहीं हटते। तो बतलावो इसी दुनिया में कौरव पांडव हुए, इसी दुनिया में राम राघव इत्यादि प्रभु हुए, रावण आदि भी यहीं हुए, इसी दुनिया में कृष्ण गोपाल आदि हुए। उनमें से कोई स्वर्ग गया, कोई नरक गया। उनमें से भी कोई यहां नहीं रहा। इस दुनिया में जितनी भी चीजें हैं सभी नष्ट हो जावेंगी। इस दुनिया में जो आता है वह जाता अवश्य है। फिर भी बाह्य चीजों को कहते हैं कि यह मेरी है, यह उसकी है। जो इस प्रकार से सोचते हैं उन्हें पछताना ही पड़ेगा। जिनके कारण पाप किए जाते हैं वे कोई साथी नहीं होंगे, सब बिछुड़ जायेंगे। नरक का रास्ता उसे ही देखना पड़ता है जो पाप करता है, सो भैया ! किसी जीव के प्रति यह भावना न करो कि यह दुःखी हों। सबको समान मानो, किसी को अपना दुश्मन न समझो। कोई बैरी नहीं है, कोई पराया नहीं है, किसी को बुरी बात न कहो। मनुष्य का धन तो यह वचन ही

है। वचन से ही पहिचाना जाता है कि यह मनुष्य भला है कि बुरा है। वचनों से हा झगड़ा खड़ा हो जाता है और वचनों से ही मेल हो जाता है। सारा दारोमदार इन वचनों पर ही तो है। अपनी वाणी अत्यन्त मीठी होनी चाहिए, दूसरों के हित की होनी चाहिए जिससे कोई जीव अप्रसन्न न हो सके। सो जब अपना स्वरूप समझ में आ जाता है तो ये सब बातें आसान हो जाती हैं। धर्म करना, भक्ति करना, भगवान का ख्याल रखना, दूसरों की सेवा करना इत्यादि सभी बातें आसान हो जाती हैं। तो जब इस संसार में कोई नहीं रह जायगा तो अपना यह शरीर दूसरों की सेवा में लगा दो तो क्या घटता है? जितना भी बन पड़े दूसरों की सेवा करो। दूसरों की सेवा करने से कुछ घटता नहीं है, बल्कि बढ़ता ही है। बढ़ता क्या है कि दूसरे लोग भी इज्जत करने लगते हैं। आलसी न बनो। अगर कोई गिर रहा हो तो उसे ऊंचा उठाओ। कोई अगर दुःखी है तो उसे दुःखी रहने दो, ऐसा न सोचो बल्कि उसे दुःख से बचा लो, उसकी सेवा करो। ये सारी चीजें तो मिट जाने वाली हैं। इस शरीर को तो जितना ही परसेवा में लगाओगे उतने ही सबके प्यारे बनेंगे। अब की दुनिया में तो सेवा का ही मूल्य रह गया है। धनी को कोई नहीं पूछता। सेवा करने वाले ही कोई मिनिस्टर बन गये, कोई नेता बन गये, पर धनी को कोई यहां पद नहीं मिलता है। पद तो सेवा करने से ही मिलता है। धन जोड़ लेने से ही कोई बड़ा नहीं बन जाता, अगर दूसरों की सेवा में लग गये तो बड़े बन गये। बहुत से लोग गरीब थे, फिर भी बहुत बड़े-बड़े ओहदों पर पहुंच गए। यह सेवा करनेका ही तो परिणाम है। यह जो शरीर मिला है, विनाशीक है, इसको तो सेवा में लगाओ। इसी तरह जो भी धन मिला है वह विनाशीक है, उसे भी दूसरों की सेवा में लगाओ। दूसरों की सेवा में धन लगाने से धन घट नहीं जाता है। यदि धन की रक्षा करके यह सोचो कि यह सदा मेरे पास रखा रहे तो यह नहीं हो सकता है। वह धन तो जैसे आता है वैसे ही चला जाता है।

एक सेठ थे। सो ऐसे पापों का उदय आया कि उसका सब धन खत्म हो गया। धन खत्म हो जाने पर उसने अर्जीनवीसी का काम कर लिया। अर्जी वगैरा लिख दिया करता और ८-६ आने अपनी गुजर के लिए कमा लेता। एक दिन वही सेठ अटारी पर से उतर रहा था कि वहां ऐसी आवाज आयी कि मैं आऊँ। कई दिनों तक फिर ऐसी आवाज आयी कि क्या मैं आऊँ? तो उस सेठ ने जाकर सेठानी से यही बात बता दी। सेठानी ने समझ लिया लक्ष्मी कह रही है कि क्या मैं आऊँ? सेठानी ने कहा कि इस बार अगर कहे तो कह देना कि मत आवो। ऐसा ही सेठ ने कह दिया। अब सेठ सेठानी से बोला कि बहुत साल हो गये गरीबी में रहते-रहते सो अब कह दें क्या कि अच्छा आवो। सेठानी ने कहा कि कल कह देना कि अच्छा आओ, मगर आकर जाना न हों तो? दूसरे दिन फिर उसी प्रकार की आवाज आयी। बोला—अच्छा, यदि आकर जाना न हों तो आओ। लक्ष्मी ने कहा कि यह तो नहीं हो सकता, मैं एक जगह तो रह नहीं सकती। मैं कैसे कह दूँ कि आ करके जाऊँगी नहीं? यही बात सेठानी से कह दी। सेठानी ने कहा कि कह दो कि अच्छा आवो, किन्तु जब जावो तब कहकर जाना। लक्ष्मीने कहा—मंजूर है। लक्ष्मी आ गयी। देखो इस प्रकारसे लक्ष्मी आती है।

वहाँ का राजा गया था परदेश। रानी ने राजा को बुलवाने को पत्र उससे लिखवाया। पत्र लिखवाने में एक अशरफी दी। उस अजीनवीस ने ऐसा पत्र लिखा कि कोई नहीं लिख सकता। तभी से लक्ष्मी आने लगी। राजा जब परदेश से लौटकर आया तो राजा ने उस लेखक को वजीर बना दिया। मंत्री के पास बहुत सा धन आ गया। मंत्री १०-२० हंडों में सोना चांदी भरता गया और हंडों का मुंह तांबा व जस्तेसे जड़कर घर में गड़वा दिये। कुछ दिन बाद में राजा शिकार खेलने गया, वजीर को भी साथ में ले गया। दोनों एक पेड़ के नीचे बैठ गये। वजीर ने राजा को अपनी जांघ पर सिर रखकर लिटा लिया। राजा सो गया। अब देखो स्त्री के रूप में वह लक्ष्मी आती है, कहती है कि मैं जाती हूँ। वजीर ने कहा कि नहीं जा सकती हो, वजीर को गुस्सा आ गया, तलवार खींच ली। अब तो राजा की नींद खुल गयी। वजीर ने सोचा कि अब मैं राजा को क्या जवाब दूँ कि इस कारण से तलवार खींची। राजा ने जब वजीर के हाथ में तलवार देखी तो समझ लिया कि मुझे ही मारना चाहता था। उसने वन में तो कुछ नहीं कहा, चुपचाप दरबार में पहुँचा। अब तो राजा ने आदेश दे दिया कि वजीर को संपरिवार देश से निकाल दो। तो भैया ! देखो धन सब वहीं पड़ा रहा, धन का विश्वास नहीं है। भैया ! देह भी यहीं खाक कर दिया जायगा। सो भैया ! धन को व इस शरीर को दूसरों की सेवा में लगावो। इससे ही प्रसन्नता रहेगी। अपने हृदय में प्रभु की भक्ति रखो और इस जगत के जीवों पर दया करो तो क्लेश नहीं रहेंगे।

निंदे देहेयुषित्वात्मसिद्धिः शक्या वसत्रपि।

विरज्य देहतस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्।३-२७।।

अर्थ- इस निंद्य देह में भी बसकर आत्मा की सिद्धि हो सकने योग्य है इसलिये शरीर में रहता हुआ भी शरीर से विरक्त होकर मैं अपने में अपने आप अपने लिये सुखी होऊँ।

यह शरीर निन्दनीय है, निन्दा के योग्य है, इस शरीर में कुछ सार तो नहीं है। ऊपर से अन्दर तक कितनी खराब चीजें इस शरीर में भरी हुई हैं। नाक, मल, मूत्र, खून, हड्डी इत्यादि सब खराब ही खराब चीजें इस शरीर के अन्दर भरी हुई हैं। फिर भी इस शरीर से लोग कितना मोह करते हैं। अरे अपने आत्मा में दृष्टि करो तो कुछ कल्याण हो सकता है। अपनी दृष्टि बाहर में रखने से अपने भीतर के ज्ञानस्वरूप का अनुभव नहीं किया जा सकता है। यदि बाहर की समस्त चीजों को छोड़कर अपने आपके शुद्ध ज्ञानस्वरूप का अनुभव किया तो अपने ज्ञानस्वरूप की खबर रहेगी। अपने आप में दृष्टि देकर ही आत्मा को शुद्ध किया जा सकता है। जीव में सबसे बड़ा संकट मोह का है। कोई लेना नहीं, देना नहीं, सब जुदे रहें फिर स्त्री पुत्र वगैरह से मोह लगाये हुए हैं। यही इस जीव का सबसे बड़ा मोह है। कोई घर का पुत्र गुजर गया तो कहते कि घर का दीपक बुझ गया। घर का शिखर चला गया। इस प्रकार से वे मोह करते और दुःखी होते हैं। अरे ये जो आये हैं क्या सदा रहेंगे ? यहाँ कोई नहीं रहेंगे, सब यहाँ से चले जायेंगे। केवल अपना जो ज्ञानस्वरूप है वही साथ में रह जायगा और पाप का संस्कार भी पीछे जायेगा। देखो कोरी लोग जो कपड़ा बुनते हैं, वे भी अन्त में ४ अंगुल छीरा बुनने

से छोड़ देते हैं, किन्तु यहां तो मनुष्य मरते समय तक भी मोह नहीं छोड़ता। भैया! जगत के मोही प्राणी कुछ छोड़ना नहीं चाहते हैं, पर उन्हें मरते समय तो सब छोड़कर जाना ही पड़ेगा। आखिर छोड़ने तो सब पड़ते ही हैं, पर हम अपने मन से छोड़ें तो लाभ है। इसलिए कहते हैं कि विषयों के मोह में प्रवाह न हों। शरीर में मोह करना, अज्ञान करना यह सब अन्धकार है। यदि इस देह में ही आसक्ति रही दूसरों की सेवा न कर सके तो सब कुछ होते हुए भी यह मनुष्यभव पाना व्यर्थ है। भैया ! अब अशांत न रहो, अपने ज्ञानस्वरूप को देखो, स्वाध्याय कर लो, व्रत कर लो, तप कर लो, पर इस देह में आसक्ति हुई तो कुछ भी पुण्य न होगा। पर मैं आसक्त होने से कुछ नहीं मिलेगा। इस मोह ममता को छोड़ दो यही सबसे बड़ा तप है। इस देह में बसकर भी इससे प्रीति न करो। सब दुःखों की जड़ तो यह शरीर ही है। अरे अपने उस आत्मस्वरूप का अनुभव करो। वह आत्मा तो आकाश की तरह अमूर्त निर्लेप है, इसमें दुःख कहां से आ सकते हैं? अरे अनुराग करो तो उस आत्मा से करो, शरीर से क्यों मोह करते हो? यह शरीर ही तो विपदा की जड़ है। यह शरीर तो मिट जाने वाली चीज है। किसी दिन यह जला दिया जायगा, जला देने से वह खाक हो जायगा। आत्मा तो आकाश की तरह निर्लेप है। आत्मा अमूर्त है, कोई पकड़ने वाली चीज नहीं है यह आत्मा। इस आत्मा में रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि भी नहीं हैं। यह आत्मा प्रकाशवान है, ज्ञान स्वभाव है, इसके अतिरिक्त और कुछ इस आत्मा में नहीं नजर आता है। सब माया है इस जगत में जो दिखता है। परमार्थ से तो यदि अन्तर्दृष्टि देकर अपना स्वरूप ही ज्ञान में आये तो अपने आत्मा का सही अनुभव हो सकता है। जो कुछ भी इस जगत में अनुभव में आ रहा है वह सब माया जाल से हटकर मैं अपने आत्मस्वरूप को देखूं और अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊं।

मनोवाक्कायिकी चेष्टेच्छातो दुःख ततस्ततः।

हत्वेच्छां प्रज्ञया भित्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-२८॥

अर्थ— इच्छा से मन वचन काय सम्बन्धिनी चेष्टा होती है और उस चेष्टा से दुःख होता है इसलिए भेदविज्ञान के द्वारा चेष्टा से व इच्छा से अपने को पृथक् करके—इच्छा को नष्ट करके मैं अपनेमें अपने लिये अपने आप सुखी होऊं।

जीव का जो धन है वह है मोक्ष। इस जीव ने ६ भोग किए, क्या वे धन हैं? नहीं इस जीव का काम तो केवल ज्ञाता दृष्टा मात्र रहना है। धीरज से रहे, शान्ति से रहे, जाननमात्र रहे, इसका यही काम है। बाकी तो सब अज्ञान है। यदि यह जीव ऐसा सोच ले तो समझो उसने बड़ा विवेक का काम किया। इतना ही काम बने केवल यह समझते रहें, ज्ञातादृष्टा रहें, यही इस आत्मा का असली काम है।

यह जीव इच्छाओं से ही पराधीन हो जाता है। इन नटखट इच्छाओं ने ही तो इस जीव को पराधीन बना दिया है। तीन चार आदमी बगीचे में घूमने जा रहे थे। बगीचे में देखा कि एक कबूतर जाल में फंसा है। एक आदमी कहता कि यह आदमी बहुत खराब है कि इसने कबूतर को जाल में फांस लिया। दूसरा बोला कि इस आदमी ने कबूतर को नहीं फांसा, जाल ने इसे फांस लिया है। तीसरा बोला जाल

ने इसे नहीं फाँसा है, इन गेहूँ चावल के दानों ने इसे फाँस लिया है। चौथा बोला कि इन चावलों और गेहूँ के दानों ने भी इसे नहीं फाँस लिया है उस कबूतर ने तृष्णा के कारण स्वयं अपने को फाँस लिया है। तो भैया यह तो कथानक रहा, पर इस जगत में कोई किसी को दुःख दे ही नहीं सकता है। सब शुद्ध हैं, परमात्मास्वरूप हैं पर अपने आपमें ख्याल बनाकर कल्पनायें करके दुःखी हो जाते हैं, फाँस जाते हैं। भैया ! इन ख्यालों को मिटाओ तो सारे संकट दूर होंगे। ये बच्चे लोग कहानी कहा करते हैं कि स्यार स्यारनी थे, स्यारनी गर्भिणी थी। बच्चा जनने के लिये वे एक शेर की गुफा में रहते थे। कई बच्चे भी हो गये थे। स्यार ने स्यारनी को सिखा दिया कि जब कोई शेर की परेशानी हो तो बच्चों को रुला देना। जब कभी शेर आता तो स्यारनी बच्चों को रुला देती। स्यार पूछता कि बच्चे क्यों रोते हैं ? स्यारनी बोलती कि बच्चे शेर का मांस खाना चाहते हैं। इस तरह से शेर भाग जाता। जंगल के अनेक शेरों ने सभा की, सबने सोचा कि ऊपर भीत पर जो बैठा है उसी की सारी करतूत है, उसे मारना चाहिए। सभी शेर आ गये। उनमें एक लंगड़ा शेर भी था। तब हुआ कि लंगड़ा शेर तो ऊपर चढ़ नहीं पायेगा, इसलिए नीचे रखो। एक के ऊपर एक सब चढ़ गये। स्यारनी ने झट बच्चों को रुला दिया। स्यार पूछता है कि बच्चे क्यों रोते हैं ? सो स्यारनी बोली कि बच्चे लंगड़े शेर का मांस खाना चाहते हैं। लंगड़ा शेर खिसका सो सब गिर गये। ऐसे ही संकटों का मूल मोह मिटे कि सब संकट नष्ट हो जाते हैं।

इस तरह सब संकट टलेंगे और शान्ति मिलेगी तो भैया यह अपना ज्ञान जगाओ। तुम स्वयं ज्ञानस्वरूप हो, बाहर में इच्छायें न करो तो अपने आप सुखी हो सकते हो। लोक में जितने भी जीव हैं, उन सबकी मांग है कि आनन्द मिलता रहे, शान्ति मिलती रहे और जितने भी जीव जो प्रयत्न परिणमन करते हैं वह इसलिए कि आनन्द प्राप्त हो। यहां तक कि अगर कोई किसी से लड़े, झगड़े भी तो उस लड़ने झगड़ने वाले का लक्ष्य यह है कि आनन्द उसे मिले और यहां तक कि कोई तेज कषायों के वशीभूत होकर आत्महत्या भी करने का यत्न करें तो वहां भी उसका लक्ष्य है कि आनन्द मिले और जो धर्म कार्य करते हैं, व्रत करते हैं और तपस्या करते हैं, वे भी इसलिए करते हैं कि उन्हें आनन्द प्राप्त हो। यह सब जीवों का लक्ष्य है कि उन्हें आनन्द मिले। परिणमन बहुत कर डाले, राज्य कर लिया, आरंभ कर लिया, परिग्रह कर लिया, स्नेह कर लिया फिर भी कहते हैं कि हमें शान्ति नहीं मिली। इसका कारण यह है कि शान्ति पाने का उपाय है आकुलतायें न बनाना। परन्तु अशान्ति के उपाय को करके यह मोही मान रहा कि हम शान्ति के उपाय को कर रहे हैं। शान्ति का उपाय क्या है ? उपाय जो है सो है, पर यह तो जानना चाहिए कि शान्ति चाहने वाला यह भी भीतर में है कौन ? जो शान्ति चाहता है वह है क्या चीज ? इसका उत्तर बड़ा कठिन है और बड़ा सरल है। जब हम बाहर देखा करें, तो उत्तर देना बड़ा कठिन है और जब बाहरी चीजों को त्यागकर अन्तर की ओर रहें, अपने आत्मस्वरूप में विश्राम करके रहें तो उत्तर देना बड़ा सरल है। प्रयोजन यह है कि अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव न किया तो कुछ नहीं किया। यदि अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव हो जाय तो शान्ति प्राप्त हो जाय। यह मैं क्या हूँ ? जिसके जानने पर फिर अशान्ति न रहे। वह मैं क्या हूँ ? उसका उपयोग किसी इन्द्रिय द्वारा नहीं लगता। मन से भी जब

तक काम लूंगा तब तक भी अनुभव न कर पाऊंगा। जो इन्द्रिय मन द्वारा अगम्य है, चित् है, वह मैं हूँ। इस मुझमें न रूप है, न रस है, न गंध है न स्पर्श है, यह मेरी आत्मा तो ज्ञानरूप ही नजर आती है। मेरे में ज्ञान और आनन्द भरा है। ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण यह मैं आत्मा हूँ।

ऐसा उपयोग हो तो अहंकार मिट जाता है। भिन्न-भिन्न चीजें मैं नहीं हूँ। यदि हम अहंकार करते हैं और अहंकार में ही प्रवृत्ति रखते हैं तो शान्ति नहीं मिलती है। शान्ति के लिए तो परपदार्थों में अहंकार न करो। शान्ति प्राप्त करने के लिए तो शुद्ध ज्ञान करना होगा। जैसी जो चीज है उसे वैसा जान लेने से ही आकुलतायें समाप्त हो जाती हैं। ये समस्त जगत की चीजें विनाशीक हैं, सब नष्ट हो जाने वाली हैं। अपने घर में ऐसी जो चीजें मिली हैं सब नष्ट हो जाने वाली हैं। जिसका समागम है उसका वियोग भी जरूर होगा। जिसका संयोग है उसका वियोग जरूर होगा। आप जरूर जानते रहें कि जहां संयोग है नियम से वियोग जरूर होगा। संयोग में भी अशान्ति है और वियोग में भी अशान्ति है। जो मनुष्य २४ घंटे मोह में राग में पड़ा रहता है उसको आजीवन अशान्ति ही रहती है। दो महीने पहले से अगर किसी व्यक्ति को हम जानते हैं कि यह बीमारी असाध्य है इसकी तो मृत्यु ही होगी और जब वह मर जाता है तो उसके मर जाने पर ज्यादा दुःख नहीं उत्पन्न होता है। आप तो पहिले से ही जानते थे कि वह गुजर जायगा, इसलिए ज्यादा दुःख नहीं होता है। इसी प्रकार इस असार जगत में हम यथार्थता को जान जायें कि ये समस्त चीजें भिन्न हैं, जुदा चीजें हैं, भीतर में ऐसा उपयोग बने तब शान्ति मिलती है, नहीं तो शान्ति नहीं मिलती है। जो जैसी चीज है उसे वैसा मानना यही धर्म है।

अभी देखो बहुत से लोगों को जरा-जरासी बातों में गुस्सा आ जाता है। बच्चे ने कुछ कह दिया, बच्चे ने मेरा कहना नहीं माना इसी से गुस्सा आ गया। कुछ कहना चाहते हैं कहते हैं और वह वैसा नहीं कर सका तो गुस्सा आ गया। उसके ऐसी बात पैदा हो गयी बस वह दुःखी हो गया। क्यों दुःखी हो गया ? इसलिए कि उसने कहना नहीं माना। भैया ! क्यों दुःख मानते हो ये जीव सब स्वतन्त्र हैं, अपने विचार के अनुसार चलते हैं, अपने ही परिणमन से चलते हैं तुम वस्तुस्वरूप के विरुद्ध भाव क्यों बनाते हो ? इनकी जुदी-जुदी सत्ता है और ये समझ रहे हैं कि मैं इनसे मिल गया हूँ तो जो चाहूँ सो होना चाहिए। ऐसी बात को मान रखा है। यदि ऐसी बात नहीं होती तो वे दुःखी हो जाते हैं। जो जैसा है उसे वैसा मानने से ही दुःख है। एक दृष्टान्त है कि किसी गांव में एक किसान किसानिन थे। किसान को कुछ अहंकार था और किसानिन शांत थी। किसानिन चतुर भी थी। १०-१२ वर्ष विवाह को भी हो गए थे फिर भी वह किसान किसानिन को पीट न सका था। बहुत से लोग ऐसे होते हैं नीची जातियों में, जो कि अपनी स्त्रियों को मारते हैं। स्त्री को मारने में ही अपनी बहादुरी समझते हैं। तो वह किसान भी बहुत दिन हो गये थे, पीट न सका था, तो पीटने के लिए उसने सोचा कि क्या उपाय करूं ? जेठ आषाढ़ का महीना था, खेत जोतना था। स्त्री भी उन दिनों रोज दोपहर को खेत पर खाना लाती थी। जब स्त्री दोपहर को खाना लायगी तो दोनों बैलों को उल्टा जोतूंगा, ऐसा विचार किया। एक बैल का मुंह पूरब में और दूसरे का पश्चिम में कर दिया और जुवा हल रख दिया, सोचा कि ऐसा

देखकर स्त्री कुछ तो कहेगी। स्त्री को तब पीट लूंगा। पर स्त्री ने ऐसा मौका नहीं आने दिया। उसने समझ लिया कि आज पीटने के डोल-डाल में हैं। वह बेवकूफ न थी, बोली, चाहे सीधा जोतो चाहे टेढ़ा, इससे मुझे क्या मतलब, मेरा तो काम केवल खाना देने का है यह कहकर खाना देकर चली गयी।

किसान देखता ही रह गया। वह अब भी न पीट सका। तो भैया! यहां कोई किसी को दुःखी नहीं करता। ये जीव खुद ही ख्याल बनाकर दुःखी होते हैं। अगर वे अपना ख्याल बनाना छोड़ दें, और अपना सच्चा ज्ञान कर लें तो सुखी हो जायेंगे। शान्ति का कारण क्या है? जो चीज जैसी है उसे वैसा ही मानना शान्ति का कारण है। घर के ये जो जीव हैं वे आपके नहीं हैं। कोई बतला दे ये स्त्री पुत्र आदि मेरे हैं। कोई युक्ति बतला दे कि ये मेरे ही हैं। अरे वे सब जुदा-जुदा हैं, भाग्य जुदा-जुदा है। उनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। वे अकेले ही आये हैं और अकेले ही चले जावेंगे। सच तो यह है कि इस आत्मा का दूसरा कोई नहीं है। इस आत्मा का तो आनन्द ही स्वरूप है। यथार्थ बात तो यह है कि भीतर में ऐसा ख्याल बने कि मैं आत्मा आनन्दस्वरूप हूँ, मेरा स्वरूप ही आनन्दमय है, मेरा स्वरूप ही सारा वैभव है, ऐसा विचार बने तो यही शान्ति का मार्ग है। यदि ऐसा विचार नहीं बनता है तो यही अशान्ति का कारण है। मोह करते हैं और चाहें कि शान्ति हो जाय तो शान्ति नहीं हो सकती है। मोह गृहस्थी का छूट नहीं सकता क्या? मोह छूटता है और राग रहता है। मोह और राग में अन्तर है। मोह तो अज्ञान से सम्बन्ध रखता है और राग प्रीतिपरिणाम के मायने है। ज्ञान होते ही मोह मिट जाता है। ज्ञान को लक्ष्य में लेकर यह मैं हूँ, यह मेरा स्वरूप है, ऐसा यदि भाव लिए रहे तो इसे ही यथार्थज्ञान कहते हैं। राग करना तो राग है और राग में राग करना मोह है।

जैसे एक रईस पुरुष बीमार पड़ गया तो उसे कैसा-कैसा आराम देते हैं। सजा हुआ कमरा, सुन्दर पलंग-कोमल गद्दा। जो कोई आते हैं अच्छी तरह से लोग उससे बोलते हैं। किस प्रकार उनसे बात करें जिससे इनका मन बहले, ऐसा सोचकर लोग अनेकों यत्न करते हैं, मन को बहलाते हैं। ऊपर से देखा होगा, कितना आराम रहता है। रईस के पास औषधि भी रखी है। यदि उनके पास सुन्दर गद्दा न हो तो वे आराम से सो नहीं सकते हैं, देखने में यह मालूम होता है कि रोगी यह आराम चाहता है पर आराम को नहीं चाहता। अगर इनसे पूछा जाय तो कहेंगे कि बीमारी हटे, हमें दवा नहीं चाहिए, यह आराम नहीं चाहिए मैं तो चलना-फिरना चाहता हूँ। उसे आराम में राग नहीं है। गृहस्थ भी केवल मोह से, राग से दुःखी है। गृहस्थी मोह करते हैं, घर के बच्चों का पालन-पोषण करते हैं, अनेक विषयों की बातें आती हैं। किन्तु ज्ञानी गृहस्थ इनमें फँसकर भी अन्तर में इन्हें नहीं चाहता है। ये रागद्वेष बने रहते हैं, इसी से मेरे में अशान्ति रहती है, इसका स्पष्ट विश्वास रहता है। जैसी जो बात है वैसी न समझना बस इसी में अशान्ति है। अब देखिये यह देह मेरी चीज है क्या? यह देह अगर मेरी होती तो मरने पर मेरे साथ जाती कि न जाती। जहां २०-४०-६०-७० वर्ष हुए, यह शरीर छूट जाता है और जला दिया जाता है। शरीर मेरी चीज नहीं। मैं तो ज्ञानरूप हूँ, यह शरीर तो जड़ रूप है। यह मेरा नहीं है। यदि मैं मान लूँ कि यह शरीर मेरा है तो अशान्ति का कारण है। किसी ने गाली दी, गाली बहुत खराब लग

सुख यहाँ द्वितीय भाग

गयी, क्यों खराब लग गयी ? देह को माना कि मैं हूँ, और इसने मुझे गाली दी। जब देह को मानूँ कि मैं हूँ तो देह में अहंकार किया, तभी तो दुःख महसूस किया। तो जितना दुःख होता है वह सब अज्ञान का होता है। ज्ञान को बढ़ाने की कोशिश करना है, मिटाने की कोशिश नहीं करना है। सब चीजें स्वतन्त्र हैं, अलग हैं, भिन्न हैं, उनको कैसे मानूँ कि मेरी हैं? उन पदार्थों में मोह ममता करने से ही अशान्ति हो जाती है। यदि इस मोह ममता को त्याग दिया जाय तो अशान्ति दूर हो जायगी तो भीतर से इस अशान्ति को मिटाना चाहिए और उसको मिटाकर नीति में आना चाहिए। जो अपने प्रतिकूल है दूसरों के प्रति भी वह न करो। अपने को अगर कोई बुरा कहता है तो बुरा लगता है तो तुम भी बुरा न कहो। हम अगर किसी को झूठ कहें तो बुरा लगता है अतः तुम भी किसी को झूठ न कहो। तुम्हारी मां-बहिन को बुरी दृष्टि से कोई देखे तो बुरा लगता है तो तुम भी किसी की मां-बहिन को बुरी दृष्टि से न देखो। हमें किसी भी प्रकार से किसी को धोखा नहीं देना चाहिए। विषयों में तृष्णा करना यही विपदा है।

एक लकड़हारा था। ऐसी ही सभा थी, ५ पापों के त्याग का उपदेश था— (१) हिंसा, (२) झूठ, (३) चोरी, (४) कुंशील, (५) परिग्रह। ये पाप हैं। किसी को न सतावो, झूठ न बोलो, चोरी न करो, किसी भी स्त्री को बुरी दृष्टि से न देखो, ब्रह्मचर्य से रहो।

उस लकड़हारे ने यह सुनकर सोचा कि मैं हिंसा तो नहीं करता। हां हिंसा केवल करता हूँ तो जंगल में गीली लकड़ी काटता हूँ, अच्छा अब मैं सूखी ही लकड़ी काटूंगा। झूठ तो मैं बोलता नहीं। केवल भाव में १० आने, ६ आने, ८ आने बोलता हूँ। अच्छा मैं ८॥ आने की लकड़ी बेचूंगा और एक ही ॥१॥ की बात बोलूंगा। चोरी तो मैं करता नहीं, हां केवल २ पैसे चुंगी में बचा लेता हूँ, तो अब मैं नहीं बचाऊंगा। अणु ब्रह्मचर्य से रहता ही हूँ, किसी दूसरे की स्त्री पर बुरी दृष्टि नहीं डालता। अच्छा अब मैं सदा पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करूंगा। अपनी स्त्री से भी ब्रह्मचर्य का पालन रखूंगा। परिग्रह की बात यह है कि रोज आठ आने कमाऊंगा। २ आने धर्म के लिए, २ आने आफत से बचने के लिए और ४ आने में गुजर बसर करूंगा। अब वह जंगल से सूखी लकड़ी लाए और उनको बेचकर गुजर बसर करे। एक दिन वह लकड़हारा एक सेठ की हवेली के नीचे से निकला। सेठ के यहां रसोई में लकड़ियों की जरूरत थी। रसोईया घर से निकला, बोला— कितने दाम लगे ? बोला— ८ आने। तो रसोईया बोला— ५ आने लगे, नहीं ८ आने, ६ आने लगे ? नहीं। चल दिया। कुछ दूर गया, नौकर बोला अच्छा, अच्छा लौट आवो। लौट आया। बोला— ७ आने लगे, ७॥ आने लगे। लकड़हारे ने गुस्से में आकर कहा — किस बेईमान का तू नौकर है ? सेठजी सुन रहे थे कि हमको बेईमान कहता है। सेठ ने पूछा कि हमको बेईमान क्यों कहता है ? तब उसने कथा सुनायी। बताया मैंने ५ पापों का व्याख्यान सुना, इसलिए इस तरह से रहता हूँ। मैंने जो बेईमान कहा सो इसलिए कि जो जिसके संग में रहता है वह वैसा ही हो जाता है। मुझे बुलाया कि अच्छा-अच्छा लौट आवो। इसका अर्थ यही हुआ न कि ८ आने में मंजूर है। फिर कहता कि ७ आने लगे, ७॥ आने लगे। सेठ ने सोचा कि मैं भी व्याख्यान में जाता था, पर कुछ न किया। यही सोचकर उसने लकड़हारे का सम्मान किया और बोला— तुम देवता हो,

देवता के माने यह कि जिसका हृदय शुद्ध हो गया, किसी से विरोध नहीं है, समान भाव से रहता है, वही देवता है। वह सेठ उस लकड़हारे को काफी दूर तक छोड़ने भी आया। वहाँ पर यह बतलाया कि जितने भी जीव हैं सब जीवों को समान दृष्टि से देखो तब ज्ञान में प्रगति होती है। जैसे कहते हैं कि सब में भगवान हैं। सब जीवों में दया का भाव लावो, किसी भी जीव को तुम शुद्ध चैतन्यस्वरूप की दृष्टि से देखो। जो गड़बड़ हो गया है, पर्याय में रहता है, जो जन्म-मरण के चक्कर में रहता है, किसी तरह की अटपट करतूत करता है ये सब भ्रमवश विपत्तियों की बातें हैं। ये सब जीव प्रभु के जैसा स्वरूप वाले हैं। उन सब जीवों का लक्षण शुद्ध चैतन्यस्वरूप है और जितने भी ये नृत्य हैं वे सब उपाधि की वजह से हैं। इसलिए पेड़, पत्ती, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु सबमें देखो वही शुद्ध चैतन्यस्वरूप समाया हुआ है। यदि अपना शुद्ध चैतन्यस्वरूप देखने में आ जाय तो उसी को कहते हैं है सही ज्ञान। सबमें समानता का भाव अविरोधका भाव जागृत हो, उसी में देवता का निवास है। यह तो लोक प्रतिष्ठा की बात नहीं, यह ज्ञान के आश्रित की बात है। अपने आपको अपने आप में मोड़ लो तो समझो कि सब कुछ वैभव पाया। यदि यह न हो सका, बाहर में ही भटकते रहे तो ज्यों थे त्यों ही रह जावोगे। बाहर में कितना ही अनुभव कर लो कोई तुम्हारी चीज नहीं है। आत्मस्वरूप की रुचि होना चाहिए। वाह्य समागमों की भीतर में रुचि न होना चाहिए। अपने आपके हित की बातें न कीं तो आनन्द नहीं रहेगा।

एक बाबू साहब कलकत्ता जा रहे थे। एक स्त्री बोली— हमारे मुन्ना को एक खिलौना ले आना, स्त्री ने यही कहा। इसी प्रकार से ३-४-१० स्त्रियों ने यही कहा। एक बुढ़िया आयी। कहा— बाबूजी २ पैसे लो, हमारे मुन्ना को एक मिट्टी का खिलौना ले आना। बाबूजी कहते हैं कि बुढ़िया मां, मुन्ना तेरा ही खिलौना खेलेगा। ५-७ स्त्रियां आयीं, किसी ने कुछ कहा, किसी ने कुछ पर यों ही हवाई बातें उड़ाती रहीं, नकद तो तुमने ही दिया। इसी तरह ज्ञान को बना लो, उसमें ही आनन्द मिलेगा। यदि ज्ञान न बना सके तो आनन्द न मिलेगा। वाह्यपदार्थों में कितना ही भटक लो पर ज्ञान के सिवाय किसी में आनन्द न रहेगा। भोजन करते हैं तो उसके स्वाद से आनन्द नहीं मिलता है। आनन्द भोजन करने वाली चीज से नहीं मिलता है। उस चीज के प्रति ज्ञान बना लेने से आनन्द मिलता है।

जैसे कोई भोजन करता हो, सुख मानता हो तो भोजन करने से आनन्द नहीं आता। उस भोजन के प्रति ज्ञान करने से आनन्द आता है। परमार्थ में तो कल्पनाओं से भी आनन्द नहीं मिलता है। जो शुद्ध दृष्टि है, वह आनन्द की जननी है। वह ज्ञान से ही रहती है। ज्ञान में ही आनन्द है, नहीं तो बड़े-बड़े महापुरुष ६ खण्ड की विभूति को त्यागकर जंगल में क्यों चक्कर काटते? इसलिए एक ही निर्णय करो, अपने आपको देखो तो शान्ति मिलेगी, सच्चे ज्ञान से ही आनन्द होगा। सच्चा ज्ञान अपने स्वरूप में है।

मांस, मदिरा एवं बलि देने का त्याग मुकुन्दी लाल हरिजन, पल्लू लाल हरिजन, गोविन्दे हरिजन, पन्नालाल जी यादव ने किया।

शुभः कषायमान्द्येनाऽशुभस्तीव्रकषायतः।

अकषायेन शं नित्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-२६॥

अर्थ— कषाय की मन्दता से शुभ प्रवर्तन अथवा शुभबन्ध होता है और तीव्र कषाय से अशुभ प्रवर्तन अथवा अशुभबन्ध होता है और अकषाय भाव से आत्मा के निज सहज सुख विलास को प्राप्त होता है इसलिये कषाय रहित होकर मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय हैं। क्रोध गुस्से को कहते हैं, मान घमंड को कहते हैं, माया छल-कपट आदि को कहते हैं और लोभ तृष्णा को कहते हैं। ये ४ तरह के कषाय हैं, जो इस संसारी जीव में पाये जाते हैं। यह अन्दाज कर लो, क्रोध करना सब जानते हैं, घमंड भी सब करते हैं, छल-कपट भी क्षण-क्षण में करते हैं। किसी में कम कषाय हो, किसी में ज्यादा कषाय हो, पर संसार में रहने वाले हम और आप सभी जीवों में ये ४ कषाय हैं। ये चारों कषाय जब अनन्तानुबन्धी होते हैं तो स्वयं गुस्सा अधिक तेज होता है, घमंड अधिक होता है, छल-कपट भी तीव्र होता है, लोभ की मात्रा भी बढ़ी हुई होती है तब उपयोग अशुभ होता है, खोटा होता है और इस तेज कषाय का क्या काम होता है? गुस्सा हो तो लड़ाई करना, दूसरों को दबाना, मारना, पीटना तथा और-और भी बातें होती हैं ना। जब घमंड अधिक होता है तो दूसरों को नीचा दिखाना, आप ऊँचा बनने की कोशिश करना तथा ज्ञान न आना, ये सब बातें होने लगती हैं।

जब छल कपट होता है तो किसी का ऐसे ही दिल दुःखे, किसी का काम बिगड़े इसकी परवाह ही नहीं होती, बस, अपना काम बन जाय, ऐसे खुदगर्जी बन जाती है। मोह में भी यह बात होती है तो ये तो सब खोटे उपयोग हैं, अशुभ उपयोग हैं। कषाय की तीव्रता से अशुभ उपयोग होता है। इस अशुभ उपयोग का फल संकट दुर्गति ही होता है। ये सब जो दीन-दुःखी असंज्जी आदि प्राणी हैं, अशुभ उपयोग करने के फल हैं। जब ये कषाय मंद होते हैं तो कषायों से कुछ प्रवृत्ति हटती है। भगवान् की भक्ति करना, संयम करना, उपकार करना, दयाभाव रखना, दूसरों की सेवा करना ये सब कषाय मंदता में होते हैं। कषाय की मंदता में होने वाली इन प्रवृत्तियों को शुभ उपयोग कहते हैं। कषाय जब तक हैं तब तक फल में इस प्रकार का विकार होता है। शुभ उपयोग भी विकार है और अशुभ उपयोग भी विकार। अशुभ परिणाम में विशिष्टता रहती है और शुभपरिणाम में संक्षिप्तता रहती है।

आपके शुभोपयोग का फल है देव बनना, सुमानुष बनना सो शुभोपयोग के फल में हुआ क्या? देव आदि भी तो संसार में ही हैं। कषाय का फल है भगवान् से न मिलने देना, पर जब अपने स्वभाव में दृष्टि जाय तो भगवान् से भेंट हो। स्वभाव से ही आत्मा का काम कषाय करना नहीं है। जीव किसी दूसरे का निमित्त पाकर कषाय करता है। किसी दूसरे का निमित्त पाये बिना कषाय नहीं करता है। यह आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है, वह ज्ञानस्वरूप स्वयं ज्ञानस्वरूप है। उसे कषाय रहित कह लो चाहे कषाय रहित स्वभाव कह लो तो उससे इस तरह बुद्धि जगेगी कि आत्मा में कषाय थी और अब नहीं है, सो

आत्मा में कषायस्वभाव ही नहीं है। उसको कषाय सहित भी नहीं कहते और कषाय रहित भी नहीं कहते। आत्मा का स्वभाव न कषाय करना है, न कषाय रहित है किन्तु ज्ञानस्वभाव है। जानने का ही काम है। जो है उसे ही बताना चाहिए, उसे सब कुछ कहा जाता है। जो नहीं है उसे बताने से वस्तु का स्वभाव नहीं जाना जाता है। जो है वह पदवी दी जाती है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान है जो कि कषाय रहित स्वतन्त्र ही है। कषाय इसमें है ही नहीं। इसलिए कषायरहित आत्मा के स्वभाव के दर्शन होना, अवलम्बन होना, उसकी ओर झुकना तो कषाय रहित प्रवृत्ति हो जायगी और कषायरहित परिणमन हो जायगा। शुद्ध उपयोग होता है तो शुद्ध उपयोग होने से उसे निर्वाण मिलता है, मोक्ष मिलता है। तीन प्रकार का उपयोग होता है। अशुभ उपयोग तो तीव्र कषाय कहलाता है। जैसे घर के बच्चों से प्रीति पैदा होती है, घर की स्त्री में ही दिल लगा रहता है, अनेक घातक व दुराचारमय परिणाम होते हैं। शुभोपयोग मन्दकषाय कहलाता है। भगवान् की पूजा करना, स्वाध्याय करना, तपस्या करना यही सब मन्दकषाय का फल है, कषाय की मंदता का फल है। विषयभोगों में ही प्रवृत्ति रहे यही कषायों की तीव्रता का फल है।

जो सत्पुरुष होते हैं, वे सब कषायों से दूर रहते हैं और अपने को कषायरहित जानकर ज्ञानमय अनुभव करते हैं। ऐसी निज आत्मदृष्टि का होना, शुद्धस्वभाव का आश्रय करना शुद्ध उपयोग है। देखो आप सोच सकते हैं कि जो लोग घर में रहते हैं उनका समय किसी तरह से कट जाता है। बच्चे हैं, उनको खिलाया पिलाया, बड़े हुए, उनको पढ़ाया लिखाया, उनका सारा समय यों ही निकल जाता है, वे अपने ज्ञानस्वरूप की परख नहीं कर पाते हैं और मौज में समय गुजार देते हैं। वे व्यक्ति जो जंगल में रहते हैं उनका जीवन व समय भी अच्छी तरह से कैसे कट जाता है तो उनके पास क्या चीज होती है जिससे उनका जीवन अच्छी तरह से कट जाता है? उनके पास है उनके ज्ञानस्वरूप की परख। वे अपने आनन्दमय स्वरूप में डूब जाते हैं और अपने ज्ञानस्वरूप का परिचय कर लेते हैं। वे जंगल में रहने वाले भोजन करके प्रसन्न नहीं रहते हैं, वे अपने आत्मस्वरूप को ही देखकर प्रसन्न रहते हैं। वे अपने ज्ञानस्वरूप को देखते रहते हैं, केवल देखन जाननहार ही वही रहते हैं।

अपने ज्ञानस्वरूप का परिचय होने पर, ज्ञानस्वरूप को ही निरखने पर वे आनन्दमग्न हो जाते हैं। देखने वाले लोग कहते हैं कि वे जंगल में कितनी कठिनाइयों से रहते हैं, उनका जीवन कैसे पार होता होगा? अरे अपने आनन्दमय स्वरूप को देखो और अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होओ। एक ज्ञान की यह बात है, यह विश्वास होना चाहिए कि जगत में जितने भी दुःख होते हैं वे सब ख्याल बनाने से, कल्पनायें करने से होते हैं। बच्चे, स्त्री इत्यादि ने कहना नहीं माना, काम बिगड़ गया, भीतर में ऐसी कल्पनायें करके वे दुःखी होते हैं। किसी दूसरे की चेष्टाओं से कोई दुःखी नहीं होता है, वह अपने आप में ही ख्याल बनाकर दुःखी हो जाता है। अरे तू तो स्वयं आनन्द स्वरूप है, आनन्द भी कहीं बाहर से नहीं लाना है। प्रेम व्यवहार करने से आनन्द आता है, यह बात न सोचो। आनन्द केवल मेरे विचारों से ही मिलता है। हम अपने विचारों के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर पाते। अशुद्ध विचारों से ही दुःख मिलता है। दुःख देने वाला दूसरा कोई नहीं है। केवल ख्याल बनाकर ही दुःखी होते हैं। वह सब ज्ञान

सुख यहाँ द्वितीय भाग

की ही कल्पनायें हैं, ज्ञान का ही चमत्कार है, ज्ञान की ही लीला है। सुखी दुःखी होना, पुण्य पाप करना सब ज्ञान पर ही निर्भर है, ज्ञान का ही सारा चमत्कार है, दूसरे कोई कुछ नहीं करता। इसलिए अपने आपके ज्ञानस्वरूप को देखो तो आनन्द प्राप्त हो सकता है।

बाहरी चीजों से ही ज्ञान बढ़ाना, बाहरी चीजों में ही ठहरना यह तो व्यर्थ है। बाहर की दृष्टि से तो मिलेगा कुछ नहीं, केवल आकुलता ही भोगने को मिलेगी। एक पुराण में दृष्टान्त आता है कि एक भाई गुरु के पास पहुँचा। बोला— महाराज, मेरी आत्मा को ज्ञान बतला दीजिये। गुरु कहते हैं कि उस नदी में जावो, एक मगर रहता है, वह तुम्हारी आत्मा का ज्ञान बतला देगा। नदी में मगर के पास जाकर वह कहता है कि भाई मुझे मेरी आत्मा का ज्ञान बता दीजिए। मगर कहता है— भाई मुझे तेज प्यास लगी है, थोड़ा सा इस लोटे में उस पास के कुँवें से जल ले आइए। जल पी लें फिर बतायें। वह पुरुष कहता है कि मगरराज तुम तो बेवकूफ नजर आते हो। गुरु ने बताया कि मगरराज से जाकर पूछो वे बता देंगे। आप स्वयं पानी में डूबे हुए हैं फिर भी कुँवें से पानी मंगा रहे हैं। आप कहते हैं कि एक लोटा पानी कुँवें से ले आवो। मगर कहता है कि इसी तरह बेवकूफ तुम भी हो, तुम स्वयं ज्ञानस्वरूप हो, ज्ञान को छोड़कर तुम्हारे में कुछ नहीं है, फिर भी तुम ज्ञान को पूछने आये हो। सो भैया ! जब तक यह विश्वास न बनेगा कि मैं प्रभु का जैसा स्वरूप वाला हूँ, तब तक कल्याण न होगा। कहते हैं कि प्रभु तो घट-घट में विराजमान हैं, घट-घट में प्रभु हैं। तो अपना महत्व जब तक समझ में न आवे कि मैं ही अपने लिए सब कुछ हूँ मेरे लिए मैं ही हूँ, जब तक अपना पुरुषार्थ समझ में नहीं आता तब तक कुछ न कर सकोगे। अपने परमार्थ स्वरूप को देखो, अपना स्वरूप अपने ज्ञान में आना चाहिए।

एक पुरुष था। उसे उसकी स्त्री ने बहुत समझाया कि अमुक पाप छोड़ दो, कुछ न कुछ धर्म के काम कर लो, पर वह न करता। उसने पति को एक ठाकुर की मूर्ति दे दी और कहा कि इसकी रोज पूजा कर लिया करो व २४ घंटे के लिए पाप छोड़ दिया करो। वह २४ घंटे में एक बार पूजा करता था और २४ घंटे के लिए पाप छोड़ देता था। एक बार उसने देखा कि जो चावल पूजन करने में चढ़ते थे उन्हें चूहा खा जाता है। उसने समझ लिया कि चूहा इस देव से भी बड़ा है। वह उस चूहे की पूजा करने लगा। ठाकुर की मूर्ति की पूजा छोड़ दी। एक दिन एक बिल्ली चूहे पर झपटी तो उसने समझा कि बिल्ली बड़ी है सो वह बिल्ली की पूजा करने लगा। एक कुत्ता बिल्ली पर झपटा तो उसने कुत्ते को सबसे बड़ा समझा तो उस कुत्ते की पूजा करने लगा। एक दिन स्त्री रोटी बना रही थी, रसोई में वह व्यक्ति भोजन कर रहा था। कुत्ता रसोई के अन्दर घुस गया। स्त्री ने एक बेलन कुत्ते के मारा। अब वह पुरुष स्त्री को सबसे अधिक बड़ा मानकर पूजा करने लगा। स्त्री ने एक बार खाना बनाया तो दाल में नमक ज्यादा डाल दिया। बोला — यह नमक दाल में क्यों ज्यादा हुआ ? स्त्री बोली — हाथ ही तो हैं, ज्यादा पड़ गया तो क्या करें, थोड़ा सा गर्म पानी डालकर दाल में मिला लो, ठीक हो जायगी। यह जवाब सुनकर उसने स्त्री को २-३ तमाचे जड़ दिये, वह रोने लगी। अब उसने समझा कि मैं ही सबसे बड़ा हूँ, वह अपनी पूजा करने लगा। यह तो मात्र कथा है, पर शान्ति और आनन्द तो खुद में

ही है। चाहे जितनी जगह डोल-आवो शान्ति और आनन्द कहीं बाहर में नहीं मिलेगा। भैया! यदि धर्म साधना करो तो तिरोगे। भगवान की सच्ची भक्ति हो तभी धर्मसाधना बढ़ सकती है।

मनोवाक्कायवृत्तीनां निवृत्तेरुपदेशनम्।

स्वस्थित्यै स्वस्थितौ शान्तिः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-३०॥

अर्थ- मन वचन काय की प्रवृत्तियों की निवृत्ति का उपदेश स्व आत्मा में स्थिति के लक्ष्य के लिये होता है और स्वात्मा में स्थिति होने में ही शान्ति है इसलिये मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

मनोवाक्कायवृत्तिश्चे च्छुभैवास्तूपदेशनम्।

स्वस्थित्यै स्वस्थितौ शान्तिः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-३१॥

अर्थ- मन वचन काय की प्रवृत्ति होती हो तो शुभ ही होओ तथैव उपदेश स्वकी स्थिति के लक्ष्य से होओ निश्चय से शान्ति स्वकी स्थिति में ही है इसलिये मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

दुःखों का कारण मन, वचन, काय की प्रवृत्ति है। मन की प्रवृत्ति से, वचन के व्यवहार से और शरीर की चेष्टाओं से कोई न कोई प्रकार के क्लेश होते हैं। इसलिए ऋषि देवों ने इन तीनों प्रवृत्तियों को हटाने का उपदेश दिया है। मन का निरोध करना, वचनों का बन्द करना, शरीर की चेष्टायें बन्द करना, इस तरह से जो तीन उपदेश दिये हैं वे इसलिए दिये हैं कि यह आत्मा बाहर की बातों से हटकर अपने आप में रम जाय। गृहस्थी को उपदेश है कि वह मन से प्रीति चाहे रखें, बच्चों से व्यवहार चाहे रखें, पर वे दूसरों की सेवा और दया करें, सबका भला सोचें। मन की वृत्ति अच्छी क्या कहलाती है कि सब जीवों में सुखी होने की भावना हो, सब जीवों में सदबुद्धि उत्पन्न होने की अभिलाषा हो, सब जीव सुखी हों, सब जीवों में सदबुद्धि हो और समता जगे, ऐसी भावना करने का नाम मन की वृत्ति का अच्छापन कहलाता है। सदबुद्धि बिना ही जगत में विवाद और कलह उत्पन्न होते हैं। राष्ट्र की कलह हो, समाज की कलह हो, घर की कलह हो ये सब सदबुद्धि के अभाव से होते हैं। जब किसी के मन में दुर्बुद्धि उत्पन्न होती है तब ईर्ष्या और क्रोध उत्पन्न होता है। सो दुर्बुद्धि वाले चूँकि अपनी-अपनी बुद्धि को खो बैठे हैं इसलिए उनपर ही विपत्तियाँ आती हैं। इसी कारण लोक में यह प्रसिद्धि है कि जो दूसरों का बुरा विचारता है उसका बुरा पहिले होता है। यह बात बिल्कुल ठीक है क्योंकि दूसरों का बुरा विचारने से दुर्बुद्धि हुई, सदबुद्धि नहीं हुई। दुर्बुद्धि होने से आत्मा का भविष्य खराब होगा। चाहे लोक दृष्टि से पुण्य का उदय होने के कारण दूसरों पर अन्याय अत्याचार करें और उसमें सफलतायें मिलें, पर अन्तिम परिणाम इसका पतन कार्य ही है। दुर्बुद्धि होने पर अपनी सदबुद्धि नष्ट हो जाती है यही सबसे बड़ा टोटा है, सबसे बड़ा नुकसान यही है। इसलिए अपनी सुख शान्ति के वास्ते यही आत्मदेव से प्रार्थना करो कि हे प्रभु मेरी सदबुद्धि जागृत रहे। बुद्धि बिगड़ी कि सब बिगड़ा। तो अपने मन का विचार ऐसा बनाओ कि जगत के सभी जीव सुखी हों, उनमें सदबुद्धि जागृत हो, सब न्यायपूर्वक रहकर सुख प्राप्त करें, इसे ही कहते हैं मन की सदबुद्धि। राष्ट्र क्यों दुःखी है कि मन में असदभावनायें घर

सुख यहाँ द्वितीय भाग

कर गयी हैं। अधिकतर मनुष्यों का मन दुर्भावनाओं से ग्रस्त हो गया है, इस कारण सब मनुष्य भयशील हैं। यदि लोगों का विचार शुभ स्वच्छ हो तो विपदाओं का कोई कारण नहीं है। घर में हो, गांव में हो हम आपके प्रति बुरा विचारते हैं, आप हमारे प्रति बुरा विचारते हैं, मन से मन नहीं मिलता, एक दूसरे को नहीं सुहाते—ऐसी दृष्टि आपकी हो जाती है तो सब अपने अपने से बैठे हुए दुःखी हो रहे हैं। मिलता क्या है दूसरों का बुरा विचार करने से, केवल अहंकार। जब तक दूसरों का बुरा विचारोगे तब तक लाभ कुछ भी नहीं मिलेगा। दूसरों का बुरा सोचने से कोई मुनाफा मिलेगा क्या ? कोई भी तो मुनाफा नहीं मिलेगा। उल्टा मन बिगाड़ लेने से तो अपने को विपत्तियों में फंसना होगा, कर्म बन्धनों में फंसना होगा। कर्म बन्धनों में फंसने से आकुलतायें आयेंगी। इसलिए अपने को पवित्र रखने के लिए अपने प्रभु के स्वरूप को समझो। प्रभु के स्वरूप के समान अपने स्वरूप को भी समझो। इसमें किसी प्रकार का दुर्भाव न आये, ऐसा मन में भाव बने, यही बात की बात है। ऐसा ज्ञान गृहस्थी के भी होता है। यदि कोई शत्रु बनकर तुम्हारा जान, धन हड़प करने आवे तो उसका भी मुकाबला करो। दुश्मन का मुकाबला करते हुए उसके प्राण चले जायें तो भी सम्यग्दृष्टि की भावना बुरी नहीं होती है। इतना तक कर लेने पर भी अन्तर में उसके प्रति सद्भाव ही रखा है। श्रीराम भगवान गृहस्थावस्था में रावण से लड़ रहे थे और काफी विजय प्राप्त कर ली, रावण असहाय हो गया, तब राम ने यह कहा कि ऐ रावण ! अभी कुछ नहीं बिगड़ा, सीता को वापिस कर दो और तुम अपना राज्य करो। मगर रावण की बुद्धि खो गयी, दुर्बुद्धि ने मन को जकड़ लिया। वह अहंकार से परिपूर्ण था। रावण अपने मन में कहता है कि यदि राम को जीते बिना सीता को यों ही दे दिया तो लोगों में मेरी इज्जत खराब होगी। लोग यह समझेंगे कि घबड़ा-कर, परास्त होकर, हार मानकर रावण ने सीता को वापिस कर दिया। उसका उस समय यह भाव हो गया था कि राम को जीत लूं, राम पर विजय प्राप्त कर लूं, राम हार जाए, ऐसी स्थिति करके फिर मैं सीता को वापिस दूं तो मेरी दुनिया में बड़ी इज्जत रहेगी। ऐसा सोचकर सीता को वापिस देने के लिए राजी नहीं हुआ। अन्त में क्या हुआ कि रावण की मृत्यु हो गयी।

जब दुर्भाव से मन जकड़ जाता है तो सही रास्ता क्या है इसका ख्याल भी नहीं आता है। यह अपने आपको बिल्कुल भूल जाता है। इसलिए सबसे बड़ा धन है बुद्धि का व्यवस्थित रहना। कोई मनुष्य पागल हो, दुःखी हो, अटपट बकता हो, यहां वहां दौड़ता फिरता हो। क्यों इतना अटपटा हो गया है इसलिए कि अपने को बिगाड़ लिया है। उसमें खराबी क्या आयी कि बुद्धि बिगड़ गई, बुद्धि चंचल हो गयी, अव्यवस्थित हो गयी, इसी को कहते हैं पागल होना। पागल होने में कितने दुःख हैं इसका तो देखने वाले अन्दाज कर सकते हैं। जिसका ज्ञान ठिकाने नहीं है वह अपना भी दुःख क्या जाने ? केवल भोगते ही बनता है। पागल का जीवन तो बेकार है। सभी लोग अनुभव करते हैं कि पागल है, सिरी है, उसका जीवन बेकार समझते हैं। सो भैया ! यदि किसी का जीवन अधिक अव्यवस्थित हो गया तो उसने भी पागल का रूप ले लिया। बुद्धि जरा कम व्यवस्थित है, बुद्धि बिगड़ी हुई है, दुर्बुद्धि है, उसका जीवन बेकार है। कोई बहुत बेकार है तो कोई इससे थोड़ा बेकार है। सबसे बड़ा धन है अपना ज्ञान सही बनाकर

सुख यहाँ द्वितीय भाग

रखना। यदि अपना ज्ञान अपने काबू में है, अपने में संयत है तो हम उस ज्ञान से अपनी इच्छा से चल सकते हैं। ऐसे सुधार में हम प्रसन्न रहते हैं। सो भाई मन को स्वच्छ रखना, सब जीवों को एक समान समझकर सबके सुखी होने की भावना रखो, यही गृहस्थी का कर्तव्य है। दूसरे अपने वचनों का व्यवहार शुद्ध रखना, मनुष्यों का धन वचन ही तो है। वचनों से ही मनुष्यों की सारी परख होती है। वचनों से ही इस जीव को सुख बन गये हैं और वचनों से ही दुःख बन गये हैं।

एक पंडित जी सुनाते थे कि कोई भाई देहात का हरिद्वार यात्रा करने गया। सो वहां बड़ा बीमार हो गया, वह अकेला था, कुछ कम बुद्धि का था। बीमार हालत में वह यहां वहां देखता है, सोचता है कि यहां कोई सहारा नहीं मिलेगा। खोह में एक झौंपड़ी थी, झौंपड़ी में एक बुढ़िया मां रहती थी। वह बोला मां, मैं बीमार हूँ मुझे शरण चाहिए। मां बोली— बेटा जो पथ्य हो बताओ। क्या खिचड़ी बना दूँ, खिचड़ी भी तैयार कर दी। बुढ़िया खिचड़ी बना रही थी और वह कहता कि मां क्या तुम अकेली ही हो ? हां बेटा, अकेली ही हूँ। तो तुम्हारे कोई नहीं है, लड़का तो है परदेश में रहता है। तो मां वह मर जाय तो क्या करोगी ? अरे यह तो असगुन की वार्ता करता है। यों ही वह कम बुद्धि का था। बोली— ऐसी अटपट बात क्यों करता है ? तो मां तुम्हारे यहां कोई नहीं है। तो क्या तुम्हारा विवाह करा दें। ऐसी ही एक आधी बात और खोटी बुढ़िया को कह दी। अब तो बुढ़िया ने उसको निकाल दिया। तो इन वचनों से ही परदेश में आराम से रह सकते हैं। और इन्हीं वचनों के दुर्व्यवहार से घर में भी सुख से नहीं रह सकते हैं। वचन बाण अगर लग जाये तो यह बिंध सकता है। वचन बाण से लगा हुआ दिल का घाव कठिन हो जाता है। हथियार का घाव तो भर जायेगा। वचन-बाण जिसके दिल में लगता है तो उस जगह का घाव फिर नहीं भरता है। इसलिए वचन बहुत संभालकर बोलना चाहिए। धनुष से छोड़ा गया बाण जो घाव करे उसको भरा जा सकता है, पर वचनों से निकले हुए बाण के घाव करने पर नहीं भरा जा सकता है। वचनों के बाण से वो लड़ाई ही बढ़ेगी। यह मनुष्य का शरीर पशुओं के शरीर से भी गया बीता है। पशुओं की चाम, बाल, हड्डी इत्यादि काम आती है, पर मनुष्य की चाम हड्डी, बाल इत्यादि कोई भी चीज काम नहीं आती है। मनुष्य का शरीर किसी काम में नहीं आता है तो यह पशुओं के शरीर से भी गया बीता शरीर है। इसीलिए यह शरीर जला दिया जाता है। जल जाने पर तो खाक ही हो जाता है। मतलब यह है मृत्यु के बाद यह शरीर उपयोग में नहीं आता है। ये मन, वचन व शरीर इनको पूर्ण रूप से रोक दो। यह पूर्ण विरोध साधु महात्माओं का कार्य है। गृहस्थी का क्या कर्तव्य है कि वह मन से व्यवहार अच्छा रखें, वचन, वाणी का व्यवहार अच्छा रखें और शरीर से दूसरों की सेवा करें। हम अगर इस लायक हो सकें तो अपने आप में रम सकते हैं। अपने आपके ज्ञान को सही रखो। अपने ज्ञान को सही बनाने में ही शान्ति है। अपने आपकी व्यवस्था बनाकर स्वयं सुखी होओ।

शुद्धोपयोगलक्ष्येनात्मा स्वयं रक्ष्यते तदा ।

स्वस्मिन् स्वमेव वेत्यस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३-३२॥

अर्थ— शुद्ध उपयोग के लक्ष्य से आत्मा स्वयम् रक्षित हो जाता है और उस समय वह आत्मा अपने में अपने को जानता रहता है अतः शुद्ध उपयोग स्वभावी मैं अपने में अपने अर्थ अपने आप सुखी होऊँ।

यह परमार्थ की बात कही जा रही है किन्तु आजकल कुछ दुर्भाग्य से कहिए, चीन और भारत के बीच में युद्ध का वातावरण ठन गया। जितनी बेचैनी यहां पर है उतनी ही बेचैनी चीन में भी होगी। जितना डर और भय यहां है उतना ही वहां भी होगा। ऐसे वातावरण में जरा कठिन बात है कि ब्रह्मस्वरूप की चर्चा में बैठने में अपना उपयोग लगायें। यह देह मायास्वरूप है, गृहस्थी में रहने के नाते कुछ अगर कर्तव्य है तो कई घंटे तो पड़े हैं। अगर चौबीस घंटों में दस पन्द्रह मिनट आधे घंटा ऐसा समय बीते, आत्म तत्व की चर्चा में जायें, फिर देखना अपना आत्मबल का बोध होता है। बाहरी बातों में पड़कर अपना आत्मबल घटा लेते हैं। अगर हम बाहरी बातों में उलझ जायेंगे तो हमारा आत्मबल घटेगा। आत्मबल इससे बढ़ेगा नहीं। हमको अपने आत्मतत्व में रमने का यह कर्तव्य है कि हम अपने वस्तुस्वरूप की चर्चा में आवें और अपने उपयोग को शांतिमय बना लें।

कुछ क्षण ऐसा देखो कि चाहे चीन के लोग हों, चाहे भारत के लोग हों, चाहे पशु-पक्षियों के जीव हों, चाहे पेड़-पत्तियाँ हों, सब जीवों का स्वरूप एक चैतन्यस्वरूप है। ऐसी दृष्टि बने तो आत्मा में बल जागृत होता है। तो अपने आत्मबल का परिचय हो, फिर कर्तव्य दिशा में बढ़ो तो फिर अपना कर्तव्य समझ में आता है। यदि कोई मनुष्य अपने घर का अधिकारी है मगर अपनी बुद्धि को बिगाड़ देता है तो वह अपने सन्मार्ग को खो देता है, शुद्ध मार्ग में नहीं चल पाता है।

इसी प्रकार इस धन संचय में, खाने पीने में, विषयभोगों में, सामाजिक कर्तव्यों में, राष्ट्रवाद में ही रहे और अपने आत्मस्वरूप को न देख सके, अपने आत्मस्वरूप में न रम सकें, ज्ञानस्वरूप को ज्ञान में न रख सके तो कुछ समय बाद अपने परमार्थस्वरूप का स्मरण न रह सकेगा, अपने आत्मबल को खो देगा और उन कामों को भी बहुत अच्छी तरह न कर सकेगा। प्रभु की भक्ति, आत्मचिन्तन, ब्रह्मस्वरूप की दृष्टि इत्यादि करने योग्य काम हैं। २४ घंटे में दस पांच मिनट अपना आत्मबल बढ़ाने का चिन्तन करें, फिर कर्तव्य मार्ग पर आकर अपने को सही मार्ग पर ले जावें। अपने २४ घंटे के समय में कुछ समय चर्चा में दो, कुछ समय प्रभु का स्मरण करो। यदि प्रभु की भक्ति नहीं कर सकते तो इस तरह की बातों को नहीं बना सकते तो व्यवहार के कामों में भी ऐसी सफलता न मिलेगी। इस कारण प्रथम कर्तव्य है कि ज्ञान को बढ़ाओ। शुद्धस्वरूप की, आत्मस्वरूप की, ब्रह्मस्वरूप की खबर अगर न ली तो समझो कि अपने को जगत में भूल गए, अपनी देह को भूल गये, सबको छोड़ दिया। केवल ज्ञानप्रकाश की बात उपयोग में कुछ जरूर लावें। इस ज्ञान के स्पर्श से आत्मबल जागृत होता है। जो आत्मबल को सही रखेंगे तो खराब समय में भी विकास का यत्न हो सकता है। आत्मा की शक्ति अचिन्त्य है और

जो भी शक्ति है वह ज्ञान की ही शक्ति है। विज्ञान में जो भी बात होती है वह ज्ञान की ही शक्ति है। जो पौद्गलिक चीजों को बनाता है वह ज्ञान में ही तो बनाता है। जो कुछ चमत्कार है वह इस ज्ञान का ही है।

अपने ज्ञान को सही रख सकें, ऐसा वातावरण बनाने की चेष्टा करो। यदि हमने अपनी बुद्धि को खो दिया तो सब कुछ खो दिया। सो अपना आत्मबल बढ़ाने के लिए देखो कि यह मैं आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप केवल ज्ञान और आनन्द का ही काम करता हूँ। इसके आगे आत्मा का कोई कार्य नहीं है, ऐसा जानकर सबसे विकल्प हटाकर परमविश्राम में रहूँ तो एक बल उत्पन्न हो जिससे बुद्धि व्यवस्थित रहती है। मेरी यथार्थव्यवस्था हो तो मेरा सब काम ठीक है। यह प्रार्थना करो कि हे प्रभु! मेरी बुद्धि व्यवस्थित रहे।

नश्येते निर्ममत्वेन रागद्वेषौ ततः सुखम्।

निर्ममत्वं विचिन्त्यातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-३३॥

अर्थ- ममता रहित परिणाम से रागद्वेष नष्ट हो जाते हैं और उस स्थिति से सुख होता है इसलिये ममता रहित परिणाम का विशेष चिंतन करके मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

यदि रागद्वेष मिटते हैं तो निर्ममता से मिटते हैं। अर्थात् मोह ममता न हो तो रागद्वेष मिट जाते हैं। जैसे हरे वृक्ष की जड़ कट जाने पर पेड़ सूख जाता है। उसी प्रकार मोह के मिट जाने पर सब रागद्वेष संकट नष्ट हो जाते हैं, मिट जाते हैं। क्योंकि रागद्वेष का आधार है अज्ञान। आपके सामने यदि अंधेरा रहता है कि जो परवस्तु हैं उसमें ही मैं हूँ, ऐसा पराधीन होता है तो यह आवश्यक ही है कि उसमें रागद्वेष आवें और भक्ति के विरुद्ध व मुक्ति के विरुद्धभाव उत्पन्न हों। राग और द्वेष आत्मा में मिले होते हैं, उपाधि के निमित्त से होते हैं इस कारण पृथक् हैं। जीव स्वयं ज्ञानमय हैं सबसे न्यारा है। केवल अपने ही स्वरूप में है, ऐसा भिन्न एकत्व न सोचने के कारण जीवों की बाह्य में दृष्टि हो जाती है और वे इन-बाह्य पदार्थों में ज्ञान और आनन्द प्राप्त करने की आशा करते हैं। जैन धर्म ने सब मूल बातें बतलाई हैं। हम अपने मोह को छोड़ें तो शान्ति रहेगी। मोह कैसे छोड़ा जा सकता है? इसकी युक्ति वस्तुस्वरूप का ज्ञान बताया है। समस्त वस्तु अपने अपने स्वरूप में हैं अपने अपने गुण पर्याय में हैं। किसी वस्तु का किसी दूसरी वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं है। किसी वस्तु का पर्याय किसी दूसरी पर्याय में नहीं है। ऐसे स्वतंत्र स्वतंत्र सब पदार्थों को देखो अपने एकत्वस्वरूप का दर्शन आवे तो जीव का मोह खत्म हो जाता है। भाई! फिर मोह कैसे रहता है? किसी चीज को जुदा मान लिया तो मोह कैसे रहा? यह समझो कि सब जुदा-जुदा हैं।

सब अपने अपने उत्पादव्ययघ्नौव्य में रहते हैं, सब पदार्थ स्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं। अपने स्वत्व को नहीं छोड़ना है। जो चीज सत् की है वह सदा के लिए रहती है। वस्तु का प्रतिक्षण एक-एक परिणाम रहता है। वस्तु प्रत्येक समय परिणामती रहे यह वस्तु का खास काम है कि वह सदा परिणामती रहे। परिणामन

ही वस्तु का स्वभाव है। नई शक्ल बनाना और पुरानी शक्ल बदलना यही तो वस्तु का स्वभाव है। पदार्थ परिणमनशील है, वे निरन्तर परिणमते ही रहेंगे। जो निरन्तर परिणमते हैं उनमें नई शक्ल आती और पुरानी बदलती रहती है। जो नई परिणति होती है उसे उत्पाद कहते हैं और जो पुरानी परिणति विलीन होती है उसे कहते हैं व्यय। पर पदार्थ सदा रहता है इससे पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यमय है। जो स्वरूप वस्तु का है वह बना रहता है फिर भी वह अपने आप बदलता रहता है, ऐसा ही सब पदार्थों का ढंग है। प्रत्येक चीज की परिणति है। कोई चीज अपनी मानने से हो जाय तो यह नहीं हो सकता है, क्योंकि यह तो स्वरूप से बाहर की बात है, किसी चीज को मान लिया कि हमारी है तो यह मन की बात है। पदार्थों का परिणमन जाना ही काम है। पर वे पदार्थ तुम्हारे बन जायें ऐसा नहीं हो सकता है। क्योंकि यह स्वरूप से बाहर की बात है। मुझ पर तुम्हारा बस नहीं हो सकता है, ऐसा जब ज्ञान में आता है कि परपदार्थ जुदा हैं, स्वतन्त्र हैं, किसी का किसी से कोई सम्बन्ध नहीं है ऐसा यथार्थ ज्ञान हो जाने से सम्यग्दर्शन होता है। इससे मोह नष्ट हो जाता है। जैसे वृक्ष की जड़ कट जाने पर पेड़ कब तक हरा रहेगा इसी प्रकार मोह के दूर होने पर, अज्ञान के नष्ट होने पर ये रागद्वेष कब तक रहेंगे ? ये तो मिट जायेंगे। मोह के मिटने पर रागद्वेष मिट जाते हैं। दुःखों के देने वाले ये रागद्वेष ही हैं। दुःख देने वाले दूसरे पदार्थ नहीं हैं।

यदि रागद्वेष मिट गए तो दुःख मिट गए। यहां बैठे-बैठे ही सुखी बन सकते हो। भीतर में शुद्ध दृष्टि बन जाय तो आनन्दमग्न हो सकते हो। तो राग द्वेषके मिटने से ही सुख होते हैं। इस कारण अपने आपको निर्मम ही विचारना चाहिए। ममता करना एक पौद्गलिक परिणमन है, कर्मों के अनुसार होने वाली चीजें हैं। वे मेरी हो ही नहीं सकती हैं, मेरा स्वभाव तो ज्ञान और आनन्द को लिए हुए है बाकी तो कषाय हैं दूसरों में मोह वाली परिणति है। ऐसा विचारकर मैं अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

मुक्तेदं कल्पनाजालं मनोऽदो निश्चलं भवेत्।

न क्लेशो निर्विकल्पः सन् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-३४॥

अर्थ— इस कल्पना जाल को छोड़कर यह मन निश्चल हो जावे फिर लेशक्लेश नहीं है इसलिये निर्विकल्प होता हुआ मैं अपने में अपने अर्थ स्वयं सुखी होऊं।

कहते हैं कि इन कल्पनाओं को छोड़ दो तो यह मन निश्चल हो जाता है, किसी का मन चलायमान हो तो आकुलतायें उत्पन्न होती हैं। आकुलतायें यदि दूर करनी हों तो मन को निश्चल बनाओ। आकुलतायें जड़ से समाप्त करने का उपाय सम्यग्ज्ञान है। जब तक सही ज्ञान न हो तब तक आकुलतायें होना, समाप्त नहीं होती हैं। सो भाई सम्यग्ज्ञान करके कल्पनाओं को मिटाना चाहिए। कल्पनाजाल के मिट जाने पर ही यह मन निश्चल हो जाता है। इस मन के निश्चल हो जाने पर कोई क्लेश न रहेंगे। अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूप का अनुभव रहेगा। इससे ही यह जीव निर्विकल्प हो जाता है, निर्विकल्प होने पर इस

सुख यहाँ दिलीप भाग्य <http://www.vandarnishashtra.org/>

शरीर के सारे क्लेश मिट जाते हैं। देखों जीव को यहां सुख है क्या ? कहीं-आराम-से-बैठ-नहीं-प्राता है आराम नहीं मिलता है तो भैया यह रागद्वेष हैं इसलिए आराम नहीं, आकुलतायें हैं। सो यह जीव आकुलतायें ही तो करता है, और मोह भी व्यर्थ का ही है। मोह करने से अपने को कुछ मिल जाता हो सो मिलता भी कुछ नहीं है। हजारों को देख लिया है, कितने ही मुर्दे जला चुके होंगे, किसी किसी को ४०-५० मुर्दों के जलाने का नम्बर आया होगा, किसी किसी को कर्म, तो ख्याल रखो कि उन्होंने आजीवन मोह किया था पर मिला क्या ? इस जीवन में मोह से कुछ नहीं है जिन्हें मोह है उन्हें लाभ कुछ नहीं मिलता। कितने ही घर के लोग गुंजरे होंगे, रिश्तेदार गुंजरे होंगे, उनका ख्याल तो कर लो। उन्होंने मोह किया था कि नहीं, राग किया था कि नहीं ? तो जो मर गये उन्हें क्या मोह से कुछ लाभ मिला ? उनको कोई लाभ नहीं मिला। लाभ तो केवल जुदा रहने में है। जिसमें ये जीव भला समझते हैं उसमें टोटा ही पड़ता है। मन जब निश्चल नहीं होता है तो विकल्प उत्पन्न होते हैं, आकुलतायें होती हैं। विपदा से न घबड़ावो, विकल्प न करो, सब जीव हैं, सबके साथ कर्म लगे हुए हैं। उनका ही कर्म उनके जीवन में रक्षक है। किसी का भाग्य बन गया है तो अपने आपके उदय से बन गया। तो उनका फल उनमें ही है। हमारा फल हम में ही है। जिन भाव कर्मों के निमित्त से कर्मबन्धन हुआ था उन कर्मों के अनुसार तुम्हारी व्यवस्था चलती रहती है। इसी तरह से सब जीवों के साथ कर्म लगे हैं। इसलिए उनकी कर्मों के अनुसार व्यवस्था चल रही है। दूसरों का भार अपने में न लाना यही मन को निश्चल बनाने का उपाय होगा और इससे ही स्वयं निर्विकल्प हो सकेगा। दुःखों की जड़ तो मोह ही है। तो इस मोह को त्यागकर अपने स्वरूप को देखो और अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होओ।

ज्ञानं ज्ञानं न कोपादि तत्तज्ज्ञानं सुस्फुटम्।

स्वस्मिन् ज्ञानेस्थिरीभूय स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-३५॥

अर्थ- ज्ञान ज्ञान है क्रोधादिक नहीं होता और क्रोधादिक क्रोधादिक है ज्ञान नहीं होता यह निर्विवाद प्रकट है इसलिये ज्ञानस्वरूप स्वमें स्थिर होकर मैं स्वयं अपने में अपने लिये सुखी होऊँ।

देखो जैसे एक दर्पण है तो दर्पण का स्वरूप दर्पण ही है। जो स्वरूप अपने आप दर्पण में है वह उस दर्पण का स्वरूप है। जैसे स्वच्छता झलझलाहट आदि के दर्पण के स्वरूप हैं किन्तु सामने कोई चीज आ जाय तो दर्पण में उसकी छाया पड़ती है तो भेद करके बताओ-दर्पण का स्वरूप स्वच्छता है कि प्रतिबिम्ब ? दर्पण का खुद का स्वरूप झलझलाहट है, प्रतिबिम्ब पराई बात है, वह दर्पण का स्वरूप नहीं है। इसी तरह आत्मा का स्वरूप केवलज्ञान है। जान लो, शुद्ध जान लो यही आत्मा का स्वरूप है पर जब कर्मोदय सामने होता है तो इस जीव के क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि उत्पन्न हो जाते हैं। यह तो बतलावो कि क्रोधभाव भी इस जीव का स्वरूप है या मात्र ज्ञान ही इस जीव का स्वरूप है ? जीव का स्वरूप क्रोधभाव है कि ज्ञानभाव है ? जीव का स्वरूप ज्ञानमात्र है। क्रोध प्रकृति के उदय का निमित्त पाकर ये क्रोध भरे हुए हैं। क्रोध मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो मात्र ज्ञानस्वरूप ही हूँ, ज्ञान तो ज्ञान ही है, इससे क्रोध नहीं बन जाते हैं। ज्ञानस्वरूप तो मेरा ही स्वरूप है। इस ज्ञानस्वरूप की ओर ही झुकाव

हो तो वह ज्ञान में समाता जायगा। ज्ञानका सुधार अपने आपसे ही होगा। अपने ज्ञान का सुधार हो ऐसा यह केवल अपने आपके समाधान पर निर्भर है। अपने आपका स्वयं अनुभव करो। जिसके ज्ञान होता है उसके क्लेश खत्म हो जाते हैं और उसे मोक्ष के मार्ग में आना पड़ता है। सबसे प्रथम कर्तव्य यह है कि अपने ज्ञान से अनुभव बनाकर अपने आपमें यह अनुभव करते रहो कि मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानस्वरूप ही हूँ ऐसा जब अनुभव बन जायगा तो अपने आपमें स्वाद आ जायगा और उस जीव को मोक्षमार्ग मिल जायगा। मोक्षमार्ग में मिलना मेरा काम है क्योंकि शुद्ध बात मेरे स्वरूप में ही मिलेगी। सबसे बड़ा महत्व लोग देहरक्षा का समझते हैं तो क्या देह रक्षा से आत्मा के स्वरूप का अनुभव होगा? नहीं, क्यों जी, यहां से मरकर चीन में ही अगर पैदा हो गए होते तो उनके उल्टे विचार होते, यह सब मोह का स्वाङ्ग है। अपना लक्ष्य केवल अपने आत्मा की ओर होना चाहिए। आत्मा का जो स्वरूप है उसका अनुभव करना बस इससे ही आनन्द है। शरीर तो मुझसे पृथक् है। देखो भैया! सब आकर इस मूर्ति के दर्शन करते हैं। और इस मूर्ति के दर्शन करने से ही भगवान के दर्शन होते हैं। यदि भगवान के स्वरूप का स्मरण होगा तो आत्मा के स्वरूप का भी स्मरण होगा। आत्मा का स्मरण होने से मोक्षमार्ग निकट है। सारे विकल्पों को छोड़कर अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव करो इसी में कल्याण है। यदि इतना कर सके तो यही धर्म है, अपना परम कर्तव्य है। अपने आपको सम्भालने के ६ कर्तव्य हैं— (१) भगवान की पूजा करना, (२) अपने गुरु का सत्कार करना, (३) स्वाध्याय करना, (४) नियम संयम करना, (५) इच्छाओं का निरोध करना, (६) यथाशक्ति दान देना।

ये ६ काम रोज के हैं। इन बातों को करते हुए अपना स्वरूप लक्ष्य में लेना, यही अपने जीवन को सफल बनाने का उपाय है।

तप इच्छानिरोधोऽतः कर्म निर्जीयते ततः।

तपस्तप्त्वा च शुद्धः सन् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३-३६॥

अर्थ— इच्छा रोकना अर्थात् दूर करना तप है इससे कर्म निर्जीण होता है उसी कारण से मैं तप को तपकर अर्थात् इच्छा को दूरकर शुद्ध होता हुआ अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

इच्छाओं के निरोध करने का नाम तप है। इच्छाओं का निरोध प्रत्येक कल्याणार्थी को करना चाहिए, चाहे वह गृहस्थी हो, चाहे साधु हो, अपनी अपनी पदवियों, अपनी योग्यता के अनुसार इच्छाओं का निरोध करना चाहिए। गृहस्थी इच्छाओं का निरोध कैसे करें? उनकी इच्छानिरोध की मुख्य बात यह है कि गृहस्थी का सम्बन्ध है कमाई से, धन के उपार्जन से, सो जितनी आय उनकी हो उस आय के चार छः भाग कर उसमें एक भाग विद्यादान के लिए रखो, धर्म करने के लिए रखो, दो तीन भाग अपने समस्त खर्च के लिए रखो, एक दो भाग विवाह आदि समयों के लिए संचित रखो।

इस प्रकार के बंटवारे में जो भी भाग प्राप्त हो उसमें ही अपनी गुजर बसर करना, उससे अधिक भाग की इच्छा न करना यही गृहस्थी का तप है। गृहस्थी की तपस्या की मुख्य बात यह है कि दूसरों

के भोग को देखकर गृहस्थ ललचा न जावे। इन इच्छाओं का निरोध करने में गृहस्थ अपने अन्तर में ऐसी हिम्मत रखता है कि चाहे कैसी भी परिस्थिति आवे, चाहे सूखे चने ही खाकर गुजर करना पड़े, पर अपने धर्म को न छोड़ूंगा। अब यहां व्यवस्था बनाना कठिन है, वे बातें आ नहीं सकतीं। कभी वह जमाना था कि द्वार खोलकर भी कहीं चला जाय विश्वास के कारण तो सुगम व्यवस्था बनी रहती थी। फिर भी व्यवस्था में हम सच्चाई और ईमानदारी की अधिक से अधिक व्यवस्था करें तो लोकधर्म का पालन है। जब तक इच्छाओं का निरोध नहीं होता तब तक सच्चाई का पालन होना कठिन है। पर जिसका आत्मा से प्रेम है आत्मकल्याण से प्रेम है, ऐसा पुरुष अन्य तृष्णाओं की उपेक्षा कर देता है और अपने धर्म पालन में दृष्टि रखता है, मेरा पूरा तो मेरी आत्मा से ही पड़ेगा। फिर इस जीवन में आराम के लिए किसी भी प्रकार का अन्याय या अत्याचार करके, धन संचित कर लें, यह तुम्हारा विवेक नहीं है।

जैसे कोई संन्यासी था। प्राणायाम करके दो दिन तक संन्यासी के ही रूप में समाधि बना लेता था। एक बार राजा ने कहा कि महाराज, मेरे सामने समाधि लगावो। समाधि ठीक होगी तो मुंह मांगा इनाम दूंगा। संन्यासी ने समाधि लगायी। समाधि तो लगा ली, पर उससे पहले यह इच्छा आयी कि समाधि करके मैं राजा से पारितोषिक मांगूंगा। राजा के घुड़साल में एक घोड़ा बंधा था, उसके मन में आया कि मैं यह घोड़ा ही मांगूंगा। तो वह घोड़ा उसके हृदय में समा गया। समाधि छोड़ते ही एकदम बोला - अब लावो काला घोड़ा। तो भैया ! बताओ यह समाधि है क्या ?

अग्निना काञ्चनं यद्वत् तथ्यमानस्तपोऽग्निना।

शुद्धीभूय लभै स्वास्थ्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-३७॥

अर्थ— अग्नि के द्वारा सुवर्ण की तरह तप रूपी अग्नि के द्वारा तपता हुआ शुद्ध होकर स्वास्थ्य अर्थात् स्वकी सहज स्थिति को प्राप्त करूं और अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊं।

लोग दुःखों से घबड़ाते हैं, पर यह अनुभव करें कि मेरी प्रगति होगी तो इन दुःखों के प्रसाद से ही होगी। विषय भोगों के सुख के प्रसाद से किसी ने प्रगति नहीं की। संसार में ये दुःख और सुख एक के बाद एक लगे रहते हैं। कोई संसारी जीव ऐसा नहीं मिलता कि जिसको निरन्तर रात-दिन दुःखी ही दुःख रहते हों, और ऐसा भी कोई संसारी जीव नहीं मिला जो निरन्तर रात-दिन सुखी ही सुखी रहता हो। बीच में कितनी ही बार सुख आता है और कितनी ही बार दुःख आता है। इन सुख दुःखों में से देखा जाय हमारे उद्धार के कारणभूत दुःख तो हो जायेंगे, किन्तु ये विषय भोगों के सुख नहीं होंगे। इन इन्द्रिय जन्य सुखों से जो प्रीति करते हैं वे अपने ज्ञान को पहिले बिगाड़ लेते हैं। उनमें समता नहीं रहती, धैर्य नहीं रहता, शांति नहीं रहती। वे क्षुब्ध हो जाते हैं और विषय सुखों में ही लालायित हो जाते हैं, विषयांध बन जाते हैं, उनसे प्रगति किसी की नहीं। तो हम दुःख का तो स्वागत करें और सुख आता हो तो आवे और न आता हो तो न आवे, दुःख तो केवल कल्पना मात्र से ही आते हैं, बाहर के पदार्थों से दुःख नहीं आया करते हैं। जैसी परिणति है, उनसे क्लेश नहीं आते हैं। क्लेश तो अपनी

कल्पनाओं का जाल है। अपना ख्याल बनाते हैं और दुःखी हो रहे हैं। सो उन दुःखों को समता से सह लेना भी तप है। अंतरंग में इच्छाओं का न होना भी तप है। इस तपस्या के प्रसाद से, इस सहनशीलता के प्रसाद से यह आत्मदृष्टि होती है, आत्मा प्रबल होती है।

जैसे अग्नि के द्वारा तपाया गया सोना मैल छोड़ देता है, शुद्ध निर्मल हो जाता है इस प्रकार से तपों के द्वारा यह आत्मा शुद्ध हो जाता है। और शुद्ध होने का यह फल है कि यह जैसा है तैसा ही अपने स्वरूप में रह जाता है। इसी को कहते हैं परमस्वास्थ्य। स्वास्थ्य का अर्थ है कि स्व में रहकर आत्मा में ठहर जाये, रम जाने का नाम ही स्वास्थ्य है। शरीर के तन्दुरुस्त होने को स्वास्थ्य नहीं कहते हैं। ऐसा है कि आत्मा अगर स्वस्थ है तो शरीर भी स्वस्थ होता है। इस कारण शरीर की तन्दुरुस्ती को ही स्वास्थ्य नहीं कहते हैं, शुद्ध पुण्य का फल स्वयं स्वास्थ्य है। राम अपने आप सिद्ध हो जाते हैं। वे अपने से पर की परवाह नहीं करते। तो भैया ! अगर पर में उपयोग होगा तो आकुलतायें होंगी। हम यदि आकुलतायें न बनायें तो आनन्द मिलता है। हम अगर शुद्ध आनन्द चाहते हैं तो कर्मों की निर्जरा चाहिए। संसार के दुःखों से अगर मुक्ति चाहते हैं तो हमारा यह कर्तव्य है कि अपने सत्यस्वरूप को जानकर उसमें ही लीन हो जावें। जैसे कोई धन चाहता है तो जो धन की चर्चा है, जो धन पाने के सोर्स हैं उनको अपनाता है। जैसे कोई मिनिस्टर बन जाय, कोई राजा बन जाय, कोई कुछ बन जाय। उनसे इस तरह से धन पाने का उपाय बन सकता है। धन पाने का उपाय यह है कि पहिले धन के सोर्स को, मनुष्य को जानें उस राजा की श्रद्धा करें, हम उसकी रुचि के अनुकूल आचरण बनायें तो धन प्राप्त हो जाता है। इसी तरह जिसको अपनी आत्मा को प्राप्त करना हो तो आत्मा के ज्ञान से आत्मा की श्रद्धा करे और जैसा आत्मा का स्वरूप है तैसा ही अपने आपको बनाये तो निश्चय है कि आत्मसुख आत्मतत्त्व प्राप्त हो सकता है। इस स्वास्थ्य की ही वृद्धि से यह जीव आनन्दमग्न हो सकता है सो अपने आप में रमकर अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

विरागपरिणत्या में जायते कर्मणा क्षयः।

रागभिन्नमतो विन्दन्त्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-३८॥

अर्थ- मेरी विराग परिणति से कर्मों का क्षय अर्थात् पृथक् भवन स्वयम् हो जाता है इसलिये रागादि विभाव से भिन्न अपने को अनुभव करता हुआ मैं अपने द्वारा अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

कर्मों का संचय होता रागपरिणति से और कर्मों का विनाश होता है विरागपरिणति से। जो रागी है वह कर्मों में बंधता है, पर जो विरागी है वह कर्मों से छूटता है। कर्म एक पौद्गलिक चीज है। जैसे मुझ में रागद्वेष भाव होते हैं वैसे ही तत्काल कर्म मुझ में बंधते हैं। जब उनके उदय का समय आता है तो मुझ में आटोमेटिक रागद्वेष प्राप्त हो जाते हैं। श्रीसमयसार जी में श्री कुन्दकुन्दाचार्य जी कहते हैं कि जो रागद्वेष करते हैं वे कर्मों से बंध जाते हैं और जो वीतरागी होते हैं वे कर्मों से छूट जाते यहीं देख लो कि जो राग करता है वह बंध जाता है और जो वीरागी होता है वह मुक्त हो जाता है। राग न हो यही मुक्ति का कारण है। जितने भी दुःख हैं ते

ही प्राप्त होते हैं। रागी हैं और दुःखी हो रहे हैं। अधिक आय हो और दुःख बन जायें तो वहाँ भी यह दुःख राग का ही कारण है। भैया ! यदि राग है तो समझो विवाह बंधन में बंध गया। जिसके कोई राग नहीं है वह आनन्दमग्न है। यदि राग न हो तो दुःख समाप्त है। जो रागी व्यक्ति होता है वही कर्मों को इकट्ठा कर लेता है। मेरी विराग परिणति हो मायने ज्ञान दृष्टि रहे। ज्ञानदृष्टि के बिना आत्मशान्ति तो नहीं प्राप्त हो सकती।

एक सेठ सेठानी थे। सेठ कपड़े की दुकान वाला था, जिसे बजाज कहते हैं। सेठानी जरा गर्म मिजाज की थी और सेठ शांत था। जब सेठजी भोजन करने आते तो सेठानी भोजन के समय ही रोज चर्चा छेड़ देती थी, अमुक चीज अभी नहीं बनवाया, कान की कुण्डल, नाक की बाली और गले की माला इत्यादि सोने चांदी की चीजें नहीं बनवाई, बहुत दिन हो गए। रोज वही चर्चा छेड़ देती थी। एक दिन सेठ अटारी पर से कपड़े पहिनकर सीढ़ी से नीचे उतर रहा था। सेठानी ने क्रोध में क्या किया कि जो दाल का धोवन था उसको सेठ की पगड़ी के ऊपर डाल दिया। अब तो सेठ सेठानी से बोले कि गरजी तो बहुत थी पर बरसी आज हो। सेठ जी बड़े प्रेम से उत्तर देते हैं। शांति का यह प्रताप हुआ कि सेठानी सेठ के चरणों में गिर पड़ी और बोली कि तुम देवतास्वरूप हो, तुमको जो कुछ परेशान किया, माफ करो।

रागद्वेष मोह की जो विशेष परिणति है उस परिणति से मुक्ति नहीं मिलती, आनन्द नहीं प्राप्त होता, शांति नहीं प्राप्त होती है। विराग परिणति से कर्मों का क्षय होता है। तो रागों से भिन्न अपने आपको निरखकर अपने आत्मस्वरूप में रमण करो। राग छोड़ने का उपाय यह है कि आत्मस्वरूप का अनुभव करो कि मैं राग द्वेषों से भिन्न केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरी वाणी आदि कुछ नहीं हैं, मेरा ढांचा केवल ज्ञानस्वरूप है। ऐसा विलक्षण यह आत्मतत्त्व पदार्थ है कि वह सर्वत्र ज्ञान से ही रचा गया है। वह अज्ञान तो रागद्वेषों के रहने से है। अपने को रागद्वेषों से भिन्न अनुभव करो। देखो जितना कषाय उत्पन्न होता है वह अपने अज्ञान से अर्थात् अपने को और-और रूप मानने से होता है। मैं धनी हूँ, मैं त्यागी हूँ, मैं गांव का मुखिया हूँ, मैं अमुक हूँ, इस प्रकार की भिन्न-भिन्न कल्पनायें रहने से ही कषायभाव उत्पन्न होते हैं। उन कल्पनाओं के योग्य जब लोगों से व्यवहार नहीं पाते हैं तब उनमें गुस्सा आ जाता है और दूसरा कारण गुस्सा होने का क्या है? तो अपने आपको और और रूप मानना यही पाप का बीज है। अपने को यदि ज्ञानस्वरूप माने तो यही उत्थान है सो अपने आपको रागादिक भावों से भिन्न अनुभव कर ज्ञाता दृष्टामात्र रहकर अपने में अपने आप स्वयं सुखी होऊं। बाह्य पदार्थों में हठ करना तो क्लेश का ही कारण है। यह यों नहीं चलता, वह यों नहीं करता इत्यादि अनेक प्रकार के हठ करने से तो विपत्तियां ही आती हैं। अहंकार विपत्तियों का ही कारण है।

आप को एक चुटकले की बात सुनायें कि किसी घर में पति-पत्नी थे। पत्नी हठीली थी। प्रायः स्त्री जाति का स्वभाव ही हठ करना होता है। यद्यपि स्त्रियों की चलती नहीं है, पर उनका स्वभाव कुछ हठ करना होता है। एक दिन सास बहू का झगड़ा हो गया। बहू ने सोचा कि सास को कुछ मजा चखाना

सुख यहाँ द्वितीय भाग

चाहिए। सो पेट दर्द का बहाना करके बीमार बन गयी, अब वह उदास बन गयी हाय हाय करने लगी। सेठ गया, बोला— यह दर्द कैसे मिटेगा? सेठ ने बहुत कोशिश की, पर पेट का दर्द न मिटा। वह मिटे ही क्यों? वह तो बहाने का दर्द था। सेठानी ने कहा कि मुझे एक देवता बता गया है कि जो तुमसे प्रेम करता हो उसकी मां यदि सिर के बाल मुंडाकर और मुंह काला करके सुबह सूर्योदय तक देखने आये तो मेरा यह दर्द मिट सकता है, नहीं तो मर जाऊंगी। सेठ ने जल्दी ही सेठानी की चालाकी को समझ लिया। सेठ ने क्या किया कि अपनी ससुराल को झट पत्र लिख दिया कि तुम्हारी लड़की बीमार है। देवता ने ऐसा बताया है कि लड़की की मां यदि बाल मुंडाकर और मुंह काला करके सूर्योदय के पहिले आ जाय तो लड़की ठीक होगी, नहीं तो मर जायगी। जब तो लड़की की मां ने सिर मुंडा डाला, मुंह काला कर लिया और सवेरा होते ही वहां पहुंच गयी तो स्त्री अपने पति से कहती है कि 'देखो बीरबानी की चाले, सिर मुंडा और मुंह काले'। तो पति कहता है कि 'देखो मर्दों की फेरी, अम्मा मेरी कि तेरी।'

तो इस लोक में हठ से बड़ी मुंह की खाना पड़ता है। किसी बालक से भी हठ करो कि यह बालक मेरे आधीन है तो यह करना उचित नहीं है। सब जीवों को अपने समान स्वरूपी मानकर उनसे ही पूर्ण सद्व्यवहार रखना चाहिए, और परमार्थ से तो मैं शुद्ध ज्ञायकस्वरूप हूँ। मेरी आराधना चाहिए, यहां तो सब नाटक है। ये सब मायारूप है, यह मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूँ ऐसी अपनी उपासना रहनी चाहिए। जैसे भी बन सके तन, मन, धन, वचन से व्यवहार में दूसरे जीवों की सेवा करनी चाहिए। दूसरे जीवों की सेवा यह है जैसे कि वे दूसरों को समझावें कि मांस मदिरा वगैरा का प्रयोग न करें, जीवों की हत्या न करें। तो उन जीवों को प्राणघात से बचाना ही दूसरे जीवों की सेवा है। सो यदि कोई कहे कि मैं बलि करता हूँ यह धर्म है। तो भैया! वह कोरा भ्रम है। अरे धर्म नहीं है, वह अधर्म है। उसका त्याग करो, मांस मदिरा के प्रसंग में कोई आनन्द नहीं आता है। उनका त्याग करने से ही अपना भला है।

वाह्यं तपोऽपि नाशयाशया यस्मात्तपस्यसि।

आशानाशाय सेवैस्वं स्यां स्वस्मै स्वे सुखीं स्वयम्॥ ३-३६॥

अर्थ— जबकि वाह्य तप भी आशा के विनाश के लिये होता है तब तपस्या में भी आशा के अभाव के अर्थ निज आत्मा को सेऊँ और अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

यह जो दुनिया है यह कब से चली आ रही है, इस बात पर विचार करें तो अंत में यह बात निकलेगी कि यह दुनिया अनादि से चली आ रही है। क्योंकि यदि किसी दिन यह बनाई गयी है तो यह बतलाइए कि जिस दिन यह बनाई गयी है तो यह किस चीज से बनाई गयी थी? कुछ चीज तो पहले भी थी उसी का नाम संसार है। जैसे यह दुनिया अनादि से चली आ रही है तो दुनिया ही तो हम और आप कहलाते, हम और आप भी तो अनादि से चले आ रहे हैं। जिस जगत के जीवों को देख रहे हैं वे ऐसे ही पर्याय में रहते हुए चले आ रहे हैं। कभी यह जीव पशु बन गया, कभी पक्षी बन गया, कभी पेड़-पौधे बन गया और कभी जीव-जन्तु बन गया। आज यही जीव मनुष्य बन गया।

उन सब जीवों की अपेक्षा यह मनुष्य का जन्म कितना श्रेष्ठ है ? ये पशु-पक्षी बेचारे तो बोल भी नहीं सकते, एक दूसरे की बात भी नहीं समझ सकते । कहीं रोग हो जाए पेट में और दवा लोग करें मुंह में, दर्द तो उनके है पेट में और दवा करें मुंह में उनके मुंह को दागें तो वे बेचारे बोलकर अपने दर्द को नहीं बता सकते ।

इन कीड़े-मकौड़ों को तो पूछता ही कौन है ? चलते हुए में नजर से देखकर कौन चलता है ? इन कीड़े-मकौड़े इत्यादि से हम कितना श्रेष्ठ हैं ? इसका अंदाज तो लगाओ । हम अपनी बात दूसरों से कह सकते हैं, दूसरों के हृदय की बात हम समझ सकते हैं । इससे अधिक और बात क्या होगी कि हम धर्म की बात भी जानते हैं, करते और समझते हैं । यह श्रेष्ठ जीवन इसलिए नहीं मिला कि परिवार के मोह में पड़े रहें या अपनी इन्द्रियों के विषयभोगों में ही बने रहें, इसके लिए यह जीवन नहीं मिला । यदि ऐसा ही जीवन रहा तो पशुओं के जीवन से क्या अन्तर है ? पशु भोजन करते हैं, मनुष्य भी भोजन करते हैं, मनुष्य सोते हैं, मनुष्य विषयभोग करते हैं, पशु भी विषयभोग करते हैं, पशुओं को डर है तो मनुष्यों को भी डर है, पशुओं से मनुष्यों में श्रेष्ठ बात क्या आयी ? ये मनुष्य तो पशुओं से भी गये बीते हैं । पशुओं का अगर पेट भर जाता है, घास दो चाहे खाना, रख देंगे, खावेंगे नहीं । मनुष्य के तो तृष्णा हो जाती है । कितना भी मनुष्यों का पेट भरा हो, मिठाई, चटपटी वगैरा आ जाय तो तुरन्त खा लेंगे । चाहे तोला भर ही खावें, पर खा लेंगे । यह उन मनुष्यों की चर्चा चल रही है जो धर्म से बाहर हैं । निद्रा लेने में देखो तो पशु-पक्षी सब बहुत थोड़ी निद्रा लेते हैं । आप लोगों ने पशु पक्षियों को सोते हुए नहीं देखा होगा, जब देखो तब वे जगते हुए ही मिलते हैं । जहां पर जरा सी भी आहट न हो वहां पर जरा सी निद्रा लेते हुए पशु पक्षियों को देखा होगा । मनुष्य को तो नींद में खबर ही नहीं रहती है । चाहे जितना हल्ला मचावो वे जगते ही नहीं हैं । तो नींद में भी मनुष्यों से पशु-पक्षी ठीक हैं ।

विषयभोगों की बात देखो तो देखने, सुनने, सूंघने में देखो तो मनुष्यों के तृष्णा है कि नहीं ? विषयभोगों की बात देखो तो सालभर में १-२ बार ये पशु-पक्षी विषयभोग करते हैं और शांत हो जाते हैं । पर मनुष्यों को देखो बारहों महीने, न कोई पर्व समझते हैं, न रात, न दिन समझते हैं, कामवासनायें बनाए रहते हैं । अब यह बतलावो कि मनुष्य श्रेष्ठ हुआ कि पशु श्रेष्ठ हुए ? अभी तक तो पशु ही श्रेष्ठ मालूम हुए । अगर कोई मनुष्य धर्म से प्रीति करे, धर्म की ओर झुके तो उसकी श्रेष्ठता मालूम होगी । यह जीव अनादिकाल से कर्मों के बंधन में फंसा हुआ चला आ रहा है और साथ ही साथ कभी कुछ बना, कभी कुछ बना और अपने आपको दुःखी करता चला आ रहा है । यह जीव यदि सूकर बन गया तो उनके बच्चों से जिन्हें घिटला कहते हैं प्रेम करने लगता है । इसी प्रकार यह जीव गाय बन गया तो बछड़े से, पक्षी बन गया तो अंडों से, मनुष्य बन गया तो कुटुम्ब परिवार इत्यादि से, बच्चे बच्चियों से प्रेम करने लगा । इसका है कौन ? जिस भव में जाता है उससे संग से प्रेम करने लगता है । अगर इस भव से छूट गये तो फिर कौन किसकी खबर लेता है ? ये बच्चे भी छूट जायेंगे । आपने यह मनुष्य जीवन पाया है, थोड़े दिन का सम्बन्ध है, इस जीवन में यदि कुछ कर लिया कि जिससे कर्म कट जायें,

सुख यहाँ द्वितीय भाग

जिनसे संसार के क्लेश मिट जायें तो सफलता है और अगर इन इन्द्रियविषयों में ही लग रहे तो जीवन बेकार है। और भी देखो मनुष्यों को छोड़कर और जीव यदि विषयों में लगते हैं तो उनकी एक विषय में ही प्रवृत्ति होती है मुख्यता से। जैसे हाथी की मुख्यता होती है स्पर्शन इन्द्रिय के विषय से। विषय से हाथी पकड़ा जाता है। गड़ढे में बांस पाट करके शिकारी लोग ऊपर कागज की एक हथिनी बना देते हैं। जब हाथी जंगल से उस कागज की बनी हुई हथिनी को देखता है तो उसके पास आता है। जब उसके पास आता है तो बांसों के द्वारा पड़े हुए गड़ढे में गिर जाता है। फिर वे पकड़ने वाले ८-१० दिन बाद जब वह हाथी शिथिल हो जाता है तो उसमें गैल बनाकर अंकुश लेकर उसके सिर पर बैठकर निकाल लेते हैं। तो हाथी एक इन्द्रिय के विषय में आकर फंस गया, बन्धन में पड़ गया। दूसरे इन्द्रिय में रसना है जीभ। इस रसना इन्द्रिय में ही पड़कर मछलियां पकड़ी जाती हैं। इनके पकड़ने वाले कोई मांस वगैरा का टुकड़ा या कोई खाने के अनाज वगैरा की चीजें डालकर पकड़ लेते हैं। तो उन मछलियों ने प्राण गंवा दिए तो उस रसना से ही तो।

यह चर्चा हो रही है कि विषय से अपने प्राण गंवा देते हैं। भंवरा काठ को भेद देता है, पर गन्ध के लोभ में पड़कर कमल के फूल में रात को बन्द हो जाता है। देखो भंवरे में इतनी ताकत होते हुए भी वह मस्त होकर कमल के फूल में बंध जाता है। देखा होगा रात में पतंगे दीपक में जलकर मर जाते हैं। उन पतंगों को नेत्र इन्द्रिय का विषय तेज लगा, जिससे वे उस दीप की लौ को दूर से न देख सके, उस ही में पड़ गये। उनको वही लौ पसंद लगती है, उसी में ही वे जल जाते हैं। हिरन और सांपों को देखा होगा पकड़ने वाले बीन बजाकर और कई सुन्दर राग करके उनको वश में कर लेते हैं। ये जीव १-१ इन्द्रिय के वश होकर अपने प्राण गंवा देते हैं। पर-मनुष्य देखो यह पांचों इन्द्रियों के वश में पड़ा हुआ है। पंचेन्द्रिय के आधीन होकर यह मनुष्य अपना जीवन गंवा रहा है। उन्हें तो यह चाहिए कि वे धर्म करें, दया करें, प्रभु की भक्ति करें, तपस्या करें, संयम करें, ऐसा भाव बना लें जिससे कि वे कर्मों से मुक्त हों पर वे वैसे ही हैं जैसे कोई अंधा खजैला आदमी हो, भिखारी हो, उससे कहा जाय कि इस नगरी में चला जाय और मनमाना भर पेट भोजन करें। एक गांव में चारदीवारी घिरी थी, उस चार दीवारी में कुछ दरवाजे थे। वह उनका कोट पकड़ कर चलता है। जब दरवाजा आता है तब वह हाथ उठाकर सर खुजलाने लगता है और पैरों से चलना जारी रखता है। फिर हाथ रखकर चलने लगता है, आगे जब दरवाजा आ गया तब सर खुजलाने लगा। इस तरह से वह दुःख ही दुःख पाता रहा।

इसी तरह यह जीव ८४ लाख योनियों में भ्रमण कर रहा है। जब यह मनुष्यभवं आता है तो विषयभोग के खाज खुजलाने लगता है, उन विषयभोगों में ही मस्त हो जाता है। फिर छोटे परिणाम करके मर जाता है। इस तरह से जन्ममरण के चक्कर में पड़ा रहता है। इस संसार से छूटने के नाना अवसर आते हैं, पर मनुष्य उस समय असावधान हो जाता है। जो मनुष्य जन्म पाया है तो भीतर में ऐसा उपयोग बनाओ कि प्रभु की भक्ति में लग जाओ और व्यवहार से ऐसा चारित्र बनाओ कि अपने द्वारा कोई जीव दुःखी न हो सके। सब सुखी रहें, उनका दिल न दुखे, किसी की झूठी गवाही न दो,

झूठ न बोलो, कोई चीज चोरी से न हड़प जाओ, किसी मनुष्य पर बुरी दृष्टि न हो, अनावश्यक धनसंचय न किया जाय। यदि इस तरह का जीवन व्यतीत किया तो समझो कुछ काम किया।

अब तक बतलावो तुम्हारी उम्र इतनी हो गयी, नाना खेल देख लिया, किस किसका संयोग हुआ और किस-किस का वियोग हुआ, क्या-क्या रंग देखे ? इस जगत के सारे रंग देख लिए, समस्त नाच और रहस्यों को देख लिया। किसी से शान्ति मिली ? किसी से भी तो शान्ति नहीं मिली। जिसके पीछे मरे, उसने ही तुम्हें सताया। अपने से उनमें कुछ भी नहीं जाता और न तो कुछ उनसे अपने को मिलता ही है। तब फिर अपने एक स्वरूप को देखो। अपना स्वरूप प्रभु का ही स्वरूप है, ज्ञान पिंड है, आनन्दधन है, सबसे निराला है, ज्ञान ज्योतिर्मय है। जिसमें क्लेशों का नाम नहीं, जहां पर कोई आकुलतायें नहीं। आत्मकल्याणमय है, पूर्ण मंगलमय है। संच पूछो तो तुम्हारे लिए तुम ही हो और मेरे लिए मैं ही हूँ। ब्रह्म स्वरूप भगवान वह अन्यत्र नहीं है। मैं हूँ, स्वतः हूँ, स्वयं हूँ, ऐसा उपयोग बनाकर रागद्वेषों से कुछ अवकाश मिले तो अपने स्वरूप के दर्शन होंगे। सो भाई विषयों से विश्राम लो और अपने आपके स्वरूप में रमकर यथार्थ आत्मपरिचय पाओ। फिर जब प्रवृत्ति में आवो तो सब जीवों पर अच्छा व्यवहार करो। जो खोटी बातें हैं उनको छोड़ दो। इन कषायों से तो बरबादी ही है। क्रोध न करो, घमंड न करो, जितना हो सके इन विषयों से हटकर, ज्ञान के अर्जन में लगे, प्रभु की भक्ति में लगे। यही इस जीवन का सार है। ऐसा करके अपने जीवन को सफल बनाओ।

इस जीव को दुःख देने वाली एक आशा है। आशा अगर लगी है तो सारे क्लेश ही क्लेश हैं। आशा में क्लेश क्यों है ? यों कि क्लेश होते हैं कि आशा होती है दूसरी चीजों की। अपनी तो कोई आशा करता नहीं, मोही जीव अपने स्वरूप को जानता ही नहीं तो अपने स्वरूप की आशा ही क्या करे? अपने स्वरूप की आशा करें तो अपने स्वरूप को जल्दी पालें और अगर आशा मिट जाय तो क्लेश मिट जायें। बड़े-बड़े योग्य पुरुष जो ऋषिजन होते हैं उन्होंने अपने स्वरूप का ज्ञान किया और अपने ही स्वरूप की आशा की और इसी से ही सुखी हुए। परन्तु हम ये संसार के जीव अपना स्वरूप तो जानते नहीं सो पर की ही आशा कर रहे हैं और पर की आशा करने में दुःख यह होता है कि वह पर की चीज तुम्हारे आधीन नहीं। पर की चीज अगर तुम्हें मिल भी जाय तो तुम्हारे आधीन नहीं। जब हमारी परचीज नहीं रही और हम आशा रखते हैं तो दुःख होते हैं। यह तो अपने अनुभव की बात है कि जिसकी आशा करो और वह नहीं मिलती तो वहां दुःख होते हैं। ज्ञानी पुरुष वह है जो किसी की आशा न करे। जो आशा नहीं करता वही जगत में पूज्य होता है। और पूज्य की बात तो अलग है। वे अपने में बड़ी शान्ति रखते हैं। जो आशा रखते हैं वे निरन्तर दुःखी रहते हैं। सो ऋषि लोग किसी भी बाहरी चीज की आशा नहीं रखते हैं। आशा से बड़े दुःख होते हैं। सो सबको अनुभव होगा कि जिसने आशा की, वह दुःखी अवश्य हुआ होगा। ये योगी पुरुष बाहर में जो बड़ा तप करते हैं, पंचाग्नि तपते हैं, धूप सहते हैं, ठंड सहते हैं, उपवास करते हैं ये बाहरी तप किसलिए करते हैं आशा के नाश के लिए। उसमें भी यह दृष्टि उनकी रहती है कि यह आशा पिशाचिनी मुझ से दूर हो जाय। यह आशा पिशाचिनी बड़ी

सुख यहाँ द्वितीय भाग

भयंकर है जिसके पीछे लग जाती है उसे बरबाद कर देती है। इस जीव को मिलता तो कुछ है नहीं। यह तो दूसरों के लिए भार सहता है। जिनके लिए यह रात दिन परिश्रम करता है, उनसे कुछ मिलेगा नहीं। यह मेरा आत्मा तो ज्ञानमय है, आनन्द का पिंड है। मन की अशुद्धि की वजह से इसमें नाना विकार उठ रहे हैं सो तरंगें उठकर ये तरंगें ही हाथ लगेंगी। सो ये भी न रहेंगी, और और आयेंगी, चीजें कुछ नहीं मिल जायेंगी। जैसे जिसे जो चीज मिलती है, उसकी आत्मा भी उन चीजों से न्यारी है, उन चीजों में वह क्या तन्मय है? बताओ करोड़पति है, अरबपति है, पर धन उसका बाहर ही पड़ा है कि धन उसकी आत्मा में आ गया क्या? वे तो ज्यों की त्यों चीजें हैं, उनसे कुछ मिलता भी तो नहीं। केवल आशा करते हैं। आशा करने से ही इस जगत के जीव दुःखी हो रहे हैं। योगीजन जो कुछ करते हैं वे आशा के नाश के लिए करते हैं। ज्ञानी पुरुष जो कुछ भी करते हैं, वे आशा के नाश के लिए करते हैं। सो भैया! किसी भी काम में आशा न रखो।

जब तक आशा लगी है तब तक क्लेश हैं। जिस दिन आशा मिट जायगी, उस दिन क्लेश भी मिट जायेंगे। आजकल कभी किन्हीं के कानों में कोई भयंकर समाचार सुनाई दे तो वह दुःखी हो जाता है। क्यों दुःखी हो जाता है। क्यों दुःखी हो जाता है कि कोई आशा लगाये है सो बैठे-बैठे दुःखी हो रहे हैं उनकी आशा पर अगर पानी फिर जाय तो फिर दुःख काहे को हो। आशा से ही बाधा लगी उससे ही दुःख बनते हैं। उससे ही कष्ट बढ़ते हैं। उस आशा का पहले ही नाश कर दो। उस आशा को आप ही स्वयं समझ लो कि आशा एक विकार है, वह क्लेशों के लिए मिलती है। यदि आशा न रखें तो क्लेश न रह जायेंगे। सो भैया! पूजा करो, भक्ति करो, तपस्या करो, दान दो, कुछ भी धर्म के काम करो। उसमें आशा के नाश का लक्ष्य रखो। तुम भगवान की पूजा करो और कुछ आशा रखकर पूजा करने की भावना न करो। मेरे बच्चों को सुखी रखना, भगवान् मेरे बच्चों का पालन-पोषण करना, भगवान् मेरी गरीबी दूर हो इत्यादि आशायें रखने से भक्ति कहाँ रही? भगवान की भक्ति है कि पुत्रों की भक्ति है? यदि ऐसा होगा तो दुःख जरूर होगा और यदि ऐसा नहीं है तो दुःख काहे को होंगे? देखो आशा का कितना गहरा रंग इस मोही जीव पर चढ़ा हुआ है, जो भगवान् है, वीतराग है, सर्वज्ञ है, निर्दोष है, उन भगवान् की भक्ति करके भी आशा रखते हैं, तो कुछ भला नहीं होता है, फल नहीं मिलता है। फल तो तब मिलता है जब निष्कपट भक्ति होगी। यह तो कपट वाली भक्ति होगी। यह बात बहुत पते की कह रहा हूँ जिससे अपना सक्षात् भला होता है। परीक्षा करके देख लो। सब आशाओं को दूर कर दो तो आनन्द मिल जायगा। आशा को नहीं छोड़ते और आनन्द चाहते तो दोनों बातें तो हो ही नहीं सकती हैं। भगवान् को हम क्यों पूजते हैं कि वह सब आशाओं से दूर हैं गुरुवों को क्यों पूजते हैं कि वे सब आशाओं से दूर हैं। जिन भगवान् को हम पूजते हैं उनसे यदि हम आशायें ही आशायें, रखें तो जीवन में हम शुद्ध नहीं होंगे। मैं प्रभु की भक्ति करूँ तो आशाओं के नाश के लिए। भगवान् से कुछ मांगो तो यह मांगो कि हे प्रभु! कब ऐसा समय हो कि मेरे में रंच भी आशा न रहे, मैं किसी पदार्थ में आशा न लगाऊँ, यह मुझे वर दीजिए। ऐसी भगवान् की भक्ति की आवाज निकले, ऐसा वर यदि

नहीं मांगते हैं तो भगवान् भी विमुख हो जाता है। विषयों की इच्छा से भगवान् का प्रसाद नहीं मिलता है। अब यह देख लो कि किसी मित्र से मित्रता रखो और यदि उसको मालूम हो जाय कि यह स्वार्थ के कारण से मित्रता कर रहा है तो बतलावो क्या वह अव्वल में मित्र तुम्हारा हो सकेगा ? नहीं होगा। जब मित्र को यह मालूम हो जाये कि इस गरज से मेरे पास आया है तब क्या कुछ महत्व रहेगा ? कुछ भी तो महत्व नहीं रहेगा। यदि निष्कपट होकर प्रीति में आया है, ऐसा मालूम पड़े तो सच्चा मित्र बनेगा। भगवान् का प्रसाद तो हमें तब मिलेगा जब निष्कपट भाव से हमें भगवान् के पास पहुंचते हैं।

यहां तो ऐसी खुदगर्जी लगी होती है कि ये भगवान् की भक्ति में नहीं आते, कुछ न कुछ आशाएँ लगाकर आते हैं। प्रभु की भक्ति वह है, जिसमें आशा नहीं है। बिल्कुल जिसने आशाओं को त्याग करके भक्ति की, प्रभु मुझे कुछ नहीं चाहिए, केवल मुझे उपासना भक्ति आपकी चाहिए, आप में ही मेरा मन लगा रहे, आपके गुणों में ही मेरा चित्त रहे, ऐसा अगर भाव है तो मैं सुखी हो सकता हूँ। किन्हीं चीजों से मुझे लाभ नहीं है। हे प्रभु तुम्हारे दर्शन मुझे प्राप्त हों यही मेरी एक चाह है और मैं कुछ नहीं चाहता। ऐसी भक्ति हो तो कुछ पल्ले पड़ेगा, नहीं तो कुछ पल्ले नहीं पड़ सकता है। जैसे कहते हैं कि एक साधु को किसी गरीब आदमी ने आहार दिया। वह आदमी बड़ा ही संयमी था, सदाचारी था। आहार देने से उसके घर में रत्नों की वर्षा हुई। उसके पड़ोसी ने ऐसा सोचा कि साधु को दूसरे दिन हम भी आहार दें जिससे हमारे घर में भी रत्नों की वर्षा हो। भोजन बनाया, साधु को भोजन खिलाया और ऊपर को देखता है कि अब बरसे, पर कहां बरसे ? वहां तो आशा रखकर साधु को आहार कराया था। तो निष्कपट भाव से जो साधुओं की सेवा करे, उसका भला होता है। यदि आशा को छोड़ सको तो अपनी दया करके छोड़ने का यत्न करो और न छोड़ सके तो जो होता है वह होता ही रहता है। जब हम बच्चों की आशा करें, पोतों की आशा करें तो हम अपने ही क्लेशों को बढ़ाते हैं। अनुभव कर लो कि जीव बहुत हैं और सबकी मंशा है जुदा-जुदा, सबकी इच्छा है जुदा-जुदा, सबका कषाय है जुदा-जुदा, वे अपने-अपने कषाय से अपना-अपना खेल करेंगे। अपने-अपने सुख की ओर झुकेंगे। इतनी खुदगर्जी क्यों है, यों कि आशालिप्त हैं। ऐसी पिशाचिनी इस आशा को छोड़ी और अपने आप में झुको। तब तो कुछ मिलेगा, नहीं तो कुछ नहीं मिलेगा।

धर्म के काम करो और यह भाव रखो कि हे प्रभु! मेरी आशाओं का कब नाश होगा? तो किसी भी चीज की आशा नहीं करना चाहिए। सभी चीजें मिटने वाली हैं, लोग छीन लेंगे। यदि न छोड़ सकोगे तो मरने पर सब छूट जावेंगी। किसी पदार्थ की आशा न करो सो उस अपने आत्मस्वरूप की ही उपासना करो और आशा का नाश कर स्वयं सुखी होवो।

धर्म उद्धारकस्त्राता पावको बान्धवो गुरुः।

सोहं रागादिकं मुक्त्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-४०॥

अर्थ- धर्म आत्मा का उद्धारक है रक्षक है पवित्र करने वाला है बान्धव है और गुरु है सो वह धर्मस्वरूप में उद्धारकवाधक रागादि को छोड़कर अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

धर्म ही उद्धारक है, तुम्हारा उद्धार करने वाला धर्म है कि जिनके नाक बहती है ऐसे लड़के उद्धार कर देंगे? स्त्री, पुत्र, मित्र कौन उद्धार कर देंगे, कोई भी तो उद्धार नहीं करेगा, उनके सुख के लिए जिन्दगीभर परिश्रम करना ही बना रहेगा। वे कोई मेरा उद्धार न कर सकेंगे, बल्कि उद्धारके काम में विघ्न करेंगे। वे इधर-उधर कहेंगे कि पिताजी कुछ काम नहीं करते, जब देखो मन्दिर में ही बैठे रहते हैं। न पैसा कमाते हैं, न कुछ करते हैं। इस तरह से पतन के लिए ही सोचेंगे, उद्धार के लिए न सोचेंगे। अपना उद्धार करने वाला एक धर्म ही है और रक्षा करने वाला धर्म ही है, कोई दूसरा रक्षा नहीं कर देगा।

जब तक पुण्य का उदय है दसों आदमी अपने पीछे लगे रहते हैं और यदि पुण्य का उदय नहीं आता है तो कोई नहीं पूछता है। अच्छी तरह से रहो, धर्म से रहो तो अपना स्वरूप ही रक्षक है। यह मैं आत्मा स्वयं ही धर्मस्वरूप हूँ। धर्म मुझ से अलग नहीं है, मैं धर्म से मिला हुआ हूँ। मैं धर्मस्वरूप हूँ ज्ञानस्वरूप हूँ। धर्म स्वभाव को ही कहते हैं और स्वभाव है तुम्हारा ज्ञान। अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव करो यही धर्म है और यह धर्म ही हमारा रक्षक है। मुझे पवित्र करने वाला धर्म है और अन्य मुझे पवित्र कोई नहीं करता।

ये जो बड़े-बड़े समारोह होते हैं, बड़े गाजे-बाजे बजते हैं? वे सब पवित्रता के लिए बजते हैं कि अपवित्रता के लिए बजते हैं। ये गाजे-बाजे तो अपवित्रता के लिए ही बजते हैं।

कोई लड़का पैदा हुआ तो बाजे बजाते हैं। ये बाजे मोह में पड़ने के लिए ही तो बजते हैं। वे इसमें खुश होते हैं। खुश होकर ही तो बाजे बजवाते हैं। यह अपवित्रता ही तो है। विवाह शादी आदि के समय में बाजे बजवाना अपवित्रता ही तो है। वे अपवित्रता बनाने की तैयारी में खुश हैं। तो जितने ये समारोह होते हैं ये सब पापों के समारोह हैं। ये समारोह धर्म के नहीं होते हैं। ये पवित्र करने वाली चीजें नहीं हैं। ये सब लोक में फंसने की बातें हैं। ये आत्मा को पवित्रता में नहीं ले जायेंगे। आत्मा के पवित्र करने की तो धर्मपरिणति है। धर्म करना, पवित्र बनना, एक ही बात की रटन लगाओ कि मैं सबसे न्यारा हूँ, मेरा किसी से पूरा नहीं पड़ेगा, मैं अपने आप को देखूँ और अपने आपमें ही रमूँ यही मेरे सुधार का उपाय है। धर्म ही पवित्र करने वाली चीज है। तुम्हारा असली बन्धु कौन है? बड़ा भाई है अथवा छोटा भाई है, वह तुम्हारा असली भाई नहीं है। आप लोगों ने तो जमाने देख लिए। जो ४०-५० वर्ष की उम्र के भाई हैं वे एक परिवार में रहते हों ऐसा तो बहुत कम दिखता है। ऐसा तो आज शायद देखने को नहीं मिलेगा। तो फिर तुम्हारा बन्धु कोई नहीं है। जिनको अपना बन्धु मानते हैं वे भी अलग हो जाते हैं। वे बन्धु तो दगा देने के लिए हैं, नुकसान देने के लिए हैं, मौका पड़ने पर मतलब सिद्ध करने के लिए हैं। ये तुम्हारे असली बन्धु नहीं हैं। असली बन्धु तो तुम्हारा धर्म ही है। यह धर्म तुम्हें धोखा नहीं देगा। अपने परिणाम शुद्ध हों, क्षमा की भावना हो, अहंकार न हो, संतोष हो, ये सब हों तो आनन्द मिलता है, अपने प्रभु के दर्शन होते हैं, अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव होता है। धर्म धोखा नहीं देता है। तुम्हारा असली बन्धु धर्म ही है। तुम्हारा गुरु कौन है? दूसरे लोग लोकाचार में गुरु हैं। मेरा गुरु तो मैं ही हूँ क्योंकि मैं ही स्वयं आचार-विचार से रहूँ तो मुझे शान्ति मिलेगी, मोक्ष का मार्ग

मिलेगा। यदि विकल्प में हम दूसरे के आधीन हो गए तो समझो कि मुझे भूल हो गयी। इसलिए मेरा गुरु मैं ही हूँ। जब सूर्य का उदय होता है तो प्रकाश हो जाता है। रास्ता दिखने लगता है, किन्तु चलने वाले खुद चलें तभी रास्ता निकलेगा कि सूर्य चला देता है। सूर्य के चलाने से रास्ता कटता है ऐसा किसी को नहीं होता। सूर्य का काम है उजेला हो, आगे चलने वाला खुद चले। इसी तरह गुरुओं का काम है कि हित की बात कह दें, आगे चलना आप लोगों का काम है। केवल बात से तो आनन्द नहीं आता है। अब भोजन की बात मुख से खूब कह दें कि फलानी चीज यों बनायी जाती है, तो इससे क्या पेट भर गया? अरे पहले बनायें, फिर खायें तब पेट भरेगा। लोक में जो गुरुजन होते हैं वे हित की बातें बतला देते हैं। मैं उन बातों को अपनाकर चलूँ तब जीवन सफल हो सकता है। परमार्थ से मेरा गुरु कौन है? मेरा गुरु मैं ही हूँ। मैं ही इस लोक में मेरे को सर्वस्व हूँ। अब इन रागों को छोड़कर गुरुजनों की बातों को पकड़कर चलूँ, अपने ज्ञानस्वरूप को देखूँ और अपने में अपने आप सुखी होऊँ मेरा सुख मेरे ऊपर निर्भर है और मेरा दुःख मेरे ऊपर निर्भर है। कोई दूसरा मुझे सुखी-दुःखी नहीं कर सकता है। यदि मैं राग से हटकर ज्ञाता दृष्ट्या मात्र रहूँ, तो मैं ही अपने को कुछ बना सकूँगा। दूसरे मेरा कुछ नहीं कर सकते। दूसरा कोई मुझे गाली दे दे या कहीं धन का नाश हो जाय तो वहाँ भी दुःखी कर लेना अपने विकल्प के आधीन बात है। अरे यदि धनका नाश हो रहा है तो इससे मेरा क्या नुकसान हो रहा है? यदि किसी ने मुझे गाली दे दिया तो इससे मेरा क्या नुकसान हो गया? कुछ भी तो नुकसान नहीं हो गया। जो यहाँ पैदा हुआ वह यहाँ से जायगा जरूर तो फिर हमारा यहाँ क्या रहा? हमारा यहाँ कुछ भी तो नहीं रहा। सो रागादि को छोड़कर अपने आपके ज्ञानस्वरूप को देख कर स्वयं सुखी होऊँ।

धर्मवेशे न यात्रायां वंदनं न च मंदिरे।

धर्मे ज्ञप्तिमये तिष्ठन्त्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-४१॥

अर्थ- धर्म वेश में नहीं है यात्रा में वन्दना में और मंदिर में नहीं है अतः मैं तो ज्ञप्तिमय धर्म में ठहरता हुआ मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

धर्म भेष में नहीं है, भेष में धर्म नहीं है। यह बतलाया जा रहा है कि लंगोटी कंस लीजिए, गेरुवे कपड़े पहिन लीजिए, लंगोटी लगा लीजिए, हाथ में कमंडल ले लीजिए तो क्या इससे धर्म मिल जायगा? इन बातों से धर्म नहीं मिलता है। यह तो बाहर की बात है बल्कि धर्म की आशा से कोई ऐसा रूप बनाए तो उसको धर्म है ही नहीं क्योंकि उसने आशा बना रखी है, धर्म किसी भेष में नहीं मिलेगा, धर्म किसी यात्रा में नहीं मिलेगा। चलो शिखर जी, चलो हरिद्वार वहाँ धर्म मिलेगा ऐसी बात नहीं है। वहाँ पर धर्म बिखरता नहीं, केवल कल्पनायें ही कर लेते हैं। कितने ही पाप करते हैं, कहते हैं, हरिद्वार चले जायेंगे, गंगास्नान कर लेंगे तो पाप कट जायेंगे। ऐसा नहीं है। खूब पाप करते हैं कहते हैं ३-४ साल में गंगा स्नान कर लेंगे। तो सारे पाप धुल जायेंगे, ऐसा नहीं है।

धर्म किसी यात्रा में भी नहीं है, किसी तीर्थ स्थान में भी नहीं है। यहाँ वंदना करें, भगवान् की

भक्ति करें, मूर्ति के सामने रोज सर रगड़ें, इससे तो धर्म नहीं मिलता। तो धर्म किससे मिलता है? अभी बतला दूंगा। मस्तक नमा लेना तो शरीर की चेष्टायें हैं, इसमें धर्म नहीं है। धर्म मिलेगा कैसे, अब कहेंगे। क्या धर्म किसी मंदिर में मिलता है? मन्दिर में चले गए। मन्दिर के आगे सिर नमाकर बैठ गए तो इससे धर्म नहीं मिलेगा तो मन्दिर में भी धर्म नहीं है तो धर्म है क्या? धर्म है आत्मा का स्वभाव। आत्मा का स्वभाव है ज्ञान तो इस ज्ञानस्वरूप को पाकर उसी में ठहरे तो धर्म मिलेगा तो फिर मन्दिर में क्यों जाते हैं? मन्दिर एक धर्मस्थान है। वहां पर वीतराग सर्वज्ञता की मूर्ति विराजमान है। वह मूर्ति हमें शिक्षा देती है कि यदि शांति चाहते हो तो सारे नटखट झगड़े त्यागकर धर्म में लीन हो जायें। मूर्ति यह शिक्षा देती है कि कहीं मत जावो, एक स्थान पर स्थिर हो जावो, हाथ में हाथ रखकर मूर्ति यह उपदेश देती है कि कोई करने योग्य काम नहीं है। मूर्तिमुद्रा उपदेश देती है कि शान्ति चाहते हो तो आत्मा का ध्यान करो, आदर से भगवान की साधना करो। इतना करने से अपने ज्ञानस्वरूप का पता लगता है। यही व्यवहार से धर्म है। वास्तव में अपने आपको सम्भालना ही धर्म है। यहां तो लोग ऐसा करते हैं, कि मन्दिर में पहुंच गए ख्याल बनाए हुए, वहां बोलते हैं कि भगवान् हमें सुख दो। हे भगवान् फलाने का नाश कर दो तो अब यह बतलावो कि यह धर्म है कि अधर्म है। भले ही मन्दिर में हो। धर्म कोई चाहे तो मन्दिरमें बैठे-बैठे कर सकता है। धर्म की बात मिल सकती है। सब जीवों को एकस्वरूप चैतन्यमात्र देखो। सब जीवों को सुखी करने की भावना रखो। कोई भी जीव दुःखी न हो, ऐसा सबको प्रभु के समान निरखो तो धर्म मिलेगा। बाहर ही बाहर भटकते रहने से धर्म नहीं मिलेगा। आप कहें कि अभी कहा है कि वंदना पूजा में धर्म नहीं है, हां सो ठीक है। वंदना पूजा करके तो अपने ज्ञानस्वरूप की खबर आवे, प्रभु की याद आवे तो वंदना और पूजा धर्म हो जायेगा और यदि अपने ज्ञानस्वरूप का ख्याल नहीं, प्रभु की याद न आवे तो वंदना और पूजा ही कष्ट है। अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव हो तो धर्म मिलेगा। यात्रा में यात्रा स्वयं धर्म नहीं है। टिकट खरीदा, गाड़ी में बैठे, मुसाफिरों से भिड़े, कम से कम पैसों में पहुंच जायें तो ठीक हैं, यह सोचा। क्या अटपट सोचना कहना धर्म है? धर्म नहीं है। धर्म तो तब है यात्रा में जब प्रभु की भक्ति हो। वह प्रभु शान्त है, शुद्ध है, पवित्र है, उनकी महिमा कौन गा सकता है?

यदि प्रभु का स्मरण हो तो यात्रा भी धर्म है। अपने भगवान् का स्मरण रखना ही धर्म है। कहो कि भेष में धर्म क्यों नहीं तो भैया भेष बना लेने से ही धर्म नहीं। अगर घर में कुछ न हो फिर भी कहें कि हमने सब कुछ त्याग दिया यह धर्म नहीं है। अगर मात्र जानन बन गया तो यही त्याग है। धर्म त्याग में है। कितने ही लोग धर्म के नाम पर गांजा भी पीते पिलाते, भांग भी पीते पिलाते तो इससे धर्म नहीं मिलेगा। और भी करते हैं पर वे इसको धर्म ही मानते हैं। कुछ लोग यह मानते हैं कि मदिरा पीने में धर्म है, अफीम खाने में धर्म है। अरे ये काम धर्ममें नहीं होने चाहियें। ऐसा गृहस्थी को विवेक होना चाहिए समझना चाहिये कि साधु महाराज आप किस तरफ जा रहे हैं, धर्म के ध्यान में लगे। एक भूख ही ऐसी है जिसके बिना नहीं रहा जा सकता सो एक बार खा लो बाकी ध्यान करो। धर्म तो ज्ञान

में है। तो अपने उस ज्ञानस्वरूप में ठहरो और अपने में ही स्वयं सुखी होओ। तो भैया! धर्म ही रक्षक है, उस धर्म का ही स्मरण करो।

मोहक्षोभौ न यत्रस्तः स धर्मो वीतरागता।

सा मे परिणतिस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-४२॥

अर्थ— जहां पर मोह और क्षोभ नहीं है वह धर्म है वह वीतरागता है और वह वीतरागता मेरी परिणित है इसलिये मैं निजपरिणतिमय अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊं।

धर्म किसे कहते हैं? जिसमें मोह नहीं और क्षोभ नहीं उसे धर्म कहते हैं। मोह कहते हैं मिथ्यात्व को। किसी पर के साथ सम्बन्ध मानना इसीका नाम मोह है। जैसे मेरा पुत्र है, मेरा घर है, मेरी स्त्री है, जहां पर मेरापन का भाव हो उसे मोह कहते हैं। क्षोभ, रागद्वेष के कारण जो आकुलतायें मचीं हैं उनको क्षोभ कहते हैं। तो धर्म वह है जिसमें मोह और क्षोभ न हो। ऐसे भी लोग हैं जिन्हें मोह नहीं है, पर क्षोभ है। ऐसे भी लोगों को ज्ञानी कहते हैं। ज्ञानी को भी किसी किसी समय क्षोभ आ जाता है तो जितने अंश में क्षोभ है वह धर्म नहीं है, मोह तो धर्म है ही नहीं। धर्म तो वीतरागता का नाम है। जहां पर वीतरागता हो वहां पर मोह और क्षोभ कैसे? शान्ति तो अपनी सत्य ज्ञानदृष्टि पर है। यहां जो चीजें अपनी नहीं हैं उन्हें अपनी माना, यह तो बहुत बड़ा पाप है। ऐसे पाप करते हुए भी कलेश न हों, यह कैसे हो सकता है? सब जुदा जुदा जीव हैं, जुदा जुदा बातें हैं, जुदे जुदे परिणमन हैं और फिर भीतर में यह मानते कि मेरा सब कुछ है। यह मानना तो बड़ा पाप है। असद्व्यवहार से किसी जीव को सता लिया जाय, किसी का किसीसे घात हो जाय, हत्या हो जाय तो उसे मानते हैं कि बड़ा पाप किया। कोई किसीका घात कर दे उसे कहते हैं बड़ा पाप है। जीव घात करने से भी बड़ा पाप है। मोह परवस्तु को भीतर में समझ लें कि यह मेरी है, यह सबसे बड़ा पाप है। घर में रहते हो, धर्म की बात मानते हो, पूजा करते जीवन गुजार रहे हो और आप मान रहे हैं कि हम सही मार्ग में हैं, मोक्षमार्ग में हैं, भगवान् की सेवा पूजा करते हैं, यहां हम शुद्ध मार्ग में हैं। पर भीतर यंह टटोलो कि तुम्हारे अन्दर यह परिणाम है कि नहीं यह मेरा घर है यह मेरी स्त्री है, यह मेरा पुत्र है, यह मेरी ही तो देह है, यह देह ही तो मैं हूँ, इस तरह पादर्थों में आत्मबुद्धि आती है, तो यह बहुत बड़ा पाप है। महसूस नहीं कर रहे हैं, अपने घर में बैठे हैं, आनन्द से बैठे हैं, कुत्ता, बिल्ली पर दया करें, पर अपने आप पर दया न करे तो विवेक तो न रहा। चूहे को बचा दिया, बिल्ली को बचा दिया और यह समझ लिया कि हम बड़े धर्मात्मा हैं। लालटेन जलने पर कीड़े आते हों और छिपकली कीड़ों को खाने आती हो तो उन कीड़ों को बचा दिया, मान लिया अच्छा यदि यह करते हो तो ठीक है, मगर यह चाह न करो कि हम स्वर्ग जायेंगे। यह न चाह करो कि हम अच्छी ही गति में जायेंगे, ऐसी आशा न रखो। आशा ऐसी रखो जिससे भीतर में मोह परिणाम न हो। कुत्तों पर दया करो, बिल्लियों पर दया करो, यह तो ठीक है। पर परमार्थ दया वह कहलाती है कि मोह न हो। ज्ञान सही आ जाय यही तो आत्मा की दया है। जब तक ज्ञान सही नहीं आ जाता सम्यग्दर्शन नहीं होता है। कितने ही व्रत कर लो, तप कर लो, संयम कर लो, मुनि

भी दो जगहों पर यही ज्ञान जब तक नहीं आयेगा तब तक अच्छा फल नहीं मिलेगा। इसलिए सबसे बड़ा पाप मोह है। यह मोह न रहे तो उसे धर्म कहते हैं और यह बतलावो मोह किस चीज का करते हो? तुम्हारी चीज हो तो मोह करो। ये चीजें तुम्हारी हैं क्या? बतलावो। यह हमारा घर है, अरे अगर मान लो सरकार छीन ले तो अगर कोई जबरदस्ती छीनना चाहे उसे दे दो तो या न ले ठीक-ठीक रहे तो मरोगे तब तो छोड़ना ही पड़ेगा। तो फिर कोई वश नहीं चलता। फिर तुम्हारे घर, पुत्र, स्त्री आदि कैसे हुए? बतलावो। उन सबके लिए ही चाकरी कर रहे हो, स्त्री पुत्रों की सेवा कर रहे हो। मरे जा रहे हैं, पर स्त्री, पुत्र, परिवार की सेवा कर रहे हैं। उनके पुण्य का उदय है इसलिए कमाने वाले टट्टू से जोते जा रहे हैं। और उनसे ही आशा कर रहे हैं। तो इससे हटें तो अच्छे हो जायें। यदि हम सही हो जायें तो ठीक है। और यदि नहीं हुए तो हमें मोह होगा। मोह ही सबसे बड़ा पाप है। दुनिया में इस शरीर के द्वारा जितने भी पाप होते हैं सब मोह के ही पाप हैं। ये मोह बड़े सस्ते लग रहे हैं, खूब चिपक रहे हैं, लिपटा रहे हैं, पर इस मोह के कारण दुनिया में अहंकार है। जिसमें मोह और क्षोभ नहीं होता है उसे धर्म कहते हैं और वह धर्म वीतरागता है। सो ऐसा मेरा स्वभाव हो कि मैं वीतरागी, बेन जाऊं, केवल ज्ञानपरिणमन रहूँ, तो मेरा जीवन सफल हो सकता है, मेरी ही तो वह परिणति है। इस कारण मैं अपने ज्ञानस्वरूप को ही देखूँ मैं ज्ञान और आनन्द से ही रचा गया हूँ, ज्ञान और आनन्द का पुञ्ज हूँ अर्थात् मेरे में और कुछ नहीं भरा है। मेरे में न रूप है, न रस है, न गंध है, न स्पर्श है। मैं तो केवल ज्ञान और आनन्द से भरा हूँ। सो मैं अपने ज्ञानमय तत्व को देखूँ और स्वयं सुखी होऊँ।

लोके रिक्तं न तत्स्थानमनन्ता जन्ममृत्यवः।

नाभूवन् यत्र किं रज्ये स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-४३॥

अर्थ— लोक में ऐसा स्थान कोई खाली नहीं है जहाँ पर्याय बुद्धि होते हुए मेरे अनन्त जन्म मरण न हुए हों।

बस अब क्या राग करूँ ? मैं तो अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ।

यह कैसा मोह अपने में आ गया है कि जन्म मरण के चक्कर यह जीव काटता चला आ रहा है। इस दुनिया में ऐसा कोई प्रदेश नहीं बचा जिसमें इस जीव ने जन्म न लिया हो और मरण न किया हो। एक भी जगह नहीं बची जहाँ पर इस जीव ने जन्म न लिया हो। अनन्त बार इस जीव ने जन्म लिया और अनन्त बार मरण किया। जिस जगह इस जीव ने जन्म लिया, वहाँ भी इस जीव ने राग किया। अच्छा बताओ, राग किया कि नहीं किया। फिर भी पेट राग करके नहीं भरा, रागों से तृप्ति नहीं हुई। इस समागम में क्या तृप्ति हो जायगी ? क्या मन भर जायगा ? नहीं। तो असलियत पहिचान लो घर में रहते हुए विरागी बनो। राग से लाभ नहीं है। इसलिए राग रहित अपने को देखो। कहां राग करते हो ? यह लोक कितना बड़ा है? मन्दिर में कहीं-कहीं लोक के नक्शे बने रहते हैं? ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। ये सब लोक ३४३ घन राजू प्रमाण है। कहते हैं, रूस, जर्मनी, जापान, ब्रिटिश ये समस्त भरतक्षेत्र की एक थोड़ी सी जगह में है। भरत क्षेत्र में यह पूरी दुनिया नहीं है। भरतक्षेत्र के ५ हिस्से हैं। उसमें एक आर्यखंड है, उसकी थोड़ी जगह में ये वर्तमान अवगत सारी दुनिया हो-तो-भरतक्षेत्र कितना

बड़ा है? जम्बूद्वीप इत्यादि असंख्य बड़े द्वीप हैं। कोई जगह नहीं बची जिसमें इस जीव ने जन्म न लिया हो, मरण न किया हो। और जब जन्म लिया था तो जैसा समागम मिला था वैसे ही उसी परिवार में झुक गए थे। और उन जीवों में बार बार राग करते रहे। इसी तरह वर्तमान में भी रागद्वेषों में ही सारी जिन्दगी गुजार दी, कुछ भी चीजें हाथ में नहीं रहीं। धर्म नहीं किया, मोह राग ही सदा किया। यह तो इस जीव ने अच्छा नहीं किया। हां धर्म में दृष्टि दे दो तो कुछ चीज साथ में रह जायेगी और अगर धर्म न किया तो कोई भी चीज साथ में नहीं रहेगी। धर्म साथ में रख लेने की चीज है कि परिवार कुटुम्ब इत्यादि में रागद्वेष मोह करना ठीक है? यह मेरा पुत्र है, यह मेरी स्त्री है आदि। अरे ये सब मिट जाने वाली चीजें हैं। तो जो मिट जाने वाली चीजें हैं उनसे तो प्रीति करते और जो अपनी चीज है, जिस पर अपना अधिकार है उससे प्रीति नहीं करते। रात दिन चौबीस घण्टे यह व्यर्थ में ही तो जा रहे हैं। कमाई में कितना समय लगता है, दुकानमें समय लगता है थोड़ा ही तो, और बाकी समय गप्पों में ही तो जाता है। इधर उधर की बातचीतों में ही तो जाता है। धर्म में दृष्टि हो तो जीव को कुछ पुण्य भी हो जाय, नहीं तो जैसे अनन्तों भव गुजर गये तैसे ही यह भव भी गुजर जायगा। तो भैया राग मत करो। इन रागों को छोड़कर रागों से रहित अपने स्वभाव को देखकर अपने आप में ही तृप्त होकर सुखी होओ। परकी आशा न रखो।

लोकं कृतवान् कोपीमं हरिष्यत्यपि नो तथा।

अमरोऽहमजन्माहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-४४॥

अर्थ— किसी ने भी इस लोक को नहीं किया तथा कोई इस लोक को न नष्ट करेगा यहां मैं तो अमर और अजन्मा हूँ इसलिये अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

हम क्या हैं? इस बात पर विचार करें। हम एक चेतन पदार्थ हैं। हमको किसने कभी बनाया था क्या? किसी ने नहीं बनाया था? बनाया था तो किन चीजों से बनाया था? हम अनादि से हैं और जो प्रभु की शक्ति है, चैतन्यस्वरूप है वह भी अनादि से है। इस अपने स्वरूप को ही प्रभु कहते हैं। यदि अपने स्वरूप को देख लो तो प्रभु के दर्शन हो गए। इस मुझको किसी ने कुछ नहीं किया। मैं तो अजर अमर हूँ, मैं तो अजन्मा हूँ, न मेरा कभी जन्म हुआ और न मरण हुआ। जैसा मैं हूँ, तैसे ही जगत के सब जीव हैं। जैसे मेरा जन्म मरण नहीं है तैसे ही सब जीवों का जन्ममरण नहीं है। मुझे किसी ने नहीं बनाया। मैं अनादि से हूँ। मेरा कोई अन्त नहीं है। फिर यही तो लोग कहते हैं। जीवों को, समुदाय पुद्गलों को, ६ द्रव्यों को ही लोग समुदाय कहते हैं। तो इस लोक में मुझे किसीने नहीं बनाया और न मेरा कभी नाश हो सकेगा। तीन काल में मैं कभी नष्ट नहीं हूँगा, सदा बना रहूँगा। मैं कैसा बना रहूँगा? अपने परिणाम की बात है। यदि हम छोटे परिणाम करेंगे तो छोटे ही बने रहेंगे और यदि अच्छे परिणाम करेंगे फिर तो अच्छे ही बने रहेंगे। मुझको न तो किसी ने बनाया और न कोई मिटायेगा। मैं अपने ही परिणामन में रहता हूँ। तो जो मेरी दशायें मिटती हैं वे मिटने की चीज हैं और जो दशायें बनती हैं वे बनने की चीज हैं। पर मैं जो हूँ वह अजन्मा हूँ। इस मुझको किसी ने नहीं बनाया और न कोई

सुख यहाँ द्वितीय भाग

मिटावेगा। जब मैं कभी मिटूंगा नहीं तो यदि इस संसार में रहे तो ये दशायें बनी ही रहेंगी। अब तुम्हें क्या मंजूर है ? इस संसार के गर्त में भ्रमण करना मंजूर है या केवल ज्ञाता दृष्टा रहना मंजूर है। संसार में भ्रमण करना स्वीकार न करो। संसार में भ्रमण करना यदि नहीं चाहते हो तो ऐसा उपयोग होना चाहिए कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ। मैं उस प्रभु की ही उपासना करूँ इस जगत् में कोई शरण नहीं है। मेरा इस जगत् में कोई शरण नहीं है। मेरा इस जगत् में कोई साथी नहीं है। तो भैया! सबकी प्रीति छोड़कर अपने आपको देखो, अपने प्रभु के देखने के अतिरिक्त तेरा कोई काम ही नहीं है। ऐसा विचार रखो कि मैं परिपूर्ण हूँ, अछूता हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा यदि उपयोग रहे तो दुःख नहीं होते हैं। गुरुओं के सत्संग से, गुरुओं की आध्यात्मिक वाणी से शुद्ध ज्ञान बनता है। शुद्ध ज्ञान होने से ही जीवन सफल है यदि मोहदृष्टि रहे तो ऐसा जीवन पशु के समान है और ऐसा जीवन पाने से कोई लाभ नहीं है।

लोके द्रव्याण्यनेकानि वर्तन्ते किन्तु वै निजे।

अहन्तां कि पुनः कुर्यां स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-४५॥

अर्थ- लोक में द्रव्य अनेक हैं किन्तु निश्चय से तो निज ही में हूँ फिर क्या-क्या अहंकार करूँ मैं तो अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

इस लोक में पदार्थ कितने हैं ? कितनी चीजें आंखों से देखने में आती हैं ? कितनी चीजें दुनिया के अन्दर हैं ? (किसी ने कहा असंख्य) और असंख्य नहीं, अनन्त हैं। असंख्य उसे कहते हैं जिसकी गिनती तो नहीं है, मगर आखिरी जरूर है। अनन्त उसे कहते हैं, जिसमें आखिरी भी नहीं होती है, तो इस लोक में पदार्थ अनन्त हैं। जैसे चौकी देख रहे हो तो यह एक पदार्थ है कि अनन्त पदार्थ ? अनन्त है, एक पदार्थ नहीं है। एक तो उतनी चीज होती है जिसके टुकड़े नहीं होते हैं और चौकी वगैरा के तो टुकड़े हो जाते हैं, यह वैज्ञानिक सत्य है। जो यूनिट है, अविभाज्य है, वह एक कहलाती है। यह शरीर एक पदार्थ नहीं है, किन्तु परमाणु एक पदार्थ है, जो अविभाज्य हो जिसके टुकड़े न हों वह एक कहलाता है। ऐसा अविभाज्य एक परमाणु है। यह शरीर एक पदार्थ नहीं है, किन्तु अनेक परमाणुओं का पिंड स्कन्ध है। यह शरीर अनन्त परमाणुओं के समूह द्वारा बना है। यह शरीर एक नहीं, अनन्त है। यह टूटता नहीं अनन्त है बल्कि बिखरता है। जैसे अंगुली टूटी नहीं, बल्कि बिखर गयी। अनन्त थी और अलग अलग हो गई। यह शरीर एक नहीं, बल्कि अनन्त परमाणुओं का पुञ्ज है, समुदाय है सो यह टूट टूटकर, चूर चूर, होकर छोटे छोटे अंश बन जाता है, बिखर जाता है। एक चीज वह कहलाती है, जिसका दूसरा टुकड़ा न हो सके। जैसे भौतिक में एक-एक परमाणु है, और जीवों में एक-एक जीव है। हम और आपका सबका एक-एक स्वतन्त्र जीव है इसके अंश नहीं हो सकते। वह तो पूरा का पूरा ही रहेगा। एक चीज वह कहलाती है, जिसका दूसरा अंश न हो सके। तो परमाणु अनन्त हैं और जीव अनन्त हैं। हर एक जीव एक है, यों सब अनन्त हैं। सबका अस्तित्व न्यारा-न्यारा है, सबका अनुभव न्यारा-न्यारा है, सबकी परिणति न्यारी-न्यारी है। इस कारण जीव अनन्त हैं, पर जाति अपेक्षा जीव एक है। जितने जीव हैं, वे सब चैतन्यस्वरूप हैं, सबका एकसा स्वरूप है। इसलिए जाति अपेक्षा एक है, पर

अनुभूति की अपेक्षा, परिणति की अपेक्षा अनन्त हैं। जैसे दो मन गेहूँ भर रखा तो बतलावो गेहूँ, एक है कि अनेक है, मगर जाति अपेक्षा एक है, गेहूँ की जाति एक समान है। इसलिए गेहूँ एक है और अनेक भी है। इसी तरह जीव एक है और अनेक भी हैं। इसी तरह लोक में देखो तो द्रव्य अनन्तानन्त हैं। किन्तु वे हैं सब अपने-अपने ही स्वरूप में। किसी द्रव्य के स्वरूप में किसी दूसरे द्रव्य का प्रवेश नहीं है।

जैसे एक गिलास में पावभर दूध और पावभर पानी मिला हुआ हो तो दोनों के मिले होने पर भी दूध के स्वरूप में दूध है और पानी के स्वरूप में पानी है। न तो दूध का पानी बन गया और न पानी का दूध बन गया। दूध में जो रस है, स्वाद है, दूध की जो परिणति है, वह दूध में है पानी में नहीं। तो दूध जुदा और पानी जुदा है। एक गिलास में एक आधा सेर पानी है तो पानी एक समान है। पानी का एक एक कण ले तो वह एक समान है। एक-एक बूंद ले तो एक समान है। फिर भी प्रत्येक कण अपने-अपने स्वरूप में है। किसी बूंद में दूसरा बूंद मिला हुआ न मिलेगा। ऊपर से तो मिलेगा, मगर स्वरूप देखें, करेक्टरिस्टिक (गुण) देखो तो किसी कण का स्वरूप दूसरे कण के स्वरूप में न आवेगा, ये पानी की बात है। ऐसी ही बात देह में देखो तो अनन्त परमाणु हैं, प्रत्येक परमाणु अपने अपने स्वरूप में है। किसी परमाणु में दूसरे परमाणु का स्वरूप नहीं है तो एक का यदि दूसरे में स्वरूप आ जाय तो अनेक नहीं रहेंगे एक हो जायगा। फिर तो सर्व सर्वात्मक होगा, किन्तु ऐसा तो नहीं है। सर्व सर्वात्मक होने के मायने कोई भी कुछ न रहा और है सो सब। सबकी भिन्न प्रकृति है, भिन्न-भिन्न अस्तित्व है। इसलिए सिद्ध है कि जगत् में जीव अनेक हैं, जगत में और सब अलग-अलग रहते हैं तो मैं अपने स्वरूप में हूँ। दूसरे अपने ही स्वरूप में रहे, न उनमें मैं गया और न मुझमें वे आये, फिर मैं अहंकार किसलिए करूँ कि मैं तो यही हूँ ऐसा अहंकार क्यों हो जबकि वस्तु का स्वरूप अलग-अलग है। इसलिए अहंकार न करो, अपने स्वरूप को अपने आप में देखो। जगत में कितना ही भाग लो, दौड़ लो, उसमें शान्ति न मिलेगी। इस लोक में ही देख लो जो राजा महाराजा लोग ऐश आराम में रहते थे विषयों में रहते थे, मदिरा-पान करते, वेश्या इत्यादि से नृत्य कराते थे, उनको देख लो सब खत्म हो गए और और भी सोच लो, जो बड़े बड़े लोगों के लड़के होते हैं, उनमें जो व्यसनों से जकड़े होते हैं, वे कुछ ही दिनों में बरबाद हो जाते हैं। धन का विनाश व्यसनों से ही होता है, क्योंकि व्यसन है तो खोटी परिणति ही, इस खोटी परिणति से ही अपने को बिगाड़ लेते हैं। इन व्यसनों का मूल है मोह। तो यह चीज दोपहर में भी कही थी कि सबसे बड़ा पाप है मोह। मोह कितना बड़ा पाप है? ये शिकारी लोग जो जीवहत्या करते हैं वे इस मोह से ही करते हैं इसलिए वे तो पापी हैं ही, मगर उसमें भी भेद करो तो जीव हनन से भी अधिक पाप मोह ही है, मोह का परिणाम पाप ही है। मोह में तो भीतर अंधेरा ही रहता है। वह और कोई ज्ञान का काम नहीं करने देता है। सो जो अहंकार है वह मोह की ही तो बात है। इस मोह को बाहर कर अपने स्वरूप को देखो और अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होवो।

अक्षि पूर्णत्वसज्जातिध्यादि दुर्लभवस्तुनि ।

प्राप्ते लाभो यदि स्वस्थः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३-४६॥

अर्थ— इन्द्रियों की पूर्णता, उत्तमजाति बुद्धि आदि दुर्लभ वस्तु के प्राप्त होने पर लाभ तब माना जावे जबकि मैं स्वस्थ होऊँ इसलिये अब स्वस्थ होता हुआ मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

पहिले तो इस जगत् से जीवों में दृष्टि पसारकर देखो तो कितनी ही तरह की स्थिति के जीव पाये जाते हैं। कोई जीव पृथ्वी कायिक है, कोई जलकायिक है तो कोई अग्निकायिक तो कोई वायुकायिक है, कोई वनस्पतिकायिक है, कोई अनेक इन्द्रियों वाला है। यह जो अग्नि जलती है वह भी एक जीव है। कोई तो पेड़ रूप है, कीड़े-मकोड़े रूप है, कोई जीव पशुपक्षी रूप है, कोई देवतारूप, कोई मनुष्यरूप है। जीवों की स्थितियाँ अनेक हैं। उनमें सबसे निम्न श्रेणी एक इन्द्रिय जीव की है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति तथा इस वनस्पति का एक भेद निगोद भी है। इन जीवों की स्थिति सबसे निम्न है। उनके जीभ भी नहीं है, मन भी नहीं है, वे सोच भी नहीं सकते, वे असहाय हैं, अंग-उपांग भी नहीं हैं, वे चल भी नहीं सकते।

ऐसे एक इन्द्रिय वाले जीव सबसे अधिक निम्न हैं। यदि कुछ इनका विकास हुआ तो दो इन्द्रिय वाले हो गए तो एक इन्द्रिय से छूटकर दो इन्द्रिय बन जाना दुर्लभ है कि नहीं। दो इन्द्रिय के जीव बन गए तो उससे अधिक जब विकास किया तो तीन इन्द्रिय के जीव बन गए। जिनके स्पर्शन, रसना और घ्राण हैं, ऐसे तीन इन्द्रिय के जीव बन गए। दो इन्द्रिय से तीन इन्द्रिय में आना कठिन है। तीन इन्द्रिय से विकास करने पर चार इन्द्रिय में जीव जाते हैं जिनके आंख भी हो, कान न हों, जैसे मक्खी, मच्छर आदि। यह होना उससे भी अधिक दुर्लभ है फिर पांच इन्द्रियां आयीं उनमें भी असंझी हुए तो मोक्षमार्ग नहीं चल सकता। पंचेन्द्रिय में भी मन का पाना दुर्लभ है। मन वाले बने, मनुष्य बने और मनुष्य बनकर भी सब इन्द्रिय सही रहें, चेतना युक्त रहे तो इन्द्रियोंकी पूर्णता पाना यह उससे भी अधिक दुर्लभ है। इन्द्रियां भी पूर्ण हों और जाति भी उच्च न हो तो भी कोई श्रेष्ठ नहीं, उच्च जाति में जन्म हो जाय, उच्च परम्परा हो, उत्तम रीति रिवाज हो ऐसी जगह भी पाना दुर्लभ है और उच्च जाति में भी जन्म ले लिया मगर बुद्धि न ठीक हुई तो बेकार सो बुद्धि का मिलना दुर्लभ है मान लो इन्द्रियां भी हैं, जाति कुल भी अच्छा मिल गया, पर बुद्धि नहीं है तो बेकार है न सब।

जैसे किसी-किसी रईस के लड़कों को देखो तो वे बाहर से तो सुन्दर लगते हैं, मगर उनसे बात करके देखो तो स्पष्ट बेवकूफ नजर आते हैं। ऊपर से चाहे कोट हो, पैन्ट हो, बूट हो और ऊपर से एक टोप रखे हो, मगर उनसे जरा बात करके देखो तो वे अटपट बातें करते हैं। तो पाचों इन्द्रियां पा जाना, अच्छी जाति, कुल पा जाना हुआ, फिर भी विवेक न जागा तो यह जिन्दगी उनकी बेकार है कि नहीं बतलावो? बेकार है। ऊंची जाति भी मिल गई, सब कुछ मिल गया, बुद्धि भी मिल गई, किन्तु उसका उपयोग न किया याने उनमें बुद्धि कार्यान्वित करने की सुमति न हो तो भी बेकार है। धर्म-सच न हो तो यह और सब भी बेकार है। धर्म का प्रसंग भी पा लिया, फिर भी यह जीव अपने स्वरूप में स्थित

नहीं होता तो यह पायी हुई चीज भी व्यर्थ है। दुर्लभ वस्तु पाने का प्रयोजन यह था कि यह आत्मा अपने स्वरूप में स्थित है और आनन्दपुञ्ज अपने आपके स्वरूप में तृप्त होकर कर्मों का क्षय कर ले, कर्मों से छूटने का उपाय बना लें, इसलिए दुर्लभ वस्तु प्राप्त हुई थी। सभी समागम पाया और पाने पर भी स्वस्थ न हो सके तो सब व्यर्थ है। लाभ तो तब है जब स्वस्थ हो जाऊँ, स्वस्थ होकर यथार्थ ज्ञान पाऊँ और वैसा ही ज्ञान करता रहूँ। यदि ऐसा हो जाय तो स्वयं में अपने में अपने लिए अपने आप सुखी हो सकता है। सुख दूसरे के आधीन नहीं है। कोई दूसरा मुझे सुखी दुःखी कर दे यह हो ही नहीं सकता है। यह आत्मा ही सारे वैभवपूर्ण हैं। पर ख्याल उल्टा बना लिया और दुःखी हो गये। यह जीव ख्याल बनाकर ही दुःखी हो जाता है। जैसे कोई रईस गद्दों पर पड़ा हुआ है, नौकर चाकर काम कर रहे हैं, लड़के काम अपना-अपना कर रहे हैं। किन्तु अभी कोई दुःख का ख्याल बना ले, लड़का मेरी बात नहीं मानता, इसने ऐसा काम नहीं किया तो इतने से ही दुःखी हो गए। सो दुःखी होना किसी दूसरे के आधीन नहीं है, दुःखी होना तो अपनी कल्पनाओं के ही आधीन है। सो अपनी कल्पनायें आकुलतायें मिटाओ और अपने आप में सुखी होवो।

आत्मयाथात्म्य विज्ञानं दुर्लभादपि दुर्लभम्।

लभै रमै च तत्रैव स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-४७॥

अर्थ— आत्मा के यथार्थ स्वरूप का बोध दुर्लभ से भी दुर्लभ है मैं तो उस आत्मज्ञान को प्राप्त करूँ और आत्मा में ही रमण करूँ और अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

दुनिया में अनेक पदार्थ दुर्लभ हैं, पर सबसे अधिक दुर्लभ चीज अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान करना है। यही सबसे दुर्लभ चीज है।

“धन, कन, कंचन, राज सुख सबहि सुलभ कर जान।

दुर्लभ है संसार में एक यथार्थ ज्ञान।”

धन, कन, कंचन आदि मिलना तो संसार में सुगम है पर आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होना कठिन है, सही ज्ञान हो जाना यही दुर्लभ चीज है। देखो आत्मा स्वयं प्रकाशवान चीज है, फिर उसको ढूँढने के लिए प्रकाश की जरूरत पड़े, ऐसा क्या हो सकता है ? जलती हुई लालटेन को उठाने के लिए दूसरी जलती हुई लालटेन की आवश्यकता नहीं। किसी ने कहा कि कमरे में लालटेन जल रही है उसे उठा लावो। सो कहे कोई कि दूसरी लालटेन जलती हुई दे दो तो हम उठा लावें। अरे जलती हुई लालटेन की क्या आवश्यकता है ? कोई आवश्यकता नहीं है। यत्न करने की जरूरत नहीं थी। यहां तो स्वयं ज्ञान की बात ज्ञान के द्वारा आना चाहिए थी, पर यहां अंधेर मच गयी। यह अंधेर मोह से, अज्ञान से मची हुई है। अभी देखो कोई मनुष्य जो बड़ा बुद्धिमान है। उसकी बुद्धि हर विषय में बहुत अच्छी चलती है। किसी प्रकार का कषाय आ जाय तो फिर उसकी बुद्धि नहीं बढ़ती, उसकी बुद्धि रुक जाती है। जैसे कि वकील विपक्षी को गुस्सा दिलाया जाय। गुस्सा आ जाने पर विपक्षी ठीक बयान नहीं कर पाता है। उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, पतित हो जाती है। यह बुद्धि मोह रागद्वेषसे खराब होती है।

सुख यहाँ द्वितीय भाग

यदि व्यवस्था रहे बुद्धिकी तो यही सबसे बड़ा वैभव है। सबसे बड़ी चीज क्या है दुनियामें? सबसे बड़ी चीज है आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान करना वह दुर्लभ से भी दुर्लभ है। किन्तु ये स्वयं अपने में मुड़ते नहीं हैं, इसलिए दुर्लभ है। अपने स्वरूप की ओर दृष्टि दें तो इससे सुगम और कुछ नहीं है। यह तो सुगम है, प्राप्त ही है। निकट की बात क्या है? अंतर में ऐसी दृष्टि नहीं है। सुगम होते हुए भी दुर्लभ है जैसे मुट्ठी में कोई चीज हो, जैसे अंगूठी या और कोई मूल्यवान चीज हो और उस चीज को भूल जाये तो वह चीज कितनी दूर हो गयी? अरे वह तो बिल्कुल ही दूर हो गयी। अब पेटियों में ढूँढते हैं, पर नहीं मिलती है। जिस चीज को ढूँढते हैं वह है मुट्ठी में, पर कितनी दूर हो गयी? अप्राप्य हो गई। वह बहुत दूर हो गई, अप्राप्य हो गई। कहीं बक्स खोलते, कहीं बिस्तर खोलते। दूसरे दिन दाहिने हाथ से संदूक खोलते थे, अब बायें हाथ से खोलते हैं, दाहिने हाथ में चीज बांधे हैं। न मिलने पर दुःख हो रहा है। देखो है मुट्ठी में ही, पास में ही, पर भूल जाने पर वह चीज कितनी दूर हो जाती है? इसी तरह यह आत्मा कैसी है और बाहर है क्या? निकट है क्या? और निकट की बात क्या, खुद ही तो शान्तिमय है, आनन्दस्वरूप है, मगर खुद को भूल गए तो यह आत्मा कितना दूर हो गया?

बहुत दूर हो गया, खुद और दूर। अरे यह कितने आश्चर्य की बात है कि आत्मा है खुद और दूर हो गई, कितनी अधिक दूर हो गई, अप्राप्य भी हो गई। तो आत्मा का ज्ञान होना बहुत दुर्लभ चीज है। सबसे बड़ी भारी विपत्ति यह है कि मिले हुए सारे पदार्थ समाप्त हो जायेंगे सबका वियोग हो जायगा। कुछ भी हमारा आपका नहीं है। मगर यह आत्म स्वरूप मेरा है, आपका है, यह तो कभी मिटेगा नहीं। यह तो सदा रहेगा, इस निजस्वरूप का ज्ञान न करके यह जीव कितना भटक रहा है, जन्म मरण करता यह जीव चला जा रहा है? अपने आत्मस्वरूप का बोध न होने से ही यहां भटकना पड़ रहा है। तो अब समझ लीजिए कि सबसे दुर्लभ चीज क्या है? आत्मा के स्वरूप का ज्ञान होना ही दुर्लभ चीज है। चित्त क्षुब्ध है, आकुलतायें करते हैं और दुःखी होते हैं, देश पर आक्रमण की बात सुनकर कितना दुःख सबको होता है, समाज की, घर की बातों को सुनकर कितना दुःख हो जाता है? इस सारी दुनिया के सारे क्लेश मिट जायें ऐसी इसकी कोई पेटेन्ट औषधि है? सारे क्लेशों को दूर करने की औषधि ज्ञान है। अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होना ही सारे क्लेशों को दूर करने की दवा है। जैसे अमृतधारा चला है वह १०० रोगों की दवा है। पेट दर्द, सिर दर्द तथा अन्य दर्दों के लिए यह अमृतधारा दवा चली है तो जैसे अमृतधारा बन गया है। उसी प्रकार दुःखों को मिटाने के लिए अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होना एक परमार्थ दवा है। भारी क्लेश हो रहे हों, जरासा अपने स्वरूप की ओर झुको, अपने ज्ञानस्वरूप में डुबकी लगा लो तो सारे क्लेश दूर हो जायें। जैसे बड़े समुद्रों में मछलियां होती हैं। एक-एक, दो-दो मील की लम्बी तो लोग समझते हैं कि यह कोई टापू है, उसमें बड़ी-बड़ी घास उग जाती है, उस पर बड़ी-बड़ी सेनायें बस जाती हैं। उस मछली पर बहुत बड़ा बोझ आ जाता है, बोझ आ जाने से क्लेश आ जाते हैं। उसमें क्लेश के मिटने की कुंजी यह है कि वह नीचे डूब जाय। तो इस जीव को संकट दूर करने का क्या उपाय है कि वह अपने ज्ञान के समुद्र में डूब जाय। उन सब संकटों को मिटाने की

दवा यह है कि वह अपने को समझे कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। ये सब मुझसे अत्यन्त जुड़े हैं। कोई कैसे परिणमता है, कोई कैसे ? इन सबकी उपेक्षा कर लो, अपने ज्ञान की प्रतीति कर लो, अपने आप में डूब लो और फिर अपने सारे दुःख समाप्त कर लो। जैसे किसी घर में इष्ट का वियोग होगा तो समझाने वाले लोग सबको समझाते हैं, तो यही कहेंगे कि वे भिन्न थे, वे आये थे और चले गए। इसलिए समझाते हैं कि उनसे उपेक्षा हो जाय और बात ज्ञान की आ जाय। अपने आपको अकेला अनुभव कर सकें तो वे सुखी हो जायें। ऐसे हों तो एक यह ही उपाय है कि आत्मा का सच्चा ज्ञान हो और आत्मा में ही रगड़ा करके उसमें ही तृप्त होकर ही दुःख दूर करने का उपाय करें।

यस्य ज्ञायक-भावस्य स्वस्य वित्तिं विना जगत्।

ज्ञातं व्यर्थं हितं ज्ञात्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥३-४८॥

अर्थ— जिस ज्ञायक भाव स्वरूप स्वके ज्ञान के बिना जाना हुआ समस्त जगत् भी व्यर्थ है इसलिये हित को जान कर मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

यह आत्मा स्वयं ज्ञायकस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है याने ज्ञान ही इसका सारस्वरूप है। सबसे विलक्षण यह ज्ञानमय पदार्थ है। इसी को ही ज्ञायकभाव कहते हैं। आत्मा के अन्दर कौन सी चीज है ? यदि ऐसा पूछा जाय तो क्या उत्तर दोगे ? आत्मा में रूप है कि रस है, ईंट है, पत्थर है, सो बतलावो। आत्मा में क्या मिलेगा ? आत्मा में मिलेगा केवल ज्ञान। जो जानकारी है जो ज्ञान है सोई आत्मा है। ऐसा जो मात्र ज्ञानस्वरूप आत्मा है उसको यदि न जाना तो, इस मर्म में न पहुँचो तो सारा जगत् भी जान डालें, दुनिया भर समझ डालें तो भी वह सारी समझ व्यर्थ है। एक अपने आत्मा के स्वरूप का ज्ञान किया तो ज्ञान सफल है और यदि एक ज्ञान ही आत्मा में नहीं आता तो सारे लोक को जानता रहे तो वह सारा जानना बेकार है। अब यह जीव या हम और आप अपने आपको इस रूप में देखें कि यह मैं केवल ज्ञान ज्योति रूप हूँ। शरीर का भी भान न रखना, शरीर में भी दृष्टि न रखना, केवल ज्ञान ही ज्ञान का प्रकाश अपने में नजर आवे और ज्ञानरूप ही अपने को जानता रहे तो उस समय से आत्मा की सच्ची जानकारी होती है। हम और कुछ अपने को जानें तो सत्य जानकारी नहीं कर सकते। यही बात प्रभु की है, भगवान की है। भगवान को यदि स्वच्छ असीम ज्ञानरूप देखो तो प्रभु के दर्शन हुए समझो और प्रभु को यदि और और रूप वाला देखो, हाथ पैर वाला है, घर में रहने वाला है, अमुक का लड़का है, अमुक का पिता है और कई रूपों में देखो तो प्रभु का अनुभव न होगा, प्रभु का ज्ञान न होगा। प्रभु का ज्ञान और अनुभव उसको ही होगा जो अपने आप के ज्ञानस्वरूप को ही देखे। मेरा ज्ञान असीम है, सारे विश्व को जानने के स्वभाव वाला है। सो असीम, सर्व ज्ञाता के रूप में अपने स्वरूप को देखो, ज्ञान को ज्ञान से जानो तो प्रभु के स्वरूप का पता पड़ेगा। प्रभु को और और रूपों में देखने से प्रभु का दर्शन न होगा। यही बात अपनी हैं। हम अपने को केवल ज्ञान ज्योति रूप देखें, ज्ञानमात्र अपने आपको अनुभव करें, कोई विकल्प न हों, कोई क्लेश न हों, कोई आकुलतायें न हों वह आनन्दमय है। अपने आपका अनुभव आनन्दमय ही होता है। अपने ज्ञानस्वरूप का ज्ञान किए बिना यह सारा लोक

भी जान जायें, बड़े-बड़े आविष्कारों को जान जायें, जिन्हें कहते हैं बड़ी कलायें हैं, ऐसी बड़ी कलाओं को भी जान जायें, पर एक ज्ञानस्वरूप का अनुभव न किया तो वह सारा जानना व्यर्थ है। ऐसा समझकर ज्ञानमय जो अपना स्वरूप है उस स्वरूप को अनुभवें और अपने को ही आप स्वयं ही देखें। यह चीज स्वयं की है, प्रिय भी है। गृहस्थावस्था में दसों राग करने पड़ते हैं, पुत्रों की याद रखना पड़ता है, धन कमाने की भी कोशिश करना होता है। सब कुछ करते हुए भी अपने स्वरूप का सही भान रहे तो उसे आकुलतायें नहीं सतातीं। कितनी ही विपदायें आ जायें अपने आपके स्वरूप को देखो, अपने को सारे झंझटों से न्यारा, शुद्धमात्र केवल ज्ञानरूप, ऐसा अपने आपको सबसे जुदा विश्वास से लखो, उसमें ही ये संकट दूर हो जाते हैं। ये प्रभु के दर्शन भी किसलिए किए जाते हैं? अपने आपको शुद्ध मार्ग मिले, मुझे क्या करना चाहिए, इन बातों के लिए प्रभु के दर्शन किए जाते हैं। मोह की बुद्धि करने का तो यह फल है कि जब प्रवृत्ति उन मोहों में होती है तभी क्लेश प्राप्त होते हैं। प्रभु ने क्या किया था कि अपने आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जाना था और जानकर इस ही उपयोग में लग गये थे। विषयों से, मोह से जुदा हो गये थे और इसी ब्रह्मस्वरूप में रत होकर वे मोक्ष पधारे थे। ऐसा विश्वास निरन्तर रहना चाहिए कि ऐसा कर सके तो ठीक है। तो इससे ही आत्मा झंझटों से परे हो जाती है। इसलिए आत्मा के ज्ञानस्वरूप को ही देखकर सुखी होऊं।

॥ सुख यहां का द्वितीय भाग समाप्त ॥

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के कतिपय महत्वपूर्ण प्रकाशन

क्रम	ग्रन्थ का नाम	लागत (रुपयों में)	क्रम	ग्रन्थ का नाम	लागत (रुपयों में)
१.	आत्मसम्बोधन	१०	५०.	आत्मकीर्तन प्रवचन	५
२.	सहजानन्द गीता	५	५१.	सहजपरमात्मतत्त्व प्रवचन	३
३.	अध्यात्मसहस्री	१०	५२.	सिद्धभक्ति	५
४.	सहजानन्द डायरी १९५६	५	५३.	शांति भक्ति	३
५.	भागवत धर्म	८	५४.	पंचगुरुभक्ति	३
६.	समयसार दृष्टान्तमर्म	२	५५.	इष्टोपदेश	(प्रेस में)
७.	मनोहर पद्यावली प्रथम व द्वितीय भाग	३	५६.	पंचास्तिकाय प्रवचन सैट	२६
८.	आत्मकीर्तन अर्थ हिन्दी ई०	१	५७.	पुरुषार्थसिद्धयुग्माय	२०
९.	वास्तविकता हिन्दी ई०	१	५८.	अध्यात्म सहस्री सैट	६०
१०.	सामायिक पाठ	१	५९.	परमानन्दस्तोत्र	३
११.	अध्यात्मसूत्र मूल	१	६०.	स्वरूप सम्बोधन	५
१२.	एकीभाव स्तोत्र	१	६१.	पात्रकेशरीस्तोत्र	५
१३.	कल्याणमन्दिर स्तोत्र	१	६२.	द्वात्रिंशतिका	५
१४.	विषाणहार स्तोत्र	१	६३.	बृहत्सव्यंभू स्तोत्र	५
१५.	स्वानुभव	१	६४.	रत्न करण्ड श्रावकाचार	२५
१६.	धर्म	१	६५.	मंगलतन्त्र प्रवचन	३
१७.	आत्म-उपासना	१	६६.	परमात्म आरती प्रवचन	३
१८.	समयसार महिमा	१	६७.	मोक्षशास्त्र प्रवचन	१००
१९.	अध्यात्मरत्नत्रयी	२	६८.	सरल अध्यात्मिक प्रवचन	१२
२०.	समयसार एकसूत्र पूर्ववर्ग	१	६९.	सहजानन्द वस्तु-तथ्य प्रवचन	७
२१.	सहजानन्द वाणी	१०	७०.	सह० विहार पौरुष प्रवचन	७
२२.	समाधितन्त्र सत्तात्पर्य	३	७१.	दर्शनपाहुड	३
२३.	अध्यात्मभावना	१	७२.	सूत्रपाहुड	३
२४.	मंगलतन्त्र सार्थ	१	७३.	चारित्र्य पाहुड	५
२५.	आत्मपरिचयन	२२	७४.	लिंगपाहुड	२
२६.	अध्यात्म सूत्र प्रवचन	५	७५.	शीलपाहुड	३
२७.	सह० ज्ञानामृत	२	७६.	भावपाहुड	४०
२८.	सह० वास्तव्य	३	७७.	मोक्ष पाहुड	२५
२९.	वस्तुविज्ञानतन्त्र	२	७८.	परीक्षामुखसूत्र प्रवचन (८ पुस्तकों का सैट)	
३०.	अविरुद्ध निर्णय	१		प्रमेय कमल मार्तण्ड पर विद्वत्तापूर्ण प्रवचन	४०
३१.	आत्महिंसा	२	७९.	आप्त परीक्षा	७
३२.	आत्मशत्रु	२	८०.	आप्त मीमांसा प्रवचन (अष्ट सहस्री पर प्रवचन ६ पुस्तकों का सैट)	३०
३३.	कारण-कार्य-विधान	१	८१.	सप्तभंगतरंगिणी प्रवचन	५
३४.	समयसार सप्तदशांगी टीका	५०	८२.	पंचाध्यायी प्रवचन (छः पुस्तकों का सैट)	३०
३५.	प्रवचनसार सप्तदशांगी टीका	(प्रेस में)	८३.	युक्त्यनुशासन	५
३६.	एकीभाव-स्तोत्र प्रवचन	६	८४.	समस्थानसूत्र सार्थ प्रथम स्कन्ध	२
३७.	धर्म प्रवचन (दश धर्मों पर मार्मिक विवेचन)	१०	८५.	सहजानन्द साहित्य ज्योति	१६
३८.	प्रवचनसार प्रवचन १-२ भाग (गाथा १ से ५२)	१५	८६.	शिशु धर्मबोध	२
३९.	प्रवचनसार प्रवचन ३-५ भाग (गाथा ५३ से ११४)	१५	८७.	धर्मबोध	३
४०.	प्रवचनसार प्रवचन ६-११ भाग	(प्रेस में)	८८.	छहदाला टीका	४
४१.	देवपूजा प्रवचन	६	८९.	तत्त्वार्थ सूत्र संक्षिप्त टीका	१०
४२.	श्रावक षट्कर्म प्रवचन	४	९०.	लघु जीवस्थान चर्चा	३
४३.	प्रवचनसार प्रवचन सैट	६०	९१.	गुणस्थान दर्पण	३
४४.	परमात्म प्रकाश भाग १	६	९२.	लघु कर्मस्थान चर्चा	३
४५.	सुख यहाँ	८०	९३.	कर्मक्षपणदर्पण	२
४६.	भक्तमरस्तोत्र प्रवचन	५	९४.	नयचक्र प्रकाश	१
४७.	कष्टों से कैसे छूटें	२	९५.	द्रव्यसंग्रह प्रश्नोत्तरी टीका	२०
४८.	सरल दार्शनिक प्रवचन	२	९६.	अध्यात्मसिद्धान्त	३
४९.	ज्ञानार्णव प्रवचन सैट	६३	९७.	ज्ञान और विज्ञान	२